श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागरजी द्वारा विरचित

श्रावकधर्म प्रदीप

सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर
जैन संस्थान,
वाराणसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला १,२
रजत जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागरजी द्वारा विरचित

श्रावकधर्मप्रदीप

संस्कृत व हिन्दी टीकाकार
सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी
फोन नं० : ०५४२-३१४०९८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थमाला-सम्पादक

प्रो० उदयचन्द्र जैन,
जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य
पूर्व रीडर, जैन-बौद्धदर्शन, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० राजाराम जैन
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह०दा०जैन कालेज आरा

© श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी।

ISBN - 81-86957-16-2

वीर नि० सं० २५२४
१९९७

तृतीय संस्करण
मूल्य : [redacted] रु० 120/-
९

कम्पोजिंग
सरिता कम्प्यूटर्स
डी० ५६/४८ ए,
औरंगाबाद, वाराणसी
फोन नं० : ३५९५२१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Shree Ganeshvarni Jain Granthmala 1.2
Silver Jubilee Year's Publication

Shri 108 Acharya KunthuSagar's

SHRAVAK DHARM PRADEEP

Sanskrit & Hindi Commentator

Sidhantacharya Pandit Jaganmohan Lal Shastri

Published By :

Shree Ganesh Varni Digamber Jain Sansthan

Varanasi - 221005
Phone - 0542-314098

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Granthmala Editors :

Prof. Udaya Chandra Jain
Jain, Boudh, Sarv-Darshanacharya,
Ex. Reader jain Boudh Darshan Department
Sanskrit Vidya & Dharm Vigyan Sankaya
B.H.U., Varanasi.

Dr. Rajaram Jain
Ex-Profesor & Head, Sanskrit-Prakrit Department
H.D. Jain College Arrah (Bihar).

© Shree Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan, Varanasi-5.

ISBN - 81-86957-16-2

Vir Nirvan Samvat - 2524
1997

Third Editon.

Price : Rs. 60.00

Composing By :

Sarita Computers
D. 56/48 A. Arunghabad, Varanasi
Ph. No. : 359521

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

जैनधर्म सभी समस्याओं का मूल ममत्व या मोह को मानता है और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए त्याग के अभ्यास पर जोर देता है। जैन-श्रावकों में दैनन्दिन अभ्यास के रूप में अनेक प्रकार के त्यागों का प्रचलन हैं वह मात्र रूढ़िगत नहीं, वरन् साधनापद्धति का अनिवार्य अंग है। साधना दो प्रकार की है। पहली संवर (संयम) रूप है। इसके अन्तर्गत जीवन को इस प्रकार अनुशासित करना जिससे नये दोष न आने पाये। दूसरा निर्जरा रूप है, जिसका अर्थ है संचित दुर्बलताओं, दोषों को दूर करने का उपाय। साधक के लिए दोनों प्रकार का अभ्यास आवश्यक है। एक ओर उसे अपना जीवन इतना संयत और अनुशासित बनाना चाहिए कि कोई दुर्बलता या असावधानी उसके पास न आने पाये। दूसरी ओर ऐसे अभ्यास में प्रवृत्त होते रहना चाहिए जिससे वैराग्य की भावना तथा आत्म-परिणामों में उत्तरोत्तर दृढ़ता एवं शुद्धता होती जाये।

'श्रावकधर्मप्रदीप' श्रावकाचार से सम्बन्धित ऐसी ही महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें आत्मा के उत्तरोत्तर विकास के लिए शास्त्रों में उल्लिखित ग्यारह प्रतिमाओं का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य पं०जगन्मोहनलालजी शास्त्री को अपने पूज्य पिता स्व०बाबा गोकुलप्रसादजी वर्णी से जो धार्मिक संस्कार विरासत में प्राप्त हुए उनमें क्रमशः दृढ़ता आती गई और ७० वर्षों की दीर्घावधि में उन्होंने व्रती-जीवन का सफल निर्वाह किया। इस अनूठी दृढ़ता व साधना का प्रमुख कारण साधुओं का सान्निध्य भी रहा और इस प्रकार उनकी जीवन-शैली मात्र विद्वत्तापूर्ण ही नहीं हुई, वरन् व्रताचरण में वे जीवन्त आदर्श पुरुष सिद्ध हुए। उनकी समाधि-साधना की उपलब्धि भावी पीढ़ी के लिए प्रकाशस्तम्भ स्वरूप है।

संस्थान द्वारा श्रावकधर्म प्रदीप के द्वितीय संस्करण की समाप्ति विषयक सूचना पाकर तत्काल उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री अमरचन्द्रजी जैन ने तृतीय संस्करण के पुनर्मुद्रण हेतु समुचित राशि के प्रबन्धन में प्रवृत्त हुए और स०सि०कन्हैयालाल रतन चन्द जैन शिक्षा ट्रस्ट को प्रेरित किया। प्रसन्नता की बात है कि सवाई सिंघई धन्यकुमार जी जैन कटनी, जो पूज्य वर्णीजी के अनन्य भक्त, संस्थान के संस्थापक सहयोगी और अध्यक्ष रहे हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड की जैन समाज के चतुर्मुखी विकास के लिए अपेक्षित मार्गदर्शन किया है, उनके पूर्वजों द्वारा स्थापित विभिन्न ट्रस्ट आज भी उनके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुपुत्र श्री प्रसन्नकुमार जैन के कुशल निर्देशन में उदात्त परम्पराओं का निर्वाह कर रहे हैं। उन्हीं ट्रस्टों में से प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में स०सि० कन्हैयालाल रतनचन्द जैन शिक्षा ट्रस्ट, कटनी (म०प्र०) द्वारा २१०००/- प्राप्त हुए हैं। अतः संस्थान परिवार ट्रस्ट एवं उसके संचालकों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता है, साथ ही भावना भाता है कि उनके सुयोग्य पुत्र सिंघई प्रसन्नकुमारजी जैन और उनके भ्रातृगण इसी प्रकार अहर्निश धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में सहयोग करते रहें।

प्रस्तुत संस्करण के टीकाकार श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री का परिचय श्री विजय कुमार भारतीय, कटनी ने लिखने की कृपा की है, अतः हम उनके हृदय से आभारी हैं। संस्थान के पूर्व मन्त्री डॉ० कमलेश कुमार जैन एवं प्रो० अशोक कुमार जैन, मन्त्री को भी धन्यवाद देता हूँ जिनके सक्रिय सहयोग से यह संस्करण इस रूप में प्रकाशित हुआ है।

संस्थान के शुभचिन्तक बड़े भैया श्रीमान् अमरचन्द्रजी जैन (सतना) की प्रेरणा से संस्थान को निरन्तर आर्थिक सहयोग प्राप्त होता रहता है। प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में भी उनकी सक्रिय भूमिका एवं सहयोग हमें प्राप्त हुआ है। अतः हम उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अन्त में मैं संस्थान के व्यवस्थापक डॉ० कपिलदेव गिरि को प्रूफ-संशोधन में सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ। इसके अतिरिक्त उन सभी पदाधिकारियों एवं स्वाध्यायी जनों के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग प्राप्त हुआ है।

श्रावकधर्मप्रदीप के इस संस्करण को डिमाई साइज में परिवर्तित किया गया है और इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि कहीं कोई मूल व्याख्या न छूटे, फिर भी यदि प्रमादवश कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो विज्ञजन क्षमा करेंगे और सूचित करेंगे ताकि आगामी संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

डॉ०सुरेशचन्द जैन
निदेशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

संस्थानभवन
श्रुतपञ्चमी
१० जून, १९९७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान् / साधक

पण्डित जगन्मोहनलाल शास्त्री : जीवन-दर्शन

पण्डित जी सीमित चेतना के वृत्त में आबद्ध नहीं थे। उनके अन्दर ऊर्ध्व-चेतना की धारा सतत प्रवाहित होती रही है जिसने उनके व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करते हुए समाधि के अन्तिम क्षणों तक गतिमान बनाये रखा। अन्तर्मन की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने जिस भाषाशैली का प्रयोग किया है उसकी तह से एक दार्शनिक संत झांकता है.... कहीं कहीं उभर आता है। उनकी ऊर्ध्व-चेतना सर्वांशतः साहित्य और दर्शन की ओर उन्मुख थी। उनकी शैली विशिष्ट और विचार सदा जीवन्त तथा वेगपूर्ण है। पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी एवं गुरु गोपालदास बरैया की शिष्य परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उद्भट विद्वान् के पाण्डित्य को पल्लवित करने में उनके पैतृक पृष्ठभूमि का भी परोक्ष हाथ रहा। उनके भव्य व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण था। इसके बावजूद पण्डित जी प्रवृत्त्या आत्मोपासक थे। समाज सेवा उनके व्यक्तित्व पर एक ओढ़ी चादर थी।

पं०जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के पूज्य पिताश्री बाबा गोकुलप्रसाद जी का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब कि सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश धार्मिक, सांस्कृतिक घड़ियों से गुजर रहा था। सर्वत्र अशांति और धार्मिक विद्वेष का वातावरण था। पारस्परिक सद्भावना तथा सौहार्द की भावना से रहित अवसाद से पीड़ित समाज जीवन के वास्तविक आदर्शों के प्रकाश के अभाव में अज्ञानान्धकार से ग्रसित थी। वे मध्यप्रदेश के जबलपुर जिलान्तर्गत मझौली ग्राम में सद्गृहस्थ थे; सन् १९०१ में पण्डित जी का जन्म हुआ। बचपन में ही उनकी माताश्री का स्वर्गवास हो जाने से अत्यन्त करुणामय वातावरण एवं किशोरावस्था पर संघर्षों के प्रश्नचिह्न लग गये।

कटनी में बाबा गोकुलप्रसाद जी के मौसेरे भाई स०सिं०कन्हैयालाल जी, रतनचन्द जी, दरबारीलाल जी और परमानन्द जी ने बालक जगन्मोहनलाल की शिक्षा-दीक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी लेकर बाबा जी के समाज-सेवा एवं व्रती जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त किया। वे अद्वितीय त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। अहिंसा और अनेकान्त रूप विश्व-कल्याणकारी मार्ग पर जीवन-पर्यन्त चलते रहे। इसका ज्वलन्त उदाहरण है मैहर की शारदा देवी के मंदिर में अहिंसामयी वातावरण निर्मित करने का, जहाँ सदा-सदैव के लिए पशु-बलि पूज्य बाबा जी के अलौकिक एवं प्रेरणास्पद उपदेश को सुनकर बन्द कर दी गई। मूक प्राणियों को अभय दान मिला। सिंघई-परिवार ने जिस समय यह शुभ संदेश सुना उनके यहाँ पुत्र-रत्न की उपलब्धि पर बधाई बज रही थी। उस पुत्र का नामकरण अभयकुमार हुआ जो 'सवाई-सिंघई'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की उपाधि से विभूषित हैं एवं समाज-सेवी कार्यों में संलग्न हैं। समाज-सेवी स्व०स०सिंघई धन्यकुमार जी उनके चचेरे बड़े भाई एवं स्व०स०सिंघई जयकुमार जी अनुज थे। बाह्य आधार के अभाव में अन्तर्मुखी होकर पूज्य बाबा जी त्यागमय जीवन की ओर अग्रसर होते रहे। पूज्य वर्णी जी को सप्तम-प्रतिमा का व्रत देकर उन्हें चारित्र पदारूढ़ करके बाबाजी को अपार प्रसन्नता हुई। उन्होंने त्यागी-व्रती, ब्रह्मचारी एवं गृह-त्यागियों के लिए कुण्डलपुर एवं इन्दौर में उदासीन-आश्रमों की स्थापना की जो वर्तमान में आत्म-कल्याण के प्रतीक बन गये हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में बाबा जी ने अपने द्वारा लिखे जा रहे ग्रन्थ को पूर्ण करने का दायित्व पण्डित जी को सौंपा व सन् १९२३ में समाधिस्थ हुए।

किशोरावस्था में पण्डित जगन्मोहनलाल जी के मानसिक क्षितिज को धर्म ग्रन्थों की जिन विधाओं ने रंगीन किया था, उसके अनुरूप विद्या-अध्ययन के लिए मथुरा, मोरेना एवं वाराणसी गये। वहाँ व्याकरण, साहित्य, न्याय-दर्शन व धर्म की शिक्षा ग्रहण की। इस बीच सन् १९२० में महात्मा गांधी के आह्वान पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सरकारी परीक्षाओं का बहिष्कार किया। तत्पश्चात् न्याय-सिद्धान्त के कोर्स को पूर्ण किया। शिक्षा पण्डित जी के बाह्य-स्तर पर काम करती रही किन्तु गंगा की शान्त, निश्छल, सुरमयी लहरों के पावन-जल ने उनके भाव और विचार-जगत को परिष्कृत किया। भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का समन्वय हुआ। एक सम्वेदनशील और गुणग्राही हृदय लेकर सन् १९२३ में पण्डित जी कटनी आये। स०सिंघई रतनचन्द जी के कहने पर जैन शिक्षा संस्था में अध्यापन करने लगे किन्तु शिक्षा-मद से कभी वेतन नहीं लिया। स०सिंघई जी के पारिवारिक ट्रस्ट की आमद से खर्च चलाते रहे। शान्ति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय, कटनी के प्रधानाचार्य/अधिष्ठाता, दि०जैन गुरुकुल, खुरई, जबलपुर, एलोरा, मथुरा एवं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी के आजीवन सक्रिय, अधिष्ठाता एव उप-अधिष्ठाता रहे जिनके माध्यम से जैन-जैनेतर समाज बौद्धिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर लाभान्वित हो रही है।

पण्डित जी के प्रबुद्ध एवं व्यक्तिगत निर्देशन में अनेकानेक धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक संस्थायें परिपुष्ट हुई हैं। एक ओर जहाँ वे श्री दि०जैन तीर्थ क्षेत्र, कुण्डलपुर के अध्यक्ष थे तो दूसरी ओर श्री दि० जैन संघ मथुरा, श्री दि० जैन विद्वत् परिषद्, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, वाराणसी, श्री दि० जैन महासमिति एवं श्री दि० जैन परवार सभा के संस्थापक / सदस्य / अध्यक्ष एवं मन्त्री के पदों को अदम्य उत्साह, अपूर्व सूझ-बूझ एवं उल्लेखनीय गरिमा प्रदान करते हुए सुशोभित करते रहे हैं। वे सम्पादन-कला विशारद थे। उन्होंने जैन-संदेश, परवार-बन्धु, वीर-संदेश प्रभृति अनेक पत्र-पत्रिकाओं का कुशल सम्पादन किया। पण्डित जी यथा-नाम तथा गुण थे; अपने सारस्वत वाङ्मय के माध्यम से जटिल विषय की सरल, सुबोध एवं स्पष्ट व्याख्या करके उन्होंने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तनधारा की रूपरेखा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सैद्धान्तिक लेखों में मुखरित हुई है। पण्डित जी की कृतित्त्व सूची में मुख्यतः 'श्रावकधर्मप्रदीप', अध्यात्म अमृत-कलश, प्रवचन सारोद्धार एवं कर्मबन्ध प्रक्रिया है। विद्वान्-टीकाकार की हैसियत से उन्होंने अपने ग्रन्थों में शास्त्रीय एवं सूक्ष्म सैद्धान्तिक मतों की प्रस्थापनाओं को सहज एवं बोधगम्य भाषा का वेश देकर जन-सामान्य को उपकृत किया है। पण्डित जी ने अपनी टीकाओं के माध्यम से मूल ग्रन्थ के महत्त्व को चौगुना कर दिया है।

१९वीं शताब्दी का प्रथम दशक और जैन समाज पर विहंगम दृष्टि डालते हुए उस समय समाज की दुरावस्था का सजीव चित्रण किया। पण्डित जी ने आध्यात्मिक युग-विभूति आचार्य श्री शान्तिसागर द्वारा मुनि-व्रत की परम्परा के संचालन करने एवं जैन मुनियों के अबाध विहार कर सकने के लिए, किये गये परम पुनीत कृत्यों के प्रति उनकी बार-बार वन्दना की है। उस समय समाज में मुनि-जन नहीं थे। जैन धर्म की शिक्षा-दीक्षा के लिए समुचित साधनों का अभाव था। पूर्व संस्कारवश जैन धर्म का पालन करते हुए अपनी भव्य सांस्कृतिक विरासत के पोषण और संवर्धन में जो व्यक्ति संलग्न थे, वे धन्य हैं। पण्डित जी ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय और यशस्वी योगदान के लिए पण्डित गोपालदास जी बरैया, ब्र०शीतलप्रसाद जी, बैरिस्टर चम्पतराय जी, सर सेठ हुकमचन्द जी, सेठ मानिकचन्द्र जी, साहू शान्तिप्रसाद जी प्रभृति अनेक व्यक्तियों के प्रति भी अपनी स्मराणाञ्जलि अर्पित की, जिन्होंने विपरीत समय में समाज का पथ-प्रदर्शन किया।

पण्डित जी ने धार्मिक, सामाजिक तथा शास्त्रीय ज्ञान के संवर्धन हेतु समूचे भारत में भ्रमण किया। भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली एवं आचार्य शान्तिसागर स्मारक ट्रस्ट, बम्बई के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित जैन विद्वत् संगोष्ठी बोरीबली, बम्बई में अध्यक्षता कर रहे पण्डित जी का दिनांक ७-८ सितम्बर १९८२ को समाजरत्न श्रावकशिरामणि साहू श्रेयांसप्रसाद जैन ने अभिनन्दन किया। संतशिरोमणि उपाध्याय विद्यानन्द जी की पुण्यमयी उपस्थिति में भारत के तत्कालीन गृह-मन्त्री माननीय श्री एस०व्ही०चव्हाण ने पण्डित जी को सन् ९२ के सर्वश्रेष्ठ सम्मान से विभूषित किया। जैन समाज, अजमेर, कुंदकुंद भारती, दिल्ली, दि०जैन गजरथ महोत्सव, जबलपुर, जैन समाज, अमरपाटन, सतना, रीवॉ, कटनी, दमोह आदि अनेक नगरों में पण्डित जी के प्रति आदराञ्जलि व्यक्त करने के लिए अभिनन्दन समारोह आयोजित किये गये। सतना जैन समाज के द्वारा आयोजित समारोह में पण्डित जी को साधुवाद-ग्रन्थ समर्पित किया गया। यह ग्रन्थ पण्डित जी की विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियों एवं धार्मिक अनुभवों का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। साधुवाद-ग्रन्थ की योजना को मूर्त्त रूप देने के दायित्व का निर्वाह १५० जैन/अजैन विद्वानों की उपस्थिति में डॉ० नन्दलाल जैन ने कुशलतापूर्वक किया।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज के सम्पर्क में पण्डित जी सन् १९२७-२८ में आये तब से लगातार १९९५ तक ६७ वर्षों के दौरान अनेकानेक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुनि महाराजों का उन्हें सान्निध्य प्राप्त होता रहा। १३ वर्ष की अवस्था में पूज्य वर्णी जी से परिग्रह-परिमाण-व्रत ग्रहण किया था। सन् १९२७ में पूज्य आचार्य श्री शान्ति सागर जी महाराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत धारण किये। क्रमशः व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए १९६१ में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किये तत्पश्चात् सन् १९७४ में सप्तम प्रतिमा के व्रत लिए; उसी समय आचार्य श्री से पण्डित जी का सतत सम्पर्क बना रहा। धर्म एवं समाज में सेवा के कार्यों में उनकी धर्म-पत्नी एवं पुत्रों का बराबर सहयोग रहा। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में सभी लौकिक कार्यों से निवृत्त होकर कुण्डलपुर क्षेत्र स्थित उदासीन आश्रम में पण्डित जी ने अपना जीवन धर्म साधनापूर्वक व्यतीत किया। पुण्योदय से १९९५ में पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज के ससंघ चातुर्मास की स्थापना कुण्डलपुर (सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि) में हुई। इस निमित्त को पाकर दिनांक २४ जून ९५ को पण्डित जी ने आचार्यश्री से सल्लेखना की प्रार्थना की। इस तरह पण्डित जी की समाधि-यात्रा प्रारम्भ हुई। कार्य और कषाय को कृश करने की प्रक्रिया में वे खरे उतरते गये। इसके पूर्व सन् १९९४ में पूज्य मुनि श्री समतासागर जी, मुनि श्री प्रमाणसागर जी एवं ऐलक श्री निश्चयसागर जी महाराज का कटनी में वर्षा-योग स्थापित हुआ तभी से पण्डित जी सल्लेखना के पूर्वाभ्यास में संलग्न होकर समाधि-यात्रा की तैय्यारी में थे। सुयोग मिलने पर आचार्य श्री के निर्देशन में पण्डित जी समाधि-शिखर के सोपानों पर दृढ़ता के साथ चढ़ते गये.... बढ़ते गये। आचार्यश्री का यह सूत्र "व्रती जीवन की शोभा समाधि-मरण से होती है" पण्डित जी ने आत्मसात् करते हुए कहा था "जीवन-शिखर पर समाधि रूपी कलशारोहण करने आया हूँ।"

समाधि-साधना में रत पण्डित जी ने सुविधा, शिथिलता और सुस्ती से कोई समझौता नहीं किया। शारीरिक स्थिति शिथिलतम हो गई थी पर चित्त की स्वस्थता में पूर्णरूपेण स्थिर हो गये थे। "अप्पाणं सरणं गच्छामि (मैं अपनी आत्मा की शरण को स्वीकार करता हूँ) के सत्य-घोष ने शिथिलाचार के लिए कोई गुंजाइश नहीं रखी। समाधिकाल में आत्मोन्नति की अनुल्लंघनीय कितनी सीढ़ियाँ वे तय कर चुके थे? इसका लेखा-जोखा रखना सहज नहीं है। मरणोपरान्त की अद्भुत अलौकिक अनुभूति ने पण्डित जी के मन से मृत्यु-भय दूर कर दिया था। "जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द" इस युक्ति को चरितार्थ करने वाले वे अग्रणी महापुरुष थे।

आश्विन सुदी चतुर्दशी दिनांक ७.१०.९५ को पण्डित जी ने जल भी ग्रहण नहीं किया। इसके ४ दिन पूर्व से अन्न का त्याग कर दिया था। अन्तिम दिवस तक उन्होंने नित्य देव-पूजन, सामायिक एवं आचार्यश्री के दर्शन किये। अन्तिम क्षणों में पण्डित जी जीवन को निजी मौलिक अन्तर्दृष्टि से देख रहे थे। एक साथ गहराई, ऊँचाई, सूक्ष्मता और विस्तार के आयाम साकार हो रहे थे। समत्व के प्रकाश में सारे अन्धकार अस्तित्वहीन हो चले थे। शारीरिक शिथिलता थी किन्तु मानसिक सामर्थ्य का अद्भुत विकास उनमें हो रहा था। उनकी अंतश्चेतना यथार्थगामी संवेदनाओं से अनुप्राणित थी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सायंकालीन सामायिक के लिए तत्पर पण्डित जी अपूर्व जागृत अवस्था में मन्त्रोच्चारण के वातावरण में समाधिस्थ हुए। पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी की ससंघ उपस्थिति में इस शती के महान् दार्शनिक, जैन धर्म के प्रकाण्ड पण्डित, निरतिचार व्रतपालक पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने शरद्-पूर्णिमा की पूर्व संध्या में; आश्विन सुदी चतुर्दशी के महापर्व की पावन बेला में सल्लेखना पूर्वक समाधिस्थ हो महाप्रयाण किया। उस महान् आत्मा की ऊर्ध्वयात्रा को सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि की पावन धरती पर समवेत अपार जन-समुदाय ने देखा और प्रेरणा प्राप्त की।

प्रस्तुत कृति 'श्रावकधर्मप्रदीप' का तृतीय संस्करण लोक-हित की भावना से प्रेरित पण्डित जी के बड़े पुत्र श्री अमरचन्द्र जैन, सतना निवासी के प्रबुद्ध प्रयासों का परिणाम है। जीवन के आध्यात्मिक प्रकाश और पावनता देने वाला सत्साहित्य प्रकाशित कराने में वे अहर्निश प्रयत्नशील हैं। श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराज की रचना 'श्रावकधर्मप्रदीप' की संस्कृत और हिन्दी टीका जैन विद्या की परम्परागत शास्त्रीय शैली के मूर्धन्य विद्वान् स्व० पं० जगन्मोहनलाल जी की अमूल्य कृति है। उनके चिन्तन-मनन, अभीक्ष्ण ज्ञानाराधन और असाधारण प्रतिभा के अमृत-स्पर्श से यह बहुमूल्य कृति व्यापक रूप से समादृत हुई है।

आलोक और अन्धकार के अनेक युग पार करते हुए पण्डित जी ने अपनी जीवन-यात्रा को पूर्णता प्रदान की; किन्तु आजीवन अपने धार्मिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति सदैव सजग और सावधान रहे। उनका व्यक्तिव सार्वभौम होकर भी आत्मनिष्ठ रहा। उनकी सामाजिक और धार्मिक दृष्टि बहुत परिष्कृत थी। जैन विद्वानों की परम्परित एवं आधुनिक पीढ़ियों बीच वे सेतु थे। उस महान् तत्त्वज्ञानी, प्रभावशाली वक्ता एवं जैन जीवनचर्या के साधक को शत-शत प्रणाम।

कटनी (म०प्र०)
१ सितम्बर १९९७

विजय भारतीय
एडव्होकेट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराज ने श्रावकधर्मप्रदीप की संस्कृत श्लोकों में रचना करके श्रावकों का बड़ा उपकार किया है। इसमें गृहस्थ के सभी आवश्यक कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसकी रचना पुराने श्रावकाचारों के और विशेषरूप से आचार्य जिनसेन के महापुराण और पं०आशाधर जी के सागारधर्मामृत के आधार से की गयी है। वास्तव में यह ग्रन्थ श्रावकधर्म को प्रकाशित करने के लिए प्रदीप के समान है। इसमें कुछ ऐसे विषयों का श्रावकाचार के रूप में समावेश किया गया है जो वर्तमान काल में प्रलचित हैं किन्तु जिनका समावेश प्राचीन श्रावकाचारों में नहीं है।

जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् श्री पं. जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री ने श्रावकधर्मप्रदीप की संस्कृत तथा हिन्दी में सरल तथा सुबोध टीका लिखकर जैन साहित्य की अभिवृद्धि की है। संस्कृत न जानने वालों के लिए हिन्दी टीका बहुत उपयोगी है। हिन्दी में प्रकृत विषय को व्यापक रूप से समझाया गया है। पं. जी का हिन्दी और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यही कारण है कि श्रावकधर्मप्रदीप की संस्कृत और हिन्दी टीकाएँ प्राञ्जल भाषा में लिखी गई हैं। इन टीकाओं के निर्माण में पंडितजी ने जो श्रम किया है वह सराहनीय है। टीकाकार के आद्य वक्तव्य से श्रावकधर्मप्रदीप के रचयिता आचार्य कुन्थुसागर महाराज का जीवन परिचय भी प्राप्त हो जाता है। आपके द्वारा श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत कलशों पर रचित स्वात्मप्रबोधिनी टीका व वचनिका आपके गम्भीर अध्यात्मज्ञान का स्पष्ट निदर्शन है। अपने जीवन के प्रारंभ काल से ही आपकी रुचि त्याग की ओर है और इस समय आप सप्तम प्रतिमा के व्रतों का पालन कर रहे हैं।

सिद्धान्ताचार्य श्री पं०कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने श्रावकधर्मप्रदीप पर प्रास्ताविक लिखकर इसके महत्त्व को बढ़ाया है। आप सुयोग्य लेखक, सम्पादक तथा प्रवक्ता हैं। विज्ञ पाठकों को आपकी अनेक रचनाओं में आपके अगाध पाण्डित्य की झलक मिल ही जाती है। प्रास्ताविक पढ़ने से श्रावकधर्म सम्बन्धी अनेक बातों का सरलता से बोध हो जाता है तथा पाषण्डी, पर्व, चेल, परदारनिवृत्ति आदि शब्दों के प्राचीन तथा प्रचलित अर्थों की जानकारी मिल जाती है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और उमास्वामी आदि के द्वारा प्रतिपादित श्रावक के व्रतों, अतिचारों आदि का तुलनात्मक ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेश वर्णी दि०जैन संस्थान के कई उद्देश्यों में से एक प्रमुख उद्देश्य साहित्य प्रकाशन भी है। इसमें भी विशेषरूप से पूज्य श्रीगणेशप्रसाद वर्णी से सम्बन्धित रचनाओं (वर्णी साहित्य) का प्रकाशन मुख्य है। इसीलिए वर्णी जीवनगाथा के तीन भाग तथा वर्णीवाणी के चार भाग इसके द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। वर्णीजी द्वारा रचित हिन्दी टीका सहित 'समयसार' का प्रकाशन भी वर्णी ग्रन्थमाला से हुआ है। वर्णी ग्रन्थमाला से अबतक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है वह अपनी मौलिक विशेषता को लिए हुए है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर 'श्रावकधर्मप्रदीप' का प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला की ओर से किया गया था।

श्रावकधर्मप्रदीप का प्रथम संस्करण २५ वर्ष पहले श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला से छपा था जो कई वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था। तभी से समाज की मांग थी कि श्रावकधर्मप्रदीप का द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशित कराया जाय। अतः इसका यह द्वितीय संस्करण श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान के अन्तर्गत वर्णी ग्रन्थमाला से किया गया है।

वर्णी संस्थान के अध्यक्ष स.सि. धन्यकुमार जी वर्णी संस्थान के कार्यों में विशेष रुचि लेते हैं और संस्थान की प्रगति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। फलतः इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। संस्थान के उपाध्यक्ष श्री पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री तथा सिद्धान्ताचार्य श्री पं. कैलाशचन्द्र जी से तो सदा ही सत्परामर्श और सहयोग प्राप्त होता ही रहता है। महावीर प्रेस के मालिक श्री बाबूलाल जी फागुल्ल ने इसके मुद्रण में लगन और तत्परता से कार्य किया है। श्री महादेव जी चतुर्वेदी ने प्रूफ संशोधन करके सहयोग दिया है। उक्त सब महानुभावों का हम हृदय से आभार मानते हैं।

उदयचन्द्र जैन
संयुक्त मंत्री

डॉ० राजाराम जैन
मंत्री

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रास्ताविक

आचरण की दृष्टि से जैनधर्म के दो रूप है, सागार अथवा गृहस्थधर्म और अनगार अथवा मुनिधर्म। किन्तु यथार्थ में जैनधर्म अनगारों का ही धर्म था। जैनधर्म का प्रधान लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति और अनगारधर्म ही मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है। अनगारधर्म धारण किये बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। इसी से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में जो श्रावकधर्म का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है, आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि जो उपदेष्टा यतिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थधर्म का उपदेश देता है, जैन प्रवचन में उसे निग्रहस्थान के योग्य कहा है।

इसका स्पष्ट निदर्शन हमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में मिलता है। उनके षट्प्राभृतों में मुनि को लक्ष्य करके ही धर्म का प्रतिपादन किया गया है। श्रावकधर्म का निर्देशमात्र चारित्र प्राभृत में है। श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह दर्जे (प्रतिमा) यही साधारणतया श्रावकधर्म का प्राचीन रूप है। तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार से बारह व्रतों के अतिचारों की परम्परा का आरम्भ होता है।

यद्यपि उत्तरकाल में निर्मित श्रावकाचारों में अतिचारों का वर्णन विशेषरूप से तत्त्वार्थसूत्र का ऋणी है तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध श्रावकाचारों में आद्य श्रावकाचार है और वह एक प्राचीन तथा स्वतंत्र परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में जो सन्तुलितपन, क्रमबद्धता तथा प्रौढ़ता है वही रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी पाई जाती है। उसका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन मौलिक है। सम्यग्दर्शन का चित्रण करते हुए उन्होंने गुरुमूढता के लिए पाषण्डिमोहन शब्द रखा है। यहाँ पाषण्डि शब्द साधु का वाचक है। पहले साधुसामान्य को पाषण्डि कहते थे। उत्तर काल में इसी का भ्रष्ट रूप पाखण्डी बनावटी साधुओं के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। अशोक के शिलालेखों में पाषण्डी शब्द अपने मूल अर्थ में व्यवहृत हुआ है। अतः पाषण्डी शब्द का प्रयोग रत्नकरण्ड की प्राचीनता का सूचक है। इसी तरह प्रोषधोपवास के लक्षण में पर्वण्यष्टम्याञ्च में पर्व शब्द भी खास ध्यान देने योग्य है। टीकाकार प्रभाचन्द्र ने पर्व का अर्थ चतुर्दशी प्रचलित पद्धति के अनुसार कर दिया है। किन्तु 'पर्व' का प्राचीन अर्थ अमावस्या पूर्णिमा ही मिलता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्र के लिये 'चेल' शब्द ही प्राचीन काल से प्रचलित है। रत्नकरण्ड में भी 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' तथा 'चेलखण्डधरः' शब्दों के द्वारा उसी प्राचीन शब्द का प्रयोग किया गया है। बाद के श्रावकाचारों में इस शब्द के स्थान में 'कौपीन' 'संव्यान' आदि वस्त्र विशेषों का प्रयोग पाया जाता है, चेल या चेलखण्ड का नहीं। इसी तरह सामायिकशिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा का स्वरूप भी प्राचीन परिपाटी को बतलाता है। पांच अणुव्रतों में चौथे अणुव्रत का नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसंतोष दिये हैं। ये दो नाम प्रकारान्तर से एक ही धर्म के सूचक हैं, किन्तु उत्तरकाल में परदारनिवृत्ति का अर्थ केवल परस्त्रीनिवृत्ति करके एक ही व्रत के दो टुकड़े कर दिये गये और उसमें से वेश्या सेवन की गुञ्जाइश निकाल ली गई।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य ने पाँच अणुव्रतों के सिवाय तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये तथा दिक्परिमाण अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत गिनाये। तत्त्वार्थसूत्र में गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील बतलाये, दिग्विरति देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोघधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग। सल्लेखना को अलग से बतलाया।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में कुन्दकुन्दाचार्य की तरह ही गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार बतलाये। गुणव्रत के भेद दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण भी कुन्दकुन्द की तरह ही किये। किन्तु शिक्षाव्रतों के भेदों में परिवर्तन कर दिया- देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य। तत्त्वार्थसूत्र की तरह सल्लेखना को अलग से बतलाया। इसी तरह व्रतों और शीलों के अतिचारों को बतलाते हुए परिग्रह परिमाण व्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार तत्त्वार्थसूत्र से बिल्कुल भिन्न ही बतलाये--जो तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित अतिचारों से अधिक बुद्धिग्राह्य है और ठीक बैठते हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की महत्ता के कारण उसमें प्रतिपादित अतिचार ही उत्तर काल में प्रचलित हुए।

स्वामी जिनसेनाचार्य के आदिपुराण से श्रावकाचार में कुछ नवीनता का सूत्रपात हुआ। उन्होंने पक्ष, चर्या और साधन के द्वारा श्रावक के तीन भेद किये-पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। अपने से पूर्व के सभी श्रावक आचारों का संकलन करके सागारधर्मामृत को रचने वाले आचार्यकल्प पं. आशाधर जी ने आदिपुराण का अनुसरण करते हुए ही श्रावक के तीन भेदों को आधार बनाकर कथन किया।

प्रस्तुत श्रावकाचार

प्रस्तुत श्रावकधर्मप्रदीप में भी स्वामी जिनसेनाचार्य की सरणि का अनुसरण करके आचार्य श्रीकुन्थुसागर जी ने श्रावकधर्म का वर्णन किया है। प्रथम अध्याय में १५ श्लोकों के द्वारा उन्होंने पाक्षिक श्रावक का स्वरूप और आचार बहुत सरल रीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से बतलाया है। अहिंसा ही परम धर्म है, वीतराग देव ही सच्चे देव हैं, निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चा साधु है और जिनोक्त शास्त्र ही पठनीय है, ऐसा जिसका भाव है वह पाक्षिक श्रावक है। पाक्षिक श्रावक भोगोपभोग में विरक्त नहीं होता और त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता है तथापि धर्मकार्य करने में सदा तत्पर रहता है। वह दान देता है, पूजा करता है और यज्ञोपवीत धारण करता है।

विद्वानों का मत है कि ग्रन्थकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना तत्कालीन विचारों से अछूती नहीं रहती। श्रावकधर्मप्रदीप में भी हम इस तथ्य के दर्शन पाते हैं। यह सब जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के काल से विश्व में सुख शान्ति स्थापित करने की सर्वत्र चर्चा है। आचार्य कुन्थुसागर जी ने भी श्लोक ११ में उसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि दुष्ट का निग्रह और सज्जन का रक्षण सम्पूर्ण विश्व में सुख शान्ति का कारण है ऐसा भाव पाक्षिक का होता है।

दूसरे अध्याय से नैष्ठिक श्रावक का वर्णन है। प्रथम तीन अध्यायों के द्वारा पहली प्रतिमा का वर्णन खूब विस्तार से किया है और अन्य श्रावकाचारों में दार्शनिक श्रावक के सम्बन्ध में जो कहा है उस सब का संकलन कर दिया है, साथ ही कुछ नवीन बातें भी हैं, जो अन्य श्रावकाचारों में नहीं है। उदाहरण के लिये सूतक की चर्चा किसी भी श्रावकाचार में नहीं पाई जाती, किन्तु इस श्रावकाचार में उसे भी समाविष्ट कर दिया गया है।

आगे के अध्यायों में शेष प्रतिमाओं का वर्णन है।

आचार्य श्री कुन्थुसागर जी

इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य श्री कुन्थुसागर जी इस युग के आदर्श साधु थे। उनकी सौम्य मूर्ति सद्व्यवहार, भाषा संयम, एक साधु के अनुरूप थे। जो कोई उनके परिचय में आता था वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। त्यागवृत्ति अपनाने से पूर्व उनका ज्ञान उतना विकसित नहीं था, किन्तु त्यागी होने पर उन्होंने बराबर ज्ञानाराधना में अपना उपयोग लगाया। जब वह सप्तम प्रतिमा में थे तो एकबार अध्ययन के लिये श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस में भी आये थे, किन्तु वहाँ का जलवायु अनुकूल न होने से उन्हें चले जाना पड़ा था। मुनिदीक्षा लेने के पश्चात् जब मुझे प्रथम बार उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैं तो उन्हें नहीं पहचान सका, किन्तु उन्होंने मुझे तुरन्त पहचान लिया।

आपका जन्म स्थान कर्नाटक प्रान्त के बेलगाँव जिले में स्थित ऐनापुर ग्राम था। आपका जन्म नाम रामचन्द्र था। पच्चीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् सन् १९२५ में आपने श्रवणबेलगोला में आचार्य श्री शान्तिसागर से क्षुल्लक दीक्षा ली और आपका नाम पार्श्वकीर्ति रखा गया। तत्पश्चात् सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर आचार्य महाराज से ही दिगम्बर जिनदीक्षा ले ली। उसके पश्चात् आप अध्ययन में लगे रहे और उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फलस्वरूप संस्कृत भाषा में ग्रन्थ रचना भी करने लगे। आपकी वक्तृत्व शक्ति भी अपूर्व थी। उत्तरप्रान्त से बिहार करते हुए आपने गुजरान्त प्रान्त को अपना वासस्थान बनाया। और उस प्रान्त के गाँवों में विहार कर लोगों को धर्म में स्थिर किया। जैन अजैन सभी आपके उपदेश से प्रभावित होते थे। अनेक राजाओं ने भी आपका सम्मान किया और उपदेश सुनकर प्रभावित हुए तथा अपने राज्य में अहिंसा का पालन करने का नियम लिया। खेद है कि २ जुलाई सन् १९४५ को आपका असमय में स्वर्गवास हो गया। इस युग में ऐसा साधु होना दुर्लभ है।

टीका और टीकाकार

श्रावकधर्मप्रदीप नामक ग्रन्थ की संस्कृत और हिन्दी टीका जैन समाज के प्रसिद्ध धर्मात्मा विद्वान् पं०जगन्मोहनलालजी ने की है। पं०जगन्मोहनलालजी मध्यप्रान्त के निवासी और स्व०ब्र०गोकुलप्रसादजी के सुपुत्र हैं। ब्र०गोकुलप्रसादजी सच्चे त्यागी थे। उनके गुण उनके सुपुत्र में भी अवतरित हुए। विद्वान् होने के साथ ही आप द्वितीय प्रतिमा के धारी हैं और ३२ वर्ष से जैन शिक्षा संस्था, कटनी में प्रधानाध्यापकी का कार्य अत्यन्त सन्तोष और निरीहवृत्ति से कर रहे हैं।

जैसे ग्रन्थकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरजी इस युग के आदर्श साधु थे वैसे ही टीकाकार पं०जगन्मोहनलालजी अपने समय के आदर्श विद्वान् हैं। उनकी दोनों टीकाओं ने ग्रन्थ के महत्त्व को चौगुना कर दिया है। इस युग के विद्वानों में ग्रन्थ रचना की पद्धति क्वचित् ही पाई जाती है, किन्तु संस्कृत में टीका रचना तो अपूर्व सी ही बात है। टीका बहुत ही सुबोध है और छात्रों के लिए उपयोगी है, इस तरह हिन्दी टीका भी बहुत ही उपयोगी है। उसमें स्वाध्याय करने वालों के लिये श्रावकाचार का विषय भरा हुआ है। मूल ग्रन्थ में तो केवल मूल-मूल बातें हैं, किन्तु हिन्दी टीका में प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा है और इस तरह यह ग्रन्थ स्वाध्याय करनेवालों के लिये बहुत ही उपयोगी बन गया है। हम अपने मित्र को ऐसी सुन्दर टीकाएँ रचने के लिये बधाई देते हैं। वर्णी ग्रन्थमाला ने इसे प्रकाशित करके उचित ही किया है और इसके लिये वह धन्यवादार्ह है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आद्य-वक्तव्य

ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञानावरणादि कर्मों के निमित्त से उसमें हीनाधिकता हो सकती है तथापि आत्मा से ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। स्वभाव अपरिहार्य है। वस्तु स्वरूप को जानने के लिए प्राणिमात्र लालायित रहता है। ज्ञान प्राप्ति से जिस अनिर्वचनीय सुख का आनन्द प्राप्त होता है वह अन्य किसी कार्य के होने से नहीं प्राप्त होता। सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग में बहुत बड़ा साधन है। बिना उसके मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

संसारी जन उसी केवलज्ञान की आभा के द्वारा जो भगवान् केवली की वाणी द्वारा प्राप्त होती है, अपनी आत्मा को आलोकित कर अपने को पवित्र करते हैं। इस काल में ज्ञानरविकी किरणें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी द्वारा फैली हैं। उनकी शिष्य परम्परा में ६८३ वर्ष तक तो अंग-पूर्वसंबंधी ज्ञान मौखिक चलता रहा। उसके बाद बचा हुआ ज्ञान ग्रंथ रूप में निबद्ध हुआ। उस श्रुत के आधार पर अनेक आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी से लेकर स्वपरकल्याण करते हुए उस धारा को आज भी अविच्छिन्न बनाए हुए हैं।

यद्यपि दक्षिण प्रान्त में सदा से साधु परम्परा है और पंचम काल के अन्त तक रहेगी ऐसा भगवान् का वचन है तथापि उत्तर प्रान्त में इस परम्परा का अभाव था। श्री १०८ आचार्य शन्तिसागर महाराज ने इस काल में इस परम्परा को इस प्रान्त में चालू कर दिया है। उनमें से एक प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर भी हैं। ये श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी के शिष्य हैं। अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं। मोक्षमार्गप्रदीप के अनन्तर मुनिधर्म प्रदीप और उसके बाद 'श्रावकधर्मप्रदीप' की रचना इन्होंने की है। संस्कृत भाषा में इतनी सरल रचना कर सकने का सौभाग्य बहुत कम महानुभावों को प्राप्त होता है। इस सरल ग्रन्थ की टीका और सरल होना चाहिए थी, पर वह सम्भव नहीं हो सकी, तथापि आचार्य श्री की आज्ञा से मैंने टीका लिखने का प्रयास किया है। भले हम उसमें यथोचित सफलता नहीं पा सके हों पर आचार्यश्री की आज्ञा का पालन मैं कर सका इसका मुझे सन्तोष है। मैं श्रावकाचारसम्बन्धी एक पुस्तक लिख रहा हूँ, तथापि वह अपूर्ण है। मुझे इस ग्रन्थ की टीका लिखने का सौभाग्य कैसे प्राप्त हुआ, और उसके लिखने की अन्तःप्रेरणा क्यों हुई ? इसकी एक कहानी है।

अन्तःप्रेरणा

मेरे पिता सप्तम प्रतिमाधारी पूज्य ब्र०गोकुलप्रसादजी संवत् १९८० विक्रमाब्द में स्वर्गवासी हुए। स्वर्गवासी शब्द का मैंने व्यावहारिक शब्द प्रयोग की पद्धत्यनुसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग नहीं किया, किन्तु वे श्रावक व्रती थे अतः जैन सिद्धान्त के अनुसार उनका देहावसान होने पर अन्य पर्याय में स्वर्ग गति प्राप्त करना निश्चित है। अस्तु; वे जबलपुर जिला के अन्तर्गत मझौली ग्राम के निवासी थे, किन्तु अपनी मुकद्दमेंबाजी की हानिकारक आदतवश उत्पन्न हुई आर्थिक हानि के कारण वे अनेक स्थानों में भ्रमण कर पिंडरई (मण्डला) में व्यवसाय करने लगे थे। काल लब्धि से उनकी रुचि स्वाध्याय की ओर हुई और उन्होंने संसार देह और भोगों से उदासीनता को प्राप्त किया। अभ्यासावस्थारूप श्रावक व्रत और ब्रह्मचर्य का पालन, जिन मन्दिर में आवास, स्वाध्याय और तीर्थयात्रा ये ही उनके कार्य शेष थे। व्यावसायिक कार्य हमारे चचेरे ज्येष्ठ भ्राता तथा मामा पर छोड़ दिया था। सं. १९६५ में हमारी माता का देहावसान हुआ। पिता ने इसे सुयोग समझा और सप्तम प्रतिमा के व्रत जिनप्रतिमा के सन्मुख स्वयं गृहीत किए। इनके जीवन का परिचय पूज्य श्री १०५ क्षु०गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज ने अपने दीक्षागुरु के रूप में अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' में दिया है, अतः विशेष लिखना उपयुक्त नहीं है। इनकी इच्छा बहुत समय तक विद्याभ्यास की रही। स्वर्गीय गुरुवर्य न्यायवाचस्पति स्याद्वादवारिधि पंडित गोपालदासजी वरैया मोरेना (ग्वालियर स्टेट) में उन दिनों जीवित थे। वे दिग्गज विद्वान् थे। उनके पास विद्याभ्यास हेतु गए, मैं भी साथ था। गुरुजी ने मुझे रत्नकरण्डश्रावकाचार के कुछ श्लोक पढ़ाए और बाद में यह कह दिया कि बालक छोटा है इसे मथुरा पहुँचा दो। वहाँ महासभा का महाविद्यालय खुलनेवाला है। मुझे मथुरा भेजकर वे मोरेना में अध्ययन करते रहे। अध्ययन काल के बाद उनके व्रतों में विशेष विशुद्धि आई। उनके अनेक शिष्य हुए। विशेष संख्या होने के कारण दमोह के पास श्री कुण्डलपुरजी नामक प्राचीन क्षेत्र पर ब्रह्मचारियों का एक आश्रम स्थापित किया। एक आश्रम इन्दौर में भी स्थापित किया जो अभी उदासीनाश्रम के नाम से चल रहा है। इनका उद्देश्य ग्राम्य जनता को धार्मिक शिक्षण देना था, अतः वे प्रायः ग्रामों में विहार करते थे और वहीं विहार करने के लिए शिष्य समुदाय को भी प्रेरणा करते थे। लौकिक कीर्तिकी अभिलाषा उन्हें छू तक न गई थी, इसलिए इतनी सेवाओं के बाद भी शहरी जनता तथा अखबारी दुनिया के लोग उन्हें कम जानते थे।

उन्होंने "श्रावकप्रतिमादर्पण" नाम से एक ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया था। वे चाहते थे कि श्रावकों की प्रतिमाओं के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ ऐसा लिखा जाय जो सरल हो और उसे पढ़ने के बाद कोई भी व्रती निसंदेह होकर व्रत पालन में अग्रसर हो। जीवन के अन्त में दिनों में उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि मेरा ग्रंथ अपूर्ण रहा जाता है। तुमने विद्या प्राप्त की है, तुम इसे पूरा कर सकते हो, अतः इसे पूर्ण करना। यह उनकी अन्तिम आज्ञा थी। मैं चाहता था कि उसे पूरा कर दूँ, पर मुझे कठिनता का अनुभव हुआ। कारण यह था कि उन्होंने हिन्दी शास्त्रों की पुरानी जयपुरी ढूंढारी भाषा में लिखना प्रारम्भ किया था। उस भाषा में प्रयत्न करने पर भी मैं नहीं लिख सका। अनेक वर्षों तक ग्रंथ रखा रहा और मैं कार्य से निराश हो गया, यह समझ कर कि मैं इसे लिख न सकूँगा, फिर भी चित्त में खटका था। मुझे अन्तःप्रेरणा होती थी कि इस सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहे वह इस रूप में न भी हो, अन्य किसी रूप में हो, पर पिताजी की जो इच्छा थी, आज्ञा थी, उसे पूरा करना ही चाहिए। यह तो कोई लौकिक कामना नहीं थी, पारमार्थिक कार्य भी यदि पूरा न किया जासके तो इससे अधिक और क्या प्रमाद होगा? पर भाषा ढूंढारी लिखना मेरे वश की बात नहीं थी। अतः प्रेरणा उत्पन्न होती थी, पर उसकी पूर्ति नहीं हो पाती थी।

लेखन का सौभाग्य

विक्रमाङ्क २००० में दशलक्षणपर्व में शास्त्रप्रवचन के हेतु मुझे खण्डवा जैन पञ्चायत का आमंत्रण मिला। मैंने १० दिन वहाँ प्रवचन किए। तदनन्तर मध्य के तीर्थों की यात्रा करते हुए इंदौर गया। इंदौर में हमारे ग्राम के एक सज्जन मिले और हमारा उनका विचार हआ कि वांसवाड़ा (वागड़प्रान्त) में श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी का चातुर्मास है वहाँ दर्शन हेतु चला जाय। हम दोनों वहाँ पहुँचे। वाँसवाड़ा में श्री मन्दिर जी में सभाभवन में ६००, ७०० श्रोता थे और आचार्य जी का संस्कृत वाङ्मय में उपदेश चल रहा था। मेरा प्रथम प्रसंग था जब कि उनके मुखारविन्द से मैं भाषण सुन रहा था और इससे अधिक आश्चर्य यह था कि वह संस्कृत भाषा में था। भाषा इतनी सरल थी कि उपस्थित जनता उसे समझ सके। जहाँ थोड़ी सी कठिनता महाराज समझते वहाँ हिन्दी भाषा में बोलने लगते थे। इस तरह उभय भाषा के संगम में चलने वाला आचार्य श्री का प्रवचन बड़ा ही हृदयग्राही था।

जनता को देखकर मेरा अनुभव था कि वहाँ कम से कम १५०,२०० घर जैनों के होंगे। पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि यहाँ केवल ३६ घर दिगम्बरों के हैं और ५० घर श्वेताम्बरों के हैं। जनता जो एकत्रित है उसमें शहर के पढ़े लिखे सुशिक्षित राजकर्मचारी, अध्यापक, वकील, डाक्टर आदि प्रमुख पुरुष हैं। प्रतिदिन आफिस कार्य के अनन्तर यही समय सबके लिए अनुकूल होने से आचार्यश्री का प्रवचन इसी समय शाम को ६ बजे होता है। आचार्यश्री का प्रभाव अचिन्त्य था। भाषण सुनने पर किसी को यह प्रतीत नहीं होता था कि वक्ता साधु किस धर्म का है और किस धर्म का उपदेश कर रहा है। जैनधर्म शब्द का प्रयोग किए बिना भी आत्मधर्म और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का जिस सुन्दरता और आकर्षक ढंग से वे प्रतिपादन करते थे उससे उनकी सार्वजनीन हितभावना पद-पद पर व्यक्त होती थी। मतभेदों की या स्वमतप्रशंसा की गंध लाए बिना सद्धर्म का दृढ़ता से प्रतिपादन करनेवाला उपदेश मैंने अपने जीवन में पहिली बार सुना। वह कला आश्चर्यजनक थी जिसके स्मरण मात्र से आज भी हृदय पुलकित हो उठता है।

आचार्य महाराज का जीवन प्रारम्भ से ही उन्नतिशील था। ये कर्नाटक प्रान्त के ऐनापुर ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम सातप्पा (शान्तात्मा) और माता का नाम सरस्वती था। इनका पूर्व नाम श्री रामचंद्र था। बाल्यकाल से ही उक्त गृहस्थ धार्मिक दम्पति ने उनमें धर्म के संस्कार उत्पन्न किए थे। केवल माता पिता की इच्छा से उन्होंने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवाह किया था। वैराग्य भावना उनके हृदय में थी। यद्यपि इनके श्वसुर धनिक थे और अपुत्रवान् होने से इन्हें सम्पूर्ण धन का वारिस बनाना चाहते थे, पर ये तो सांसारिक सम्पत्ति को विपत्ति मानकर उससे दूर ही रहना चाहते थे। इन्होंने २५वर्ष की तरुण वय में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। श्रीसम्मेदशिखरजी की यात्रा को जाते समय इनका कटनी पदार्पण हुआ। उस समय हिन्दी का ज्ञान इन्हें बहुत सामान्य था।

धर्म की विशेष अभिलाषा से ये कटनी करीब १ सप्ताह ठहरे। धर्मचर्चा का सुनना यही एकमात्र कार्य उस समय था। दूसरी बार सं. १९८५ में परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी का कटनी में चातुर्मास हुआ। उस समय संघ में आप ऐलकपद पर आसीन होकर आये थे। पार्श्वकीर्ति आपकी संज्ञा थी। यह ज्ञात हुआ कि आपने तीन वर्ष पूर्व ही क्षुल्लकदीक्षा और उसके बाद ही इस वर्ष ऐलकदीक्षा ली है। उस समय आपकी अवस्था ३२ साल की थी। संघ में इन्हें यह कार्य दिया गया था कि श्रावकों को कम से कम मूलगुण तथा उनका चिह्न यज्ञोपवीत (जनेऊ) देकर श्रावक बनावें। इस कारण इन्हें साधारण लोग जनेऊ महाराज के नाम से सम्बोधित करते थे। हृष्ट-पुष्ट शरीर, प्रसन्नवदन, सलोना सांवला रंग, मिष्टवाणी अध्यात्म-रसप्रेमी और स्निग्धदृष्टि, इस प्रकार के यदि किसी साधु की आप कल्पना कर सकते हों तो वह श्री पार्श्वकीर्ति महाराज थे।

कटनी चातुर्मास में ही उन्होंने विद्याभिवृद्धि के हेतु संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। उनके अध्ययन प्रेम को देखकर आचार्यश्री ने संघ के अन्य साधुओं तथा क्षुल्लक ऐलकों को भी अध्ययन की प्रेरणा की। संघ में पण्डित नन्दलालजी शास्त्री सप्तम प्रतिमाधारी थे। इसलिये सभी साधुओं का अध्ययन चातुर्मास के बाद विहार कर जाने पर भी चालू रहा। दो-तीन वर्ष में ही ये संस्कृत विद्या के प्रौढ़ विद्वान् बन गए। श्री पं०नन्दनलालजी ने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और बाद में मुनिदीक्षा लेकर आचार्य सुधर्मसागर का पद प्राप्त किया। सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर विक्रमांक १९८६ में पार्श्वकीर्ति जी ने आचार्य महाराज से दिगम्बरी दीक्षा धारण कर अपनी चिरकाल की बलवत्तर वैराग्य भावना को सफल किया। तारंगा पञ्चकल्याणक के समय एक दूसरे प्रसिद्ध आचार्य शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) के आदेशानुसार इन्हें 'आचार्य' पद प्राप्त हुआ।

इस प्रकार आप श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी बने। आपकी अगाध विद्वत्ता, सरलता, परोपकारिता और सर्वजनहितैषिता ने आपको विमल कीर्ति प्रदान की। गुजरात प्रान्त ने सबसे अधिक आपके सदुपदेशों का लाभ लिया। इस प्रान्त की रियासतों के राजा महाराजा तथा उच्च राजकर्मचारी तक आपके जीवन चरित्र तथा विद्वत्ता से प्रभावित थे। श्री आचार्य महाराज कभी-कभी एक-एक सप्ताह तक मौन रहते थे। जब कोई राजा उनके दर्शनार्थ ऐसे समय आता तो जबतक मौन न खुल जाय और उपदेश प्राप्त न कर ले तब तक वहाँ रुकता था। सुदासना, शिरोही, डूँगरपुर और वाँसवाड़ा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि अनेक रियासतों में तत्कालीन राजाओं ने आचार्यश्री के जन्मदिन कार्तिक शुक्ल २ को राज्यभर में अहिंसादिवस घोषित कर अपनी आचार्यश्री के तथा दिगम्बर जैनधर्म के प्रति श्रद्धा व भक्ति प्रकट की थी। आचार्यश्री ने करीब ३० ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ उनमें से एक है। वाँसवाड़ा से जब मैं दुःखपूर्वक विदा होने लगा, मैंने आचार्यश्री से पुण्याशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। आचार्यश्री ने श्रावकधर्मप्रदीप ग्रंथ की मूल प्रति मुझे लाकर दी और यह आदेश दिया कि इसकी संस्कृत भाषा में और हिन्दी भाषा में टीका करो। यह श्रुतसेवा ही तुम्हारा कल्याण करेगी। मैंने विचार किया तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रावकाचार के लिये ही मुझे पिता से प्रेरणा प्राप्त हुई थी और वही आदेश आचार्यश्री का है। इस कार्य से मेरे दोनों उद्देश्य पूरे होंगे तथा ढूँढारी भाषा की कठिनता भी हल होगी। मैंने दोनों कार्यों की पूर्ति इस ग्रंथ की टीका में ही मानकर इसे लिखने का प्रयास किया।

ग्रंथ में कुछ विषय और समाविष्ट होने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। जैसे षोडशसंस्कार व उसकी विधि, यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार, गृहस्थों का उत्तराधिकार (दायभाग) और समाधिमरण इत्यादि, तथापि मूल ग्रंथ में इन विषयों पर कोई विशेष रचना न होने से नहीं लिखा गया। मूल श्लोक के अर्थ के अतिरिक्त भावार्थ में जो विशेषताएँ लिखी गई है 'प्रतिमादर्पण' में भी उनका उपयोग किया गया है। अनेक विशिष्ट विवेचनों के मूल स्रोत श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी हैं। प्रश्नोत्तर द्वारा जो समाधान उनसे प्राप्त किए हैं उनका भी समावेशन यत्र तत्र किया गया है। ग्रंथान्तरों में विहित अनेक चर्चाएं भी ग्रंथ में की गई हैं।

मुझे लिखने का अभ्यास नहीं है, ज्ञान भी अपरिपुष्ट है। इन दोनों कारणों से लिखने का प्रारंभ करके भी पूर्ण होने की बात कठिनाई में थी। श्रीमान् सिद्धान्तवेत्ता सुलेखक भाई पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री काशी मेरे परम मित्र हैं। हम उनके बहुत आभारी हैं कि उनकी प्रेरणा से ही मैंने येन केन प्रकारेण इसे पूरा किया है। एक बार लिखकर उसे लौटकर देखने का मुझे समय ही नहीं मिला। इस कारण टीका में अनेक स्खलन मेरे ज्ञात-भाव में भी रह गए हैं और अज्ञात भाव में भी होंगे। बहुतों का संशोधन उक्त पण्डितजी के साहाय्य से भाई पं०अमृतलालजी शास्त्री साहित्याचार्य काशी ने किया है। इसके लिए हम उनके भी आभारी हैं। श्रीमान् भाई कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है। ग्रंथ में जो सौन्दर्य है वह तो मूल ग्रंथकर्ता आचार्य महाराज की कृति है और टीका में यदि कुछ गुण है तो वह हमारे उक्त मित्रों की कृपा है जो सहज स्नेहवश है। जो त्रुटियां है वे मेरे प्रमाद व अज्ञानजन्य हैं। उन्हें पूर्वाचार्य प्रणीत आगम से मिलाकर शुद्ध कर लेने की प्रार्थना विद्वानों से करता हुआ मैं अपने इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री, कटनी (म०प्र०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-क्रमांक

क्रम	विषय	पृष्ठ
	प्रथम-अध्याय	
१.	मङ्गलाचरण तथा ग्रंथलेखन प्रतिज्ञा	१
२.	पाक्षिकों का चिह्न या उनका लक्षण	२
३.	सद्गुरु के विषय में पाक्षिक का भाव	४
४.	देव के विषय में पाक्षिक का भाव	६
५.	शास्त्र के विषय में पाक्षिक का भाव	८
६.	स्वाचार के विषय में पाक्षिक का भाव	१३
७.	पाक्षिक श्रावक की धार्मिक प्रवृत्ति	१४
८.	पाक्षिक श्रावक की लोकोपकार वृत्ति	१८
९.	सज्जन और दुर्जन के सम्बन्ध में व्यवहार	१९
१०.	पाक्षिक श्रावक की विशेष प्रवृत्ति-धर्मभावना, स्वातन्त्र्य-प्रेम, उदार-भावना, गृहिणी के प्रति कर्त्तव्य, सद्वचनप्रशंसा, निजनिन्दा, मित्रता, इत्यादि।	२४
	द्वितीय अध्याय	
११.	नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप	३९
१२.	प्रथम दर्शन प्रतिमा का लक्षण	४०
१३.	सम्यग्दर्शन व उसका स्वरूप	४२
१४.	सम्यग्दर्शन के दोषों का निरूपण	४५
१५.	सम्यग्दर्शन के अष्टाङ्गों का निरूपण	
	१. निःशंकित अङ्ग	४७
	२. निःकांक्षित अङ्ग	४८
	३. निर्विचिकित्सा अङ्ग	५०
	४. अमूढ़दृष्टित्व अङ्ग	५२
	५. उपगूहन अङ्ग	५३
	६. स्थितिकरण अङ्ग	५५
	७. वात्सल्य अङ्ग	५८
	८. प्रभावना अङ्ग	६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६.	मूढ़तात्रय निरूपण	
	१. लोकमूढ़ता का स्वरूप	६४
	२. देवमूढ़ता का स्वरूप	६५
	३. गुरुमूढ़ता का स्वरूप	६७
१७.	छह अनायतन का स्वरूप	६८
	१-२ कुदेव व तत्सेवक	६९
	३-४ कुशास्त्र व तत्पाठक	७०
	५-६ कुगुरु व तद्वन्दक	७१
१८.	अष्टमद निरूपण	
	१. विद्या (ज्ञान) का मद	७२
	२. प्रतिष्ठा का मद	७४
	३. कुल का मद	७४
	४. जाति का मद	७५
	५. बल का मद	७७
	६. धनसम्पत्ति का मद	७८
	७. सुन्दरता (शरीर) का अहंकार	८०
	८. तपस्या का मद	८१
१९.	सम्यग्दृष्टि सात भय से रहित है	
	१. लौकिक भय	८४
	२. पारलौकिक भय	८५
	३. शारीरिक वेदना का भय	८६
	४. मरण भय	८७
	५. अरक्षा भय	८८
	६. अगुप्ति भय	९०
	७. अकस्मात् भय	९१
२०.	संवेगादि सम्यक्त्वी के अष्ट गुण	
	१. संवेग गुण	९३
	२. निर्वेग या निर्वेद गुण	९४
	३. उपशम गुण	९५
	४. स्वनिन्दा गुण	९५
	५. स्वगर्हा गुण	९७
	६. अनुकम्पा गुण	९८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. आस्तिक्य गुण ७३
८. वात्सल्य गुण ७५
२१. सम्यग्दर्शन के अतीचार

तृतीय अध्याय

२२. सप्तव्यसनों के दोष व तत्त्याग निरूपण ८०
१. द्यूत व्यसन ८२
२. मांस भक्षण व्यसन ८४
३. मद्यपान व्यसन ८६
४. शिकार खेलना व्यसन ८८
५. वेश्यासङ्ग व फल ८९
६. चोरी का व्यसन व फल ९०
७. परस्त्री सेवन व फल ९२
२३. पञ्चपापों का स्वरूप निरूपण व पञ्चाणुव्रत
१. हिंसा का स्वरूप व उसके भेद व त्याग ९३
२. असत्य का स्वरूप व सत्याणुव्रत ९९
३. अचौर्य व्रत और चोरी के दोष १००
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत और कामदोष १०२
५. परिग्रह दोष व तत्त्यागाणुव्रत १०३-१०४
२४. चारित्र के मूलव्रत १०५
२५. अभक्ष्य निषेध का हेतु १०७
२६. मूलव्रतों के अतिचार
१-५. पञ्चोदुम्बरत्यागातिचार १०८
६. मांसत्यागातिचार १०९
७. मद्य त्याग के अतिचार १०९
८. मधु त्याग के अतिचार ११०
२७. सात व्यसनों के अतिचार
१. जुआ त्याग व्रत में दोष ११०
२. वेश्या त्याग व्रत में दोष ११२
३. चौर्य त्याग व्रत में दोष ११३
४. शिकार त्याग व्रत में दोष ११३
५. परस्त्री के सेवन त्याग व्रत के दोष ११४
६-७. मद्य-मांस त्याग के अतिचार ११९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

२८.	प्रातःकाल का कर्त्तव्य	१६१
२९.	गर्भाधानादि संस्कारों की आवश्यकता	१६४
३०.	दान के पात्र और उसका फल	१६५
३१.	पुरुषार्थ के चिह्न और फल	१६७
३२.	ऋतु के अनुसार कार्य	१७०
३३.	अहिंसा वृद्धि के लिए कर्त्तव्य कार्य	१७२
३४.	वात्सल्यभाव की आवश्यकता	१७३
३५.	क्षमादिधर्म और १२ भावना	१७४
३६.	स्वाध्याय की आवश्यकता	१७७
३७.	१. प्रथमानुयोग	१७८
३८.	२. करणानुयोग	१७९
३९.	३. चरणानुयोग	१८०
४०.	४. द्रव्यानुयोग	१८१
४१.	५. न्याय व्याकरणादि पठन	१८२
४२.	भोजन के अन्तरायों का कथन	१८३
४३.	अन्तरायों में भेद	१८४-८६
४४.	वितान बन्धन	१८७
४५.	मौन की आवश्यकता व उसके स्थान	१८८
४६.	जप और उसका रहस्य	१८९
४७.	ध्यान और उसके भेद	१९१
४८.	मृतदेह विर्सजन विधि	१९३
४९.	सूतक विधि व उसके चिह्न व प्रयोजन	१९६-९८
५०.	धर्म का पालन न करने वाला कैसा है	१९९
५१.	कल्याणार्थ कौन सा धर्म पालना चाहिए	२००
५२.	वीतराग के रक्षक कौन हैं	२०१

पञ्चम अध्याय

५३.	द्वितीय व्रतप्रतिमा का स्वरूप	२०४
५४.	द्वादशव्रतावलि	२०५
५५.	अहिंसाणुव्रत का स्वरूप	२०६
५६.	अहिंसाणुव्रती के लिए दोष	२०७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५७.	सत्याणुव्रत का स्वरूप	२०९
५८.	सत्यव्रती श्रावक के अतिचार	२१०
५९.	अचौर्याणुव्रत का स्वरूप	२१३
६०.	अचौर्यव्रती के न करने योग्य कार्य	२१४
६१.	ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप	२१६
६२.	ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिए वर्ज्यकार्य (स्वदार-संतोष व्रत के दोष)	२१८
६३.	परिग्रहपरिमाण अणुव्रत	२१९
६४.	परिग्रहपरिमाणव्रती के लिए त्याज्य कार्य	२२१
६५.	दिग्व्रत और उसके अतिचार	२२२
६६.	देशावकाशिकव्रत और उसके अतिचार	२२५
६७.	अनर्थदण्डत्यागव्रत और उसके अतिचार	२२७-२८
६८.	सामायिकव्रत का स्वरूप	२३१
६९.	सामायिक में नाम स्मरण	२३२
७०.	सामायिक में प्रतिक्रमण	२३३
७१.	सामायिक में करणीय कार्यों के पाँच भाग	२३३-३५
७२.	सामायिक के अतिचार	२३६
७३.	प्रोषेधोपवासप्रतका स्वरूप	२३८
७४.	प्रोयधोपवास व्रत के अतीचार	२४१
७५.	भोगोपभोगपरिमाणव्रत और उसके अतिचार	२४३-२४६
७६.	अतिथिसंविभागव्रत और उसके अतिचार	२५२-२६१
७७.	तृतीय सामायिक प्रतिमा का स्वरूप	२६७
७८.	सामायिक में वर्णनीय ३२ दोष	२७०
७९.	चतुर्थ प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप	२७४
८०.	पाचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा का स्वरूप	२७८
८१.	छठवीं रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा का स्वरूप	२८०
८२.	सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप व कार्य	२८१
८३.	आठवीं आरंभत्याग प्रतिमा के कार्य	२८७
८४.	नवमीं परिग्रहत्याग प्रतिमा का स्वरूप	२९१
८५.	दशमीं अनुमतित्याग प्रतिमा का स्वरूप	२९४
८६.	उद्दिष्टाहारत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा	२९६
	१. क्षुल्लक व्रती के कर्त्तव्य	३०३
	२. ऐलक व्रती के कर्त्तव्य	३०९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. द्वादश व्रतों में भेद ३१३
४. साधक का स्वरूप ३१४
५. आर्यिकाओं का स्वरूप ३१५
८७. मूल ग्रन्थकर्ता का परिचय ३१७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्रीकुन्थुसागरविरचितः

पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिप्रणीतया प्रभाख्यया

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्यया विभूषितः

श्रावकधर्मप्रदीपः

(श्रावकाचारः)

ग्रन्थकृतो मङ्गलाचरणं प्रतिज्ञा च

(अनुष्टुप्)

श्रीदं नत्वा जिनं भक्त्या कुन्दकुन्दमुनीश्वरम् ।
सदा शान्तिसुधर्मौ च श्राद्धसद्बोधहेतवे ।।१।।
श्रावकधर्मप्रदीपो ग्रन्थोऽयं सौख्यदो भुवि ।
लिख्यते स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ।।२।। युग्मम् ।

टीकाकृतो मङ्गलाचरणमहङ्कारपरिहारश्च

श्रीकुन्थुस्वामिनं नत्वा सूरिवर्य्यं गुणोदधिम् ।
टीकां करोमि ग्रन्थस्य महतो लघुधीरपि ।।१।।
तच्चरणाब्जसम्पर्कात् प्रत्यूहव्यूहवर्जितः ।
भविष्यामि समर्थोऽहमित्याशा हृदि वर्तते ।।२।।

श्रीदमित्यादि— श्रियम् अनन्तज्ञानादिस्वरूपलाभात्मिकामन्तरङ्गां समवशरणादिलक्षणां चक्रवर्त्यादिविभूतिभूषितां वा व्यवहारलक्ष्मीं ददातीति श्रीदस्तम्। कर्मारातीञ् जयतीति जिनस्तम् श्रीवृषभादिमहावीरान्तचतुर्विंशतितीर्थंकरनिकरमिति यावत्। भक्त्या भक्तिपूर्वकं हर्षप्रकर्षपुरस्सरम्। नत्वा नमस्कारं कृत्वा; मूलधर्मोपदेशकत्वात्तेषामेव प्रथमनमस्कारार्हत्वात्। तत्पश्चात् तदुपदेशानुसारेण स्वपरोपकारनिरताञ् श्रीकुन्दुकुन्दप्रमुखान् सूरीन् मुनीश्वरान् नत्वा। ततः श्रीकुन्दकुन्दादिस्वामिनिरूपित-परम्परायातसद्धर्माराधकं श्रीमन्तं तपोनिधिं दक्षिणप्रान्तविहारिणं स्वदीक्षागुरुम् आचार्यशान्तिसागर-स्वामिनं तथोत्तरप्रान्तविहारिणं विद्यागुरुं श्रीसुधर्मसागरमाचार्य्यमपि नत्वा। श्रद्धया सहिताः सम्यग्दर्शना-दिगुणसम्पन्ना ये श्राद्धाः श्रावकाः तेषां सद्बोधहेतवे कर्तव्याकर्तव्यविषयेषु विवेकसम्प्राप्त्यर्थम्।।१।। भुवि संसारे। सौख्यं ददातीति सौख्यदः। श्रावकाणां धर्ममार्गप्रकाशने प्रदीपरूपत्वात् 'श्रावकधर्मप्रदीपः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यन्वर्थनामा अयं ग्रन्थः। स्वात्मन्येव तुष्टेन तृप्तेन सर्वविषयाभिलाषरहितेनेति यावत् । श्रीकुन्थुसागरसूरिणा लिख्यते विरच्यते।।१-२।।

केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा समवशरणादि स्वरूप या चक्रवर्ती आदि की विशेष विभूतिरूप बाह्य लक्ष्मी ऐसी दोनों प्रकार की लक्ष्मी को प्रदान करने वाले तथा कर्मशत्रु पर विजय प्राप्त करने वाले श्री जिनेन्द्रदेव को विनय व हर्ष सहित नमस्कार करके तत्पश्चात् उनके मार्गानुसारी श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्यों को मुख्य लेकर भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा में चले आए हुए आचार्य वर्ग को भी प्रणाम करके तथा इसके बाद दक्षिणप्रान्त में विहार करने वाले अपने दीक्षागुरु श्री आचार्य शान्तिसागर स्वामी तथा उत्तरप्रान्त विहारी स्वर्गीय विद्यागुरु श्री सुधर्मसागर आचार्य को भी सदाकाल प्रणाम करके श्रद्धागुणसम्पन्न होने से जिन्हें 'श्राद्ध' संज्ञा प्राप्त है ऐसे श्रावकों की उनके कर्त्तव्य अर्थात् करने योग्य तथा अकर्त्तव्य अर्थात् न करने योग्य कार्यों के विवेक की प्राप्ति के लिए श्रावकों के धर्म को प्रकाशित करने वाला दीपक की तरह यह 'श्रावकधर्म प्रदीप' नामक ग्रन्थ विषयवाञ्छा से दूर परम वीतरागी निस्पृह अतएव स्वात्मसंतोषी श्री कुन्थुसागर आचार्य महाराज के द्वारा लिखा जा रहा है।।१-२।।

धर्माराधक गृहस्थ ३ प्रकार के माने गए हैं— १. पाक्षिक, २. नैष्ठिक, ३. साधक। इनमें से पाक्षिक श्रावकों के स्वरूप को जानने के लिए किसी शिष्य ने प्रश्न किया।

प्रश्न—पाक्षिकश्राद्धकाणां किं चिह्नमस्ति गुरो वद?

हे गुरुवर? पाक्षिक श्रावकों की क्या पहिचान है। ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

पाक्षिकों का चिह्न

(अनुष्टुप्)

अहिंसैव परो धर्मः स एको विश्वरक्षकः ।
आचन्द्रं प्राणिनां चित्तेऽतस्तिष्ठतु सदा मुदा ।।३।।
तदन्यः केवलं पक्षो मिथः स्याद्वैरवर्धकः ।
इत्येव निश्चयो यस्य विवेकी स च पाक्षिकः ।।४।।

अहिंसेत्यादि— पाक्षिकाणां स्वरूपं प्रतिपादयिष्यन्नाचार्यः परमधर्मस्वरूपायाः भगवत्या अहिंसाया महतोमुपयोगितां वक्ति- अहिंसा नाम सर्वप्राणिपीडापरित्यागः स एव एकोऽद्वितीयः विश्वस्य प्राणिमात्रस्य रक्षकः कल्याणकारकः परमोत्कृष्टो धर्मोऽस्ति। हिंसात एव अखिलसंसारस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाशो भवति; हिंसायाः स्वयं विनाशरूपत्वात् तद्विरुद्धस्वरूपाया अहिंसाया विश्वरक्षकत्वं सकललोककल्याणकारकत्वं च सुतरां सिद्धमेव। स परः पवित्रधर्मः प्राणिनां चित्ते मनसि सदा निरन्तरं मुदा हर्षेण आचन्द्रं चन्द्रस्य स्थितिर्यावत् संसृतौ वर्तते तावत्कालपर्यन्तम् सर्वकालम् इति यावत् तिष्ठतु निवसतु।।३।। यतः कारणात् सकललोकमङ्गलकारकत्वम् अहिंसायामेव तिष्ठति तस्मात् सा एव सर्वोत्तमां धर्मपद्धतिमास्कन्दति। पाक्षिकस्य इयमिच्छा सदा वर्तते यत्साऽहिंसा प्राणिनां हृदि सदैव स्यात् यया मम सर्वलोकस्य च मङ्गलं भवेत्। अहिंसाधर्मव्यतिरिक्तः हिंसारूपो धर्मोऽस्तीति असत्पक्षः प्राणिषु मिथः परस्परं केवलं वैरवर्धक एव। यः खलु कश्चिदपरं घातयति स इह जन्मनि असमर्थोऽपि जन्मान्तरे यदा शक्तिशाली भविष्यति तदा स्वपूर्वघातकं घातयिष्यति, सोऽपि जन्मान्तरे शक्तिको भूत्वा तेन स्ववैरं निष्कासयिष्यति इति भाविजन्मपरंपरासु वैरपरंपरावर्धकत्वात् हिंसाधर्मः न स्वस्य कल्याणकारको भवति नापरस्य च। इत्येवंप्रकारो यस्य निश्चयः वर्तते स विवेकशील एव 'पाक्षिकः' इति कथ्यते।।३-४।।

प्राणिमात्र की हिंसा से दूर रहना ही अहिंसा धर्म है, वही सर्वोत्तम धर्म है। तथा उस अहिंसा धर्म में ही लोककल्याण करने की परिपूर्ण शक्ति निहित है। इसमें किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना आदि जो-जो भी कार्य धर्म के नाम पर व्याख्यात किए जाते हैं। वे केवल पक्ष मात्र हैं उनसे परस्पर में बैर ही बढ़ता है। इसलिए अहिंसा परमधर्म जीवधारियों के हृदय में सदा काल निवास करे इस प्रकार का पक्ष जिसका हो वही विवेकी पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

भावार्थ— प्राणियों को उनके इष्ट अर्थात् वास्तविक सुख को जो प्राप्त करा दे उसे धर्म कहते हैं। अपनी कल्याण कामना करने वाला हर एक जीव इसीलिए धर्म की आकांक्षा करता है। धर्म का ही दूसरा नाम कर्त्तव्य है। जो इष्टकारक है वही तो कर्त्तव्य है। दुःखाभाव को ही सुख कहते हैं। अनादिकाल से दुःख के सागर इस संसार में भ्रमण करनेवाले प्राणी की यह इच्छा स्वाभाविक है कि वह अब इस दुःख के सागर से अपना उद्धार करे। इसीलिए वह अपने कर्त्तव्य (धर्म) की खोज में है कि कब वह उपाय हाथ लगे कि मैं दुःख से निवृत्त हो जाऊँ। हिंसा स्वयं दुखरूप है। परप्राणघातक मनुष्य स्वयं क्रोधादि बुरे परिणामों के अधीन होकर दुःखी होता है और फिर दूसरे के प्राणों को भी पीड़ित कर दुःख पहुंचाता है। इसका फल यह होता है कि दोनों में परस्पर वैर का बंध होता है। न केवल इस जन्म में, बल्कि जन्मान्तरों में भी। जो शक्तिशाली होता है वह अपने पूर्व जन्म के वैरी को दुःखी किए बिना नहीं रहता और वह दुखी किया हुआ प्राणी भी उसी जन्म में या जन्मान्तर में शक्तिशाली बनने पर अपना वैर निकालता है। इसका फल यह होता है कि परस्पर वैर की परम्परा उनमें चलती रहती है। यह तो एक प्राणी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के साथ चलनेवाले वैर की कथा है। यदि वह अनेक जीवों से हो तो फिर उस दुःख परम्परा का कहना ही क्या? इसका सारांश यह हुआ कि जब हिंसा स्वयं विनाशशीलता के कारण अमर रहने की इच्छा रखने वाले प्राणिमात्र के लिए दुःखरूप है तो उसके विरुद्ध तत्परित्यागरूप अहिंसा अवश्य ही सुखदायिनी होगी। यह अहिंसा यदि एक प्राणी के साथ व्यवहार में लाई जावे तो वह जैसे उसमें बन्धुत्व की भावना उत्पन्न कर देती है उसी तरह यदि प्राणिमात्र के प्रति प्रयोग में लायी जावे तो विश्व के सभी प्राणियों में बन्धुत्व की भावना जागृत कर सकती है। यही कारण है कि नीतिकारों ने उदार चरित महापुरुषों के लिए सारे विश्व को ही कुटुम्ब मान लिया है। हमने यदि विश्व के प्राणी मात्र में बन्धुत्व भावना उत्पन्न कर ली है तो हम उनके प्रति हिंसक नहीं होंगे, साथ ही विश्व के वे सब प्राणी भी हमारे प्रति अहिंसक रहेंगे। इस तरह हम लोक के रक्षक और लोक हमारा रक्षक बन जाते हैं। यदि विश्व के समस्त प्राणी ऐसा ही विचार कर अहिंसा धर्म स्वीकार कर लें तो यह निःसन्देह है कि विश्व में युद्ध और कलह की समाप्ति हो जावे। इससे यह बात सप्रमाण सिद्ध है कि अहिंसा ही विश्व की रक्षा करने में समर्थ है। इसलिए वही प्राणिमात्र के लिए श्रेष्ठतम धर्म है। मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पथ दिखाने के लिए नाना धर्मों की सृष्टि मनुष्य समाज के ही अनेक व्यक्तियों ने कर ली है। सबका यह दावा है कि मेरा चलाया हुआ धर्म ही प्राणी को सुपथ पर ले जावेगा और उससे भिन्न धर्म कुपथ पर। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न पक्ष केवल पक्षमात्र हैं। उनसे धर्म के नामपर पारस्परिक कलह बढ़ने के सिवाय कोई लाभ नहीं, यह भी एक अर्थ श्लोक में निहित है। अतएव सर्व प्राणियों के लिए अनुभूत और परीक्षित श्रेष्ठ धर्म अहिंसा ही है। अतएव उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है। पाक्षिक श्रावक के ऐसे विचार रहते है कि वह लोक कल्याणकारी धर्म मेरे हृदय से कभी दूर न होवे। वह तब तक मेरे मन में निवास करे जब तक संसार में चन्द्रमा स्थित है अर्थात् जिस तरह द्रव्यदृष्टि से चन्द्रमा कभी नाश को प्राप्त नहीं होगा उसी तरह यह अहिंसा परम धर्म भी मेरे मन से कभी दूर न होवे।। ३-४।।

प्रश्न— सद्गुरोर्विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य वा?

प्रशस्तधर्मोपदेशक एव सद्गुरुः तस्य सम्बन्धे पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति इति पृच्छति शिष्यस्तदा तं समादधात्याचार्यः—

सच्चा गुरु, जो कल्याणकारक मार्ग को ठीक तरह से बता सके, कौन है इस विषय में, पाक्षिक क्या समझता है? ऐसे शिष्य के प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इन्द्रवज्रा)

निर्ग्रन्थसाधुः सुखदः सदैव मान्योऽपि बन्द्योऽखिलविश्वशान्त्यै।
त्याज्यस्तदन्योऽखिलविश्ववैरी स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति।।५।।

निर्ग्रन्थसाधुरित्यादि—यस्य पुरुषस्य सद्गुरोर्विषयेऽनेन प्रकारेण निश्चयो वर्तते स एव पाक्षिकः श्रावकः। यत् अखिलविश्वशान्त्यै सद्गुरुरेव माननीयः। लोकेऽस्मिन् पण्डितंमन्या बहवो वेषधारिण आत्मनो गुरुत्वं द्योतयन्तः परिभ्रमन्ति किन्तु न ते सद्गुरवः। यः खलु परिग्रहाशाम्परित्यज्य केवलं परोपकारवृत्तित्वाच्छन्मार्गमुपदिशति स एव सद्गुरुः। स एव सद्गुरु यः खलु निर्ग्रन्थः ग्रन्थेन धनधान्यादिदशविधेन बाह्येन, क्रोधाद्यात्मकेन चतुर्दशभेदेनान्तरङ्गेण च परिग्रहेण रहितो निःसंग इति यावत्। तथा स एव सद्गुरुः यः स्वपरोपकारं साध्यति। तत्साधनमेव यस्य ध्येयं स साधुः। प्राणिनां कल्याणकारकमार्गप्रदर्शकत्वात् स एव सुखदो भवति, स एव माननीयः वन्दनीयश्च भवति। एवंभूतेनैव गुरुणा लोके पारस्परिकवैरविरोधपरिहारेण शान्तिर्भवति। तद्भिन्नः खलु विषयाभिलाषी तदभिलाषसाधकः कुगुरुः स्यात्। कुगुरुः किल न केवलं स्वात्मानं नाशयति अपि तु अखिललोकान् स्वविषयाभिलाषपोषणाय कुमार्गं दर्शयन् तेषां प्रति शत्रुत्वं करोति। अत एव स खलु विश्ववैरी। अनादिपरम्परया परिभ्रमन्तः प्राणिनः संसारदुःखादात्मनस्समुद्धारवाञ्छया धर्मोपदेशिनां सद्गुरुणां चरणानाश्रयन्ति। मिथ्यागुरुः किल दुःखादुद्विग्नानां तेषां शिष्याणां वैराग्यभावनया स्वार्थसाधनाय गुरुवेषमङ्गीकृत्य संसारमार्गभीताञ् शिष्यान् कुमार्गे नयति। अतएव स स्वपरकल्याणद्रोही विश्ववैरी एव। विश्वं कलहकारिणि दुखात्मके विषयाभिलाषमार्गे परिभ्रामयन् तद्वैरित्वं स्थापयति। अतएव च विश्ववैरी। अतएव सोऽवश्यमेव त्याज्यः।।५।।

संसार में शान्ति-स्थापन करनेवाला परिग्रह और विषयाभिलाषा से रहित स्व-परोकार-साधक साधु ही सदा माननीय व वन्दनीय सुखदाता होता है। इससे भिन्न संसार के दुःखों से उद्विग्न पुरुषों को कुमार्ग में ले जानेवाला कुगुरु विश्व का वैरी है। अतएव वह त्याग देने योग्य है, ऐसा जिसके हृदय में निश्चय है वह विचारवान् पाक्षिक श्रावक है।

भावार्थ— इस संसार में अनादि परम्परा से नाना योनियों में परिभ्रमण करता और तरह-तरह के दुःख उठाता हुआ यह प्राणी जब अपने कल्याण मार्ग के ढूँढ़ने की अभिलाषा से धर्म का आश्रय पकड़ने के लिए फिरता है उस मसय अपने स्वार्थ के साधन करने की इच्छा रखनेवाले अनेक विषयाभिलाषी पुरुष उसे धोखा देकर भी स्वार्थ सिद्ध कर लेने की गरज से गुमराह करते हैं। संसारोद्धारक, परमवीतरागी, निस्पृह, विषयों की वांछा से दूर और धन-वैभव को लात मारकर आत्मशुद्धि के लिए तपस्या का मार्ग आश्रय करनें वाले सच्चे साधुओं के विशुद्ध मार्ग को मलिन करनेवाले ऐसे बहुत से साधु हैं जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने को उसी मार्ग में चलनेवाला घोषित करते तथा बाह्य में तदनुकूल वेष रखते हैं, किन्तु अन्तरंग में कपट का भाव रखते हुए धर्म मार्ग में जानेवाले उन प्राणियों को व्यर्थ ही कुमार्ग में भटका देते हैं।

यह संसारी प्राणी मोह मदिरा पिए हुए वैसे ही इन्द्रियों का दास है। उनकी आकांक्षाओं को पूरा करते-करते उसका जीवन ही समाप्त हो जाता है। विषयपूर्ति के लिए ही उसे देश-देश, वन-वन छान डालने पड़ते हैं। वह बड़ा से बड़ा जोखिम भी प्राणों की बाजी लगाकर उठा लेता है। उसके इस कार्य में यदि कोई विघ्नकारक हो तो उसे वैरी समझकर यह उससे कषाय करता है और कषाय के निमित्त से भी अनेकानेक पाप करता है। इन सब बातों से वह भी इतना परेशान है कि उसे स्वयं कुछ मार्ग नहीं सूझता। वह चाहता है कि मैं उलझनों को सुलझा लूँ, वह परन्तु जब सुलझाने जाता है तब एक न एक नई उलझन में फँस जाता है। इसका कारण यह है कि उसने विपरीत मार्ग ग्रहण कर रखा है। दुःखनिवृत्ति का जो मार्ग है वह उसने नहीं पाया और दुःखोत्पादक मार्ग को ही सुख का मार्ग समझकर भटक रहा है। पूर्व को जाने की अभिलाषा करने वाला यदि मार्गभ्रष्ट होकर पश्चिम या उत्तर को चला जावे तो निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम करने पर भी वह अपने ध्येय को नहीं पा सकता, इसी तरह विषय कषाय से परिपूर्ण मार्ग में भ्रमण करते हुए प्राणी को बहुत प्रयत्न करते हुए हो गया पर सुख नहीं मिला। शान्ति की इच्छा रखने वाला यह प्राणी जब दुःख दूर करनेवाले मार्ग की खोज में किसी मार्गदर्शक को ढूँढ़ता है तब अनेक वञ्चक उस विरक्त पुरुष का धन बटा लेने की गरज से परम-पवित्र धर्मोपदेश के मार्ग को मलिन करते हुए अपने को सद्गुरु घोषित करते हुए उसे भटका देते हैं। वे सारे विश्व के प्राणियों को लिए धर्मोपदेशक का जामा पहिनकर भी स्वार्थमय उपदेश देकर विश्व का अहित करते हैं। इसीलिए उन्हें विश्व का वैरी कहना युक्तिसंगत है। जब तक यह मनुष्य उनको पहिचान कर उनका संसर्ग न छोड़ेगा तक तक उसे सुमार्ग प्राप्त न होगा। सुमार्ग प्राप्त करने की अभिलाषा करनेवाले को सद्गुरु की पहिचान करनी होगी। सद्गुरु वही है जिसे स्वयं विषयाभिलाषा न हो, कषायवान् न हो, हिंसा के कारणभूत आरम्भ व परिग्रह से सर्वथा रहित हो तथा ज्ञान ध्यान व तपस्या करना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य हो। वही विश्व को शान्तिमय मार्ग बता सकता है, ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही पाक्षिक श्रावक है।।५।।

प्रश्न—देवस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोऽसौ देवः? किं च तत्स्वरूपम् ? तत्सम्बन्धे पाक्षिकस्य मे कीदृग्भावो भवतीति पृष्टः सन्नाचार्य प्राह।

देव कौन है? उसका क्या स्वरूप है? मुझ पाक्षिक को इस विषय में कैसा भाव रखना चाहिए? इस प्रश्न पर अचार्य उत्तर देते हैं--

(इन्द्रवज्रा)

श्रीवीतरागेव हितोपदेशी सर्वज्ञदेवोऽपि स एव योग्यः।
निर्दोषयोगादिति सर्ववन्द्यः स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति।।६।।

श्रीवीतरागीत्यादि— यस्मिन् प्राणिनि निर्दोषत्वं वर्तते स एव देवः। समासतो रागद्वैषौ एव दोषौ सर्वदोषाधायकत्वात्तयोरेव प्रमुखत्वम्। व्यासतस्तु जन्म-मरण-जरा-पिपासा-क्षुधा-खेद-मद-मोह-भय-चिन्ता-रोग-शोक-राग-वैर-विस्मय-अर्ति-स्वेद-निद्राः इत्यष्टादश दोषाः। एतैरेव जन्तवः संसारे परिपीडयन्ते। एभ्य एव मुक्तिः प्राणिनामभीष्टा। सैव च परमं सुखमिति। संसारज्वरोत्पन्नसंतापनिदानं परिज्ञाय यैनैते दोषाः समुन्मूलिताः स वीतरागीति। वीतरागिण एव सर्वज्ञत्वमाप्नुवन्ति, ज्ञानस्वरूपत्वादात्मनः। दोषभावे न कोऽपि बाधको यः किल आत्मानं स्वरूपसंप्राप्तिमार्गे रुन्ध्यात्। इत्यनेन प्रकारेण वीतरागत्वं सर्वज्ञत्वञ्च प्राप्नुवन् पुरुष एव प्राणिनां हितकारकं मार्गम् उपदेष्टुं क्षमते, यतः स्वार्थवासनारहितानामेव परिपूर्णज्ञानिनां हितोपदेशकत्वं संभवति। अथवा प्राप्तपरिपूर्णस्वार्थानामेव निश्चयतः परोपकारकरणवृत्तिः सम्भवति। न खलु वीतरागत्वसर्वज्ञत्वयो र्हितोपदेशित्वेनैव व्याप्तिः सर्वत्र, किन्तु यः किल यथार्थतया हितमुपदिशति तेन सर्वज्ञेन वीतरागेण च भवितव्यमेव, अन्यथा तस्य हितोपदेशित्वं न स्यात्। वीतरागत्वं सर्वज्ञत्वञ्चापन्नाः मूककेवलिनः निरुद्धयोगा अयोगकेवलिनः सिद्धपरमेष्ठिनश्च सन्ति ये नोपदिशन्ति, अतः परिपूर्णपदार्थग्राही वैरस्नेहादिदोषविनिर्मुक्तः एव जीवानां हितमार्गप्रदर्शने प्रभवति तथा स एव निर्दोषत्वात् सर्वैरेव जनैर्वन्दनीयश्च स्यात्। एतदेव लक्षणं देवत्वस्य। इति गुणत्रयविशिष्ट एव देवः इति यस्य हृदि निश्चयो वर्तते स किल पाक्षिकः समस्ति।।६।।

राग-द्वेषादि १८ दोषरहित वीतरागी तथा परिपूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही हित का उपदेश देने के योग्य है। इस तरह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी इन गुणों सहित होना ही देव का सच्चा लक्षण है। जिसमें ये गुण नहीं वह देव कहलाने योग्य नहीं। सच्चा देव निर्दोष होने के कारण ही जगत्पूज्य होता है, ऐसा जिस गृहस्थ को निश्चय है वह पाक्षिक है।

भावार्थ— प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी आदर्श को सामने रखकर ही अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है, बिना ऐसा किए उसे इष्ट-सिद्धि के लिए मार्ग ही नहीं मिलता। संसार परिभ्रमण के दुःख से दुःखी प्राणी जब धर्म के मार्ग में आता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है तब यह देखता है कि इस मार्ग पर मेरे पूर्व चलनेवाले सज्जन कौन हैं और उनमें क्या-क्या गुण थे? धर्ममार्ग के आदर्श पुरुष ही 'देव' संज्ञा को प्राप्त करते हैं, इसलिए उन्हें 'देव' नाम से ही सम्बोधित किया है।

'देव' संसार के दुःखों से पार हो चुके है, हमें भी पार होना है इसलिए अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें 'देव' की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। दुनियाँ के दूसरे-दूसरे विभागों की तरह इस विभाग में भी अपने को 'देव' बताने वाले व्यक्ति बहुत हैं, जो हमें अपने उपदेश के अनुसार चलने को बाध्य करते हैं। यहाँ हमें यह देख लेना आवश्यक है कि इनमें सच्चा देव कौन है, जिसे आदर्श मानकर हम उसकी शिक्षा ग्रहण कर अपना कल्याण कर सकें। उस देव का स्वरूप या उसकी पहिचान यही हो सकती है कि हम जिन राग-द्वेष-मद-मोह आदि १८ दोषों से परिपूर्ण हैं और दुःखी हैं, उस देव में ये दोष न हों हम जिस अपरिपक्व ज्ञान, जिसे अज्ञान कह देना भी अनुपयुक्त नहीं, के कारण भी मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। उस देव में यह दोष भी न हो, वह परिपक्व पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) हो तथा सर्व प्राणियों के हित की भावना के संस्कार से जिसका उपदेश होता हो। इन तीन गुणों से जो सहित है वही 'देव' पद के योग्य है, वही निर्दोष होने के कारण विश्व-वंद्य है और वही दोषविजयी होने से 'जिन' कहलाता है। पाक्षिक गृहस्थ के हृदय में 'देव' के सम्बन्ध में उक्त विचार निश्चित रहते हैं। वह इन गुणों से रहित व्यक्ति को देव नहीं मानता। उसे दुःखोन्मोचन के मार्ग में साधक न मानकर बाधक ही समझता है। इसलिए उससे दूर रहने का सदा ध्यान रखता है, इस विचार से कि कहीं मैं भुला न दिया जाऊँ कि जिससे वास्तविक मार्ग से दूर हो जाऊँ॥६॥

प्रश्न—शास्त्रस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे?

धर्मोपदेशने शास्त्राणामपि महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते इति तस्य किंलक्षणम् तद्विषये मे पाक्षिकस्य कीदृग्विचारः कार्य इति प्रश्ने उत्तरयति—

धर्मोपदेश के कार्य में शास्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है इसलिए शास्त्र के सच्चेपन की क्या पहिचान है इस सम्बन्ध में मुझे क्या विचार रखना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

बोधप्रदं वैरहरं मिथः कौ श्रीदं जिनोक्तं हि सदेति शास्त्रम्।
आचन्द्रसूर्यं पठितुं प्रमाणं स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति॥७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोधप्रदमित्यादि– जिनोक्तम् उक्तलक्षणगुणविशिष्टेन जिनेन उक्तं समुपदिष्टम् बोधप्रदम् अज्ञाननिवृतिपूर्वकं सम्यग्ज्ञानसंपादकम्। श्रीदं श्रियम् अन्तरङ्गलक्ष्मीम् शोभाञ्च ददातीति श्रीदम् । शास्त्रज्ञानेन जीवानां स्वपरभेदज्ञानं भवति तदेव तस्य शोभा। अथवा शास्त्रोपदिष्टमार्गमनुसरन् संसारी संसारस्थदेवेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र तीर्थकरनारायणादिपर्यायसंभवविभूतिविशेषानप्यवाप्नोति स्वपरविभेदपूर्वकम् अनन्तज्ञानदर्शनसुखाद्यात्मकस्वापूर्वसंपत्तिं च प्राप्नोति इति शास्त्रं श्रीदम् । उक्तगुणद्वयविशिष्टमेव शास्त्रं कौ पृथिव्यां सर्वप्राणिनां पारस्परिकं वैरमपहरति यतः पारस्परिकमैत्रीसमुत्पादने शास्त्राणामेवोपयोगदर्शनात् तदेव च सच्छास्त्रम् । वैरविरोधवर्धकत्वात् अहितमार्गप्रदर्शकत्वाच्च शेषमसच्छास्त्रम् इति यावत् । आचन्द्रसूर्यं यावच्चन्द्रदिवाकरौ सच्छास्त्रं पठितुं प्रमाणम् । इत्थं शास्त्रस्य विषये यस्य निश्चयः स च पाक्षिकोऽस्ति।।७।।

सच्चे देव का उपदेश ही सच्चा शास्त्र है। उसकी पहिचान यह है कि वह अज्ञान निवृत्ति कर जीवों को वास्तविक बोध देता है। लोक व परलोक में लक्ष्मी को देनेवाला अर्थात् बाह्यसंपत्ति व ज्ञानसंपत्ति को बढ़ानेवाला होता है। साथ ही वह ऐसा होता है कि जिसे सुनकर पृथिवी के प्राणी अपना पारस्परिक वैर छोड़कर प्रेम व सहानुभूति के मार्ग पर उतर आवें। ऐसे शास्त्र सदाकाल जबतक दुनियाँ में सूर्य और चन्द्रमा हैं पठन-पाठन के योग्य प्रमाणीभूत हैं।

भावार्थ– इस लोक में शत्रुओं को परास्त कर अपना राज्य वैभव व सम्पत्ति की रक्षा कर लेने के लिए जैसे शस्त्र की उपयोगिता है उसी तरह अपने दुर्गुणरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्र की भी आवश्यकता है। शास्त्र की प्रमाणता की छाप लोगों के हृदयों पर बराबर अङ्कित है। वेद-स्मृतिपुराणादि सब शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं और उनका उपदेश ही लोक में ग्राह्य माना जाता है। मुसलमान भाइयों और ईसाइयों के यहाँ भी कुरान और बाइविल के नाम से शास्त्रों की प्रमाणता सिद्ध है। हरएक सम्प्रदाय का व्यक्ति किसी विवादग्रस्त विषय को सुलझाने के लिए खोज करता है कि इस विषय में धर्म की पुस्तक क्या कहती है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि शास्त्र की प्रमाणता की छाप हर सम्प्रदाय के व्यक्ति-व्यक्ति पर अंकित है। इसका कारण यह है कि सम्यग्धर्मोपदेष्टा का मूलतः अभाव होने के कारण लोग उन प्राचीन पुस्तकों को देखकर निर्णय करना चाहते हैं जिनको जमाने का परिपूर्ण अनुभव करके आज से सदियों पहिले लोग लिख गए हैं। अथवा वे मानते हैं कि वह ईश्वरीय पुस्तक है या उसकी देन है या उसका उपदेश है। सारांश यह है कि ईश्वर या 'देव' के विषय में लोगों को जितना आदर है उतना ही आदर उसकी वाणी के प्रति भी है। इससे यह बात सहज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध हो जाती है कि शास्त्र वही प्रमाणीभूत है जो परमवीतरागी, निस्पृह, पूर्णज्ञानी, और परोपकारी इन गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति द्वारा उपदेशित किया गया हो। वचन की प्रमाणिकता वक्ता की प्रमाणिकता से है। प्रत्येक व्यक्ति इतनी सामर्थ्य नहीं रखता कि वह उपदेशित विषय की सत्यता असत्यता की परीक्षा स्वयं कर सके। इसके लिए भी महान् ज्ञान गंभीर अध्ययन व अनुभव की आवश्यकता है जो कि प्रत्येक व्यक्ति में सम्भव नहीं, अतएव किसी भी वचन में प्रामाणिकता के सम्बन्ध की परीक्षा का मापदण्ड वह व्यक्ति होता है जिसने उक्त वचन कहा हो। यदि वक्तापूर्ण ज्ञानी है तो यह निश्चय कर लिया जा सकता है कि वह वस्तु का स्वरूप बतलाने में भूला नहीं होगा। अज्ञानी या अपूर्णज्ञानी कितना भी परोकार दृष्टिवाला स्वार्थ-वासनारहित हो, पर उसके कहने में ज्ञान की कमी के कारण भ्रम होना नितान्त सम्भव है। इसलिए वक्ता को पूर्णज्ञानी होना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान रखने वाला भी व्यक्ति यदि परोपकरण वृत्तिवाला नहीं है तो वह क्यों किसी को हित मार्ग का उपदेश करेगा? यह कार्य वही करेगा जिसे यह भावना हो कि अज्ञानता के कारण संसार के जो प्राणी भटक रहे हैं उनको सन्मार्ग सुझाया जावे ताकि ये दुःख के मार्ग से दूर होकर अपने को सुखी बना सकें। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि उस वक्ता को पूर्णज्ञानी की तरह परोपकार वृत्तिवाला भी होना आवश्यक है। परोपकारी व ज्ञानी पुरुष भी यदि किसी के प्रति स्नेह और किसी के प्रति विरोधी भावना रखनेवाला होगा तो भी उससे जनता का यथार्थ हित न हो सकेगा। वह अपने स्नेह-भाजन व्यक्तियों को हितकारक मार्ग अवश्य बतायगा पर जिनके प्रति विद्वेष की भावना होगी उसे तो विरुद्ध मार्ग ही बतायगा। लोक में ऐसी घटनाएँ सदा देखने में आती हैं। इसलिए वक्ता में पूर्णज्ञानित्व और परोपकारवृत्तित्व की तरह वीतरागद्वेषित्व अर्थात् स्नेह और वैर रहितत्व-सर्व-जीव-समभाव होना-यह गुण भी आवश्यक है। परोपकारवृत्ति उन्हीं पुरुषों की होती है जिन्हें जीवमात्र पर समभाव होता है। उसे भेद-भाव की भावना दूर रखनी पड़ेगी। मान लो, एक आदमी सड़क पर बीमार और दुःखी पड़ा है, ठंड के मारे अकड़ रहा है, यद्यपि उसके पास ओढ़ने को कम्बल है तो भी वह बेहोश होने के कारण उससे अपना शरीर नहीं ढाँक सकता। ऐसे समय परोपकारवृत्तिवाला गृहस्थ वही हो सकता है जो उस पर अपने भाई-बन्धुओं की तरह समभाव रखता हो- वही व्यक्ति उसे कम्बल से ढक देगा, औषधि का उपचार करने के लिए यदि वह स्वयं वैद्य (जानकार) न होगा जो कि पूर्ण परोपकार कर सकने के लिए उसे होना चाहिए तो किसी योग्य जानकार व्यक्ति का जो वैद्य हो संयोग जोड़ेगा।

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

स्वयं घर लाकर उसकी सेवा करेगा और उसे चंगा कर देगा। जो इतना नहीं कर सकता तो समझना चाहिए कि अभी उसके सर्वजीवसमभाव नामक वृत्ति पैदा नहीं हुई। अभी उसे स्वजन और परजन का भेद है, एक से स्नेह और अपर से स्नेहाभाव है। यदि उसके ऐसा भाव न होता तो वह वीतराग और वीत-द्वेष समझा जाता और वह परोपकारी होने का दावा कर सकता था। इससे यही सिद्ध होता है कि वक्ता में उक्त गुण यदि हो तो ही उसके वचनों में प्रमाणता आ सकेगी अन्यथा नहीं। इसलिये सर्वसाधारण पुरुष जो स्वयं तत्त्व-परीक्षा करने में असमर्थ हैं, वे वक्ता को गुणवान् देखकर ही उपदेश की उपयोगिता या अनुपयोगिता को स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए सच्चे शास्त्र की परीक्षा का पहिला चिह्न है कि वह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी 'देव' या 'जिन' के द्वारा कहा गया हो।।७।।

दूसरा विशेषण यह है कि सच्चा शास्त्र वह है जो बोधप्रद हो अर्थात् वास्तविक बोध कहिये— ज्ञान उत्पन्न करनेवाला हो। इस विशेषण की आवश्यकता इसलिए हुई कि सदा सर्वज्ञ परमात्मा संसार में स्थित नहीं रहते। वे तो लोकोपकारक उपदेश देकर मुक्ति दशा को प्राप्त हो जाते हैं। फिर हजारों वर्षों के बाद सर्वसाधारण जनता कैसे निर्णय करे कि यथार्थतया उस परमात्मा का उपदेश कौन शास्त्र में लिखा है, क्योंकि परमात्मा के मुक्ति गमन के बाद अपने को परमात्मा प्रसिद्ध करनेवाले भी अनेक व्यक्ति होते आये हैं और उन्होंने भी जनता के हित का दावा करते हुए पुस्तकें लिखी हैं। उनमें कौन सत्य हैं कौन नहीं इसका निर्णय कैसे होगा? इसका निर्णय करने के लिए हमें अब केवल वक्ता की प्रामाणिकता से वस्तु की प्रामाणिकता की बात भुलानी होगी और इसकी परीक्षा करनी होगी कि ईश्वर के उपदेश के बाद जो परम्परा चली आई है किन्तु अनेक अहम्मन्य हितोपदेशियों के विभिन्न उपदेशों में मिलकर पहिचानने में नहीं आती आखिर उसकी पहिचान कैसे होगी? उसकी पहिचान होगी उपदेशित तत्त्व की परीक्षा से। वह परीक्षा ही ग्रंथकर्त्ता आचार्य ने 'बोधप्रद' विशेषण द्वारा प्रकट की है। यह देखना होगा कि हमें किस शास्त्र के अध्ययन से बोध अर्थात् वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है? वस्तु का यथार्थ ज्ञान क्या है इसका निर्णय भी सर्वसाधारण का कार्य नहीं। इसलिए उसकी कसौटी "कौ मिथः वैरहरं" इन शब्दों में आचार्य महाराज ने प्रतिपादित की है अर्थात् जिस शास्त्र का उपदेश हमारे परस्पर कलह, वैर, विरोध, ईर्षा, डाह आदि को छुड़ाकर प्रेम व सहानुभूति का पाठ पढ़ावे समझ लो कि वही शास्त्र सच्चा शास्त्र है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पहिले राग-द्वेषरहित होना ही श्रेष्ठ बताया गया था और अब केवल वैर छोड़कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर अनुराग का उपदेश कैसे दिया गया? उसका समाधान यह है कि त्याग के मार्ग में भी कुछ क्रम है। पहिले द्वेष का त्याग होगा, द्वेष का त्याग करके सर्व जीवों पर स्नेह भाव रखना यह वीतरागी बनने की पहिली सीढ़ी है। जिसने द्वेष भाव पर विजय प्राप्त कर ली और सबसे स्नेह करने लगा वह व्यक्ति भी जबतक अपने स्वार्थसाधक व्यक्तियों को स्वजन मानकर अधिक स्नेह और शेष पर केवल द्वेषभाव मात्र स्नेह रखता है तबतक वह पूर्ण वीत-द्वेष नहीं कहा जा सकता। उसे अभी अपने स्नेह को बखेरने में उदारता से काम लेना होगा। जब वह ऐसा कर सकेगा और 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का परिपूर्ण अनुयायी हो जायगा तब समझा जावेगा कि वह पूर्ण वीतरागी हुआ। सच्चा शास्त्र पारस्परिक कलहोत्पादक उपदेश की रचना नहीं कर सकता। यह सुनिश्चित है कि वक्ता के हृदय का भाव उसके वचनों में अवश्य अंकित हो जाता है। अपने भावों को दूसरों को समझाने के लिए ही तो मनुष्य को शब्दों का आश्रय लेना पड़ता है। तब यह कैसे संभव हो सकता है कि हितोपदेशी वीतरागी सर्वजीवसमभावी सर्वज्ञ भगवान् के वचनों में पारस्परिक वैर को दूर करने वाला उपदेश न हो? इससे यह सिद्ध है कि सच्चा शास्त्र वही है जो जिनोक्त हो और उसकी परीक्षा यही है कि वह हमारे पारस्परिक कलह को जो सम्प्रदायभेद के कारण भी उत्पन्न हो जाती है उसको प्रोत्साहित न करे। बल्कि जो मत विभिन्नता को दूर कर सर्वहितकारी कर्त्तव्यों की ओर प्राणिमात्र का ध्यान आकर्षित करे।

प्रायः देखा जाता है कि अपने विषय को प्रतिपादन करने के लिए और उसका प्रभाव जनता पर जमाने के लिए लोग आत्म-प्रशंसा व परनिन्दा इस पद्धति को अंगीकार कर लेते हैं। परन्तु सच्छास्त्र इसे दोष ही बताते हैं। इसे निन्दनीय तथा नीच गोत्र का बंध करानेवाला अर्थात् उसे इस लोक में नीच विचारवाला घोषित ही नहीं करते, बल्कि जन्मान्तर में भी ऐसे व्यक्ति को "नीच विचारवाला लोकनिन्द्य होगा" ऐसा घोषित करते हैं। आत्म-प्रशंसा और परनिन्दा की पद्धति ही परस्पर में वैर का बीज बोती है। यह सच है कि किसी भी व्यक्ति को अपने मत को प्रतिपादन करने के लिए उसके गुण और अपने मतविरुद्ध विषय के दोष कहने पड़ेंगे। इसके बिना वह अपने इष्ट तत्त्व का स्वरूप ठीक-ठीक लोगों को नहीं बता सकता। तथापि सच्चे शास्त्र का उपदेश वस्तु के गुण दोषों का ही विवेचन करता है, किन्तु निन्दात्मक पद्धति से किसी व्यक्ति को जनता की दृष्टि में गिराने का प्रयत्न नहीं करता। बल्कि तत्त्वमार्ग से भूले हुए विभिन्न मत के व्यक्तियों को भी अपने कल्याण-मार्ग को स्वीकार कर लेने के लिए उत्साहित करता है। ऐसा जिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र का उपदेश है वही शास्त्र सदाकाल स्वाध्याय के योग्य है। ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही गृहस्थ पाक्षिक है।।७।।

प्रश्न—स्वाचारवृत्तिविषये खलु पाक्षिकस्य कीदृग्गुरो भवति मे वद तस्य भावः।

पाक्षिकश्रावकस्य विशेषाचरणप्रवृत्तेः स्वरूपं कीदृगस्तीति प्रश्नः।

गुरुवर! अपने आचरण के बारे में पाक्षिक श्रावक के कैसे विचार होते हैं?

(उपजातिः)

भोगोपभोगाद्विषमात् प्रमोहात्तथा त्रसस्थावरजीवघातात्।
न स्याद्विरक्तिस्तदपि प्रवीरो धर्मादिकार्येऽस्ति सदैव दक्षः।।८।।

भोगोपभोगादित्यादि— चारित्रावरणकर्मोदयविशेषेण पाक्षिकस्य प्रवृत्तिर्न हि विरतिरूपा भवति। सकृद्भोगयोग्यभोजन- गन्धमाल्यादिभोगात् तथा असकृदुपभोगयोग्यशयनाद्युपभोगात्तस्य काचिदपि विरक्तता नास्ति। त्रसस्थावरजीवघातबाहुल्येष्वपि व्यापारवाणिज्यादिकर्मसु धनगृहादिपदार्थेषु च अत्यन्तमोहसद्भावादेव तस्य प्रवृत्ति वर्तते, ततो न तत्र तस्य विरक्तिस्सञ्जायत, तथाऽपि पाक्षिकः शुभप्रवृत्त्यात्मके धर्मप्रभावे कार्ये सदैव दक्षः पटुः सोत्साह इति यावत् भवति। अतः स प्रकृष्टो वीरो विघ्नशतेष्वपि स्वधर्म-प्रभावनादिपुण्यकार्येभ्यो न कदापि परावर्तते।।८।।

पाक्षिक श्रावक की प्रवृत्ति चारित्रमोहनीय कर्म के उदय की विशेषता के कारण यद्यपि भोग योग्य और उपभोग योग्य पदार्थों के त्यागरूप नहीं होती। त्रसस्थावर जीवों का जिनमें विशेष घात होता है ऐसे व्यापार वाणिज्यादि कार्यों से भी लोभ की विशेषता वश वह विरत नहीं होता, तो भी धर्म के प्रत्येक कार्य के करने में उसका उत्साह सदा बढ़ता रहता है।

भावार्थ— यथायोग्य त्रसस्थावर जीवों की रक्षा करना और भोगोपभोग को कृश करना यही गृहस्थों का चारित्र है। यद्यपि इस त्याग का भी क्रम है। अक्रम से एक ही साथ सब त्याग नहीं होता। श्रावक की एकादश प्रतिमा के रूप में यही क्रम वर्णित है। तथापि जो श्रावक अभी पाक्षिक अवस्था में है और त्याग के उस क्रम को स्वीकार नहीं कर सका है, उसके न तो भोगोपभोग की वांछा ही घटी और न भोगोपभोग के लिए आवश्यक धन की मूर्च्छा ही घटी। यही कारण है कि धन की प्राप्ति के लिए उन कार्यों से, जिनमें त्रसस्थावर जीवों का विशेष घात होता है, वह विरक्त नहीं होता, बल्कि भयंकर मोह की परणतिवश ऐसे वाणिज्यादि कार्यों में उसकी प्रवृत्ति पाई जाती है। फिर भी इन कार्यों को वह आत्महितकारक नहीं मानता। इतना ही नहीं, बल्कि त्यागरूप पुण्य कार्यों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को उत्तम मानता है। समयानुसार अपनी प्रवृत्ति पर और धर्म के स्वरूप पर जब कभी विचार करता है तब अपनी प्रवृत्ति की निन्दा भी करता है और धर्म प्रभावना के कार्यों के करने में सदा उत्साहशील रहता है, कभी प्रमादी नहीं होता। पाक्षिक शब्द का सीधा अर्थ है— जिसे धर्म का पक्ष हो। यही कारण है कि पाक्षिक श्रावक धर्म का कभी अपमान नहीं सह सकता, भले ही वह धार्मिक प्रवृत्तियों और आचरणों के यथाविधि पालन करने में स्वयं समर्थ न हो सके, तो भी वह धार्मिक प्रभावना तथा उसपर आनेवाले सैकड़ों विघ्न बाधाओं से रक्षा करने में कभी पीछे पैर नहीं रखता, फिर भले ही ऐसे अवसर पर उसे अपने जीवन भर की कमाई खो देनी पड़े, लाड़ प्यार से पाले गए अपने शरीर को कठोर यातनाओं में फंसा देना पड़े।

पाक्षिक श्रावक धर्म-भवन की सम्पत्ति की रक्षा करनेवाला सच्चा सैनिक है। वह कर्त्तव्यशील होता है। पाक्षिक श्रावक के प्रायः कषायों की प्रबलता के कारण यद्यपि चारित्र अत्यल्प होता है तथापि उन्हीं कषायों की शुभ प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण अवसर आने पर वह अपना सर्वस्व त्याग देने में भी नहीं चूकता। वह धर्मरक्षा के लिए केवल वीर ही नहीं होता, दक्ष भी होता है। किस पद्धति से धर्म रक्षा होगी इसका विचार करने में उसकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र होती है। कदाचित् पाक्षिकाचार का आचरण करनेवाला यदि निर्धन होता है तो धर्म-रक्षा में अपना तन लगा देता है। यदि मध्यम श्रेणी का होता है तो अपना तन और धन दोनों लगा देता है और यदि सम्पन्न होकर शक्तिशाली होता है तो अपनी सम्पूर्ण संपत्ति और वैभव को भी लात मारकर अपने जीवन का मूल्य धर्म की रक्षा में आँकता है। यह पाक्षिक की प्रवृत्ति है जो सदा स्पृहणीय मानी गई है।।८।।

प्रश्न-पाक्षिकस्य प्रवृत्तिस्तु धार्मिका कीदृशी वद?

धर्मकार्येषु दक्षोऽपि पाक्षिकः अत्यल्पाचारमप्याचरन् किमाचारमाचरति?

पाक्षिक श्रावक की धार्मिक प्रवृत्ति कैसी होती है?

(उपजातिः)

सद्धर्मसंस्कारवशाद्धि येन यज्ञोपवीतोऽपि धृतस्त्रिरत्नः।
दानार्चनादौ च कृता प्रवृत्तिः स पाक्षिकस्स्यात्सुखशान्तिमूर्तिः।।९।।

सद्धर्मसंस्कारवशादित्यादि- पाक्षिकस्तु सर्वोत्कृष्टवीतरागद्वेषस्वरूपात्मधर्मस्य पुनःपुनर्भावनया आत्मोद्धारक-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रत्रितयात्मकं धर्मं धारयिष्यन् तच्चिह्नस्वरूपम् सूत्रत्रितयात्मकं कण्ठसूत्रं धारयति। तस्मात्तद् "यज्ञोपवीतः" इति कथ्यते। यज्ञोपवीतस्य स्वरूपं तद्धारणपद्धतिश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थान्ते प्रतिपादयिष्यते। यज्ञोपवीतधारकस्य तस्य पाक्षिकस्य देवोपासनायां शास्त्राणां संग्रहविनयार्जन-रक्षणेषु गुरूणां सेवायां च प्रवृत्तिर्निरन्तरा भवति। स च सदा सुखी शान्तश्च भवति।।९।।

पाक्षिक श्रावक सर्वोत्कृष्ट धर्म की भावना के निमित्तवश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप धर्म को आत्मकल्याणकारी समझकर उसे धारण करने की इच्छा से रत्नत्रयस्वरूप धर्म के चिह्न रूप तीन सूतवाले यज्ञोपवीत (जनेऊ) को धारण करता है। उसकी प्रवृत्ति सदा देव की उपासना में, शास्त्रों के संग्रह विनय स्वाध्याय और संरक्षण करने में तथा सद्गुरुओं की सब प्रकार की सेवा करने में ही रहती है। वह सदा शान्तस्वभावी होता है और इसीलिए सुखी रहता है।

भावार्थ—पाक्षिक श्रावक के दो धर्म मुख्य हैं। उनमें प्रथम धर्म है पूजा अर्थात् वीतराग भगवान् की उपासना। पाक्षिक श्रावक संसार के दुःखों को पार करके निर्वाण के सुख का आस्वादन करनेवाले अपने आदर्श प्रभु की पूजा करता है। केवल इनकी ही पूजा नहीं करता है किन्तु उनके उपदेश दिए हुए आत्म-कल्याणकारक वचनों के संग्रहस्वरूप शास्त्रों की रक्षा करता है, उनका संग्रह करता है तथा विनय और श्रद्धापूर्वक उनका पठन-पाठन करता है। वह स्वयं देवोपासना के लिए देव-मन्दिर का निर्माण, देवमूर्ति की स्थापना व प्रतिष्ठा करता है। सरस्वती भण्डार की स्थापना व रक्षा करता है। ज्ञान के आराधक सद्गुरुओं का सत्कार करता है। उनकी आज्ञानुसार चलता है। आहार, औषधि और पुस्तकादि के दान के द्वारा उनकी सेवा करता है। विद्या-प्रचार के लिए योग्य पुरुषों का यथायोग्य विनय और उनकी धनादिक द्वारा सेवा करता है। उनके कष्ट व चिन्ता को दूर कर उन्हें ज्ञान-प्रचार के कार्यों के करने योग्य बनाता है। विद्यालय खोलकर धार्मिक विद्या के अभिलाषी छात्रों को आहारादि की सहायता देता है। सद्धर्मोपदेशक पुस्तकों को जनता के हित के लिए प्रकाशित करता है तथा अपने धन का व्यय करके उन्हें सर्वसाधारण जनता के हाथों तक पहुँचाता है। इस तरह वह देव, शास्त्र और गुरुओं की, साथ ही देवोपासक, शास्त्राराधक और सद्गुरुओं के सेवक पुरुषों की यथायोग्य विनय और सेवा करता है। यह पाक्षिक का पूजा-धर्म है।

दूसरा धर्म है दान—दान अपने स्वार्थ के त्याग को कहते हैं। चाहे वह त्याग धन का हो, आहारादि सामग्री का हो, अपने विषयों का हो या कषायों का हो। जिन वस्तुओं को हमने अपना रखा है, उनका यदि परोपकारवृत्ति से त्याग करना आवश्यक हो तो पाक्षिक श्रावक उनके त्याग के लिए तैयार रहता है। इसका खुलासा यह है कि धर्माराधक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम पात्र मुनि (साधु), दूसरे दर्जे में अल्प आचरण करनेवाले गृहस्थ धर्मात्मा और तीसरे दर्जे में श्रद्धालु गृहस्थ इनको यथायोग्य उनकी आवश्यकतानुसार आहार व रोग-पीड़ित होने पर औषधि की व्यवस्था करता है। गृहस्थ यदि आजीविका के साधनों से रहित हो तो धनादि की सहायता देकर आजीविका में लगाता है। दीन, दुखी और दरिद्री को देखकर उनका कष्ट दूर करने के लिए यदि आवश्यकता हो तो अपने भोगयोग्य विषयों का भी त्याग कर उनका कष्ट दूर करता है। उक्त सुपात्र व करुणापात्रों की सेवा के लिए यदि किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा हो तो उसे प्राप्त करने के लिए स्वयं मानादि कषाय का त्याग करके भी उसे प्राप्त कर लेता है। सेवाधर्म को अपना प्रधान लक्ष्य बनाकर धर्म-सेवा, धार्मिक-सेवा, समाज-सेवा, जाति-सेवा, ग्राम-सेवा, देश-सेवा और राष्ट्र-सेवा में लगा रहता है। तात्पर्य यह कि गृहस्थ के करने योग्य आवश्यक कार्य पाक्षिक करता है। इनके लिए वह अपने इन्द्रिय भोग्य विषयों का त्याग करके भी कष्ट सह लेता है। पाक्षिक श्रावक प्रत्येक सेवा-कार्य को क्रोध व अभिमान का त्याग कर स्वार्थ वासना से रहित होकर निष्कपट सरल वृत्ति से अपना धर्म समझकर करता है। यह उसका दान नाम दूसरा धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के आराधक जो पुरुष संसार की निवृत्ति के मार्ग में लगे हुए हैं वे ही दान के योग्य सर्वोष्कृष्ट पात्र माने गये हैं। इसी से साधुओं को उत्तम पात्र कहा है। उसके बाद जो जितना अधिक उत्तम चारित्र के आराधक हैं। वे उतने ही योग्य पात्र हैं। पात्रदान गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है। पात्रों के सिवाय जो अन्य व्यक्ति हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कीड़े-मकोड़े हैं और एकेन्द्रिय जीव हैं, वे भी आवश्यकतानुसार सेवा योग्य हैं। पाक्षिक श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार सब की सेवा करता है। सेवा कार्य के लिए उक्त क्रम है। क्रम का त्याग कर की हुई सेवा लाभदायक नहीं होती। उससे दाता का अविवेक प्रगट होता है, किन्तु उसका विवेकी होना अत्यावश्यक है।

उक्त प्रकार का दान और सेवा के कार्य स्वार्थवासना से रहित होकर परोपकार के निमित्त हो तभी प्रशंसा योग्य हैं। अनेक भाई लोक में कीर्ति-प्रशंसा की इच्छा से अपना नाम बनाये रखने की गरज से, देश-सेवकों, समाज-सेवकों या दातारों में नाम गिनाने की इच्छा से सेवा या दान करते हैं, किन्तु वह दान या सेवा उत्तम दर्जे की न होकर हीन कोटि की मानी गई है। वह एक प्रकार का व्यापार है। जिस तरह लोग कष्ट सहकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी पैसा कमा लेते हैं उसी तरह वह कष्ट सहकर भी कीर्ति कमा लेना चाहता है। पैसा कमाने वाले की अपेक्षा यद्यपि उसका स्वार्थ कम है तथापि इस प्रकार का दान या सेवा वास्तविक दान या सेवा नहीं है।

अनेक सज्जन इसलिए भी कीर्ति कमाने के लिए उक्त कार्य करते हैं कि इससे दानियों या नेताओं की श्रेणी में बैठकर लोगों से अच्छी कमाई की जा सकती है। ऐसे लोग और भी ज्यादा भयंकर हैं। इनका कार्य निन्दनीय है। यह कभी भी ग्राह्य नहीं माना जा सकता। इस वृत्ति का जितने जल्दी त्याग हो उतना ही अच्छा है। इस प्रकार यह पाक्षिक गृहस्थ अपने दान और पूजा इन दोनों धर्मों को निस्पृहवृत्ति से पालता है।

वह स्वयं सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय का आराधक है। उसे पूर्णरूप से पालन करने का अभिलाषी है। वह अपनी इस धार्मिक वृत्ति को हृदय में सदा जागृत रखना चाहता है। वह चाहता है कि मेरे हृदय पर रत्नत्रय का चिह्न सदा अंकित रहे ताकि गार्हस्थिक जंजाल में-विषय वासनाओं के विषम विषमय संसार में मैं अपने रत्नत्रयात्मक उस स्वधर्म को भूल न जाऊँ, अतएव वह अपने कण्ठ में यज्ञोपवीत धारण करता है।

यज्ञोपवीत रत्नत्रय का चिह्न है, इसीलिए वह तीन सूत्र का होता है। यह गृहस्थ के षोड़श संस्कारो में प्रधान संस्कार माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिए ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है। शूद्र संस्कार रहित होते हैं इसलिए वे पाक्षिक श्रावक के व्रतों का परिपालन करने के लिए एक तो यथायोग्य सेवा-वृत्ति को अंगीकार करते हैं। दूसरे दान पूजा करनेवालों की अनुमोदना करते हैं और यज्ञोपवीत धारण करनेवालों की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार की वृत्ति से ही उनका पाक्षिकव्रत पूर्णता को प्राप्त होता है।

पाक्षिक श्रावक अपनी उक्त श्रेष्ठ वृत्ति के द्वारा सदा सुखी और शान्त प्रकृति का होता है। अपने उच्चतम धार्मिक संस्कारों के कारण उसकी प्रकृति और बुद्धि सदा गम्भीर और प्रत्येक स्थिति में तत्त्व विमर्श करनेवाली होती है। वह संसार के दूसरे प्राणियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। भार रूप नहीं होता। थोड़े शब्दों में हम उसे धर्मभवन की सम्पत्ति का पूर्ण रक्षक वीर सैनिक कह सकते हैं।।९।।

प्रश्न-लोकोपकारविषये वद मेऽस्ति भावः कीदृग्गुरो गुणनिधे खलु पाक्षिकस्य।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे गुणसमुद्र! पाक्षिकावस्थायां मे लोकोपकारिकार्यकारणे कीदृग्भावः खलु उपादेयोऽस्ति इत्युपदेशः करणीयो भवद्भिः।

पाक्षिक श्रावक की प्रवृत्ति लोकोपकार के कार्य में कैसे रहती है इस प्रश्न का उत्तर आचार्य महाराज आगे लिखते हैं—

(वसन्ततिलका)

विघ्नं करोति यदि मे शिवदेऽपि कार्ये
प्राणांस्त्यजामि खलु तत्प्रतिरोधनार्थम्।
स्वान्योपकारकरणं हि ममेति धर्मो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ।।१०।।

विघ्नं करोतीत्यादि— पाक्षिकः खलु सदा मनस्येवं विचारयति यत् को मम धर्मः? स्वोदरपूरणाय स्वभोगयोग्यसामग्रीसंयोजने प्रयत्नन्तु सर्वे कुर्वन्त्येव न तत्र कस्यापि शिक्षकस्य शिक्षाया आवश्यकता वरीवर्ति। उक्तप्रकारेण स्वार्थसाधनमात्रमेव कर्त्तव्यं यदि स्यात्तर्हि लोके कलहाग्निर्नितरां प्रज्वलितः स्यात्, अतएव स्वोपकार-करणचिकीर्षोरपि बुद्धिमतः कर्त्तव्यमेतद् यत्परोपकारवृत्तिराश्रयणीया। परोपकारवृत्तिमाश्रित्य स्वोपकारकरणमुपादेयम् इति स्वान्योपकारकरणमेव मम एकमात्रं धर्मोऽस्ति। शिवदेऽपि कल्याणकारकेऽपि मम धर्मकार्ये यदि कश्चिदेकान्ततः स्वार्थी विघ्नं प्रत्यूहं करोति विदधाति तर्हि तत्प्रतिरोधनार्थं विघ्नविनाशनायाहम् प्राणानपि त्यजामि त्यक्षामि। शुभकार्येषु प्रायेण विघ्नास्समायान्ति। श्रावकः खलु विचारयति यन्मे सामर्थ्यं परिपूर्णधर्मपालने नास्ति, अतएव सधर्मणां श्रावकाणां मुनीनाञ्च धार्मिका प्रवृत्तिः यथा निर्विघ्ना भवेत् तथैव प्रयतितव्यम्। धार्मिकाणां धर्मपरिरक्षणे तत्र समापतितोपसर्गादिनिराकरणे च स कदापि प्रमादी न भवति। वीरवृत्तिमनुसरन् स स्वप्राणपरित्यागपर्यन्तमपि सन्नद्धो भवति। धार्मिकैस्सह यस्यैवं विशदो निर्मलो वात्सल्यभावो वर्तते स एव पाक्षिकः श्रावकः स्यात् ।।१०।।

पाक्षिक श्रावक स्वोपकार और परोपकार दोनों का परस्पर अविरुद्ध रीति से पालन करना ही अपना धर्म समझता है और उसके पालन करने में सदा कटिबद्ध रहता है। ऐसा करने में ही वह अपनी व दूसरों की भलाई सोचता है। उसके इस कल्याणकारक कार्य में यदि कोई विघ्न करे तो उसे वह हर एक उपाय से रोकता है। साधारण उपायों द्वारा यदि वह उपसर्ग निवारण में समर्थ नहीं होता तो अपने प्राणों की भी बाजी लगा देता है अर्थात् प्राण देकर भी विघ्नों को दूर कर देता है। इस तरह वात्सल्यपूर्ण पवित्र भाव जिसके हृदय में होता है वही पाक्षिक श्रावक होता है।

भावार्थ— यह बात पहले भी लिखी गई है कि पाक्षिक श्रावक स्वयं धर्म के पालन करने में मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से अपने को असमर्थ पाता है तथापि उसे धर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का परिपालन करनेवाले मुनि, अर्जिका, श्रावक व श्राविकाओं से अत्यन्त प्रेम होता है। वह उनकी प्रशंसा करता है, स्तुति करता है और उनका पदानुसरण करने की इच्छा रखता है। यथासमय आवश्यकता के अनुसार उनकी सेवा करता है। उनके धर्म साधन में हर तरह की सहायता पहुँचाता है। वह अपनी इस महती परोपकारवृत्ति में ही अपना कल्याण मानता है।

वास्तव में जिस तरह स्वयं धर्म का पालन करनेवाला धर्मात्मा है उसी तरह दूसरों के धर्म पालन करने के कार्यों में सहायता पहुँचानेवाला, उनके दुःखों और कष्टों को दूर करनेवाला व उनके धर्म साधन के कार्य में यदि कोई विघ्न हो, कंटक हो; तो उसे दूर करनेवाला भी धर्मात्मा है। धर्मात्मा के लिए यदि कोई दुष्ट पुरुष बाधा उपस्थित करे तो पाक्षिक श्रावक पहले उसे समझाकर उस मार्ग से हटा देता है। इतने पर भी कोई दुष्ट दुष्टता न छोड़े तो धन देकर, राजकीय आश्रय लेकर या दूसरे पुरुषों की वांछनीय सहायता लेकर जैसे हो धर्मिक पुरुषों के उपसर्ग को दूर करता है। यदि इतने पर भी दुष्ट अपनी दुष्टता न छोड़े तो वह वीर पुरुष कायर की तरह चुप नहीं बैठता। उसके मन में धर्म व धर्मात्मा के प्रति दिखाऊ प्रीति नहीं है। वह हर संभव उपाय से विघ्नों को दूर करता है। ऐसा करते हुए यदि अपने या विघ्नकर्त्ता के प्राण भी जोखम में पड़ जाँय तो भी वह अपने धर्मरक्षा के कार्य से विमुख नहीं होता। वह या तो उपसर्ग को दूर करके रहता है या उसी कार्य में अपने को मिटा देता है। धर्म के प्रति ऐसा उत्कट प्रेम धर्मात्मा के प्रति ऐसा ऊँचे दर्जे का वात्सल्यभाव पाक्षिक श्रावक के हृदय में होता है। वह कायर नहीं होता, विघ्नों से घबराता नहीं, डटकर मुकाबला करता है और धर्म की प्रभावना जगत्कल्याण के लिए युग-युग के लिए फैला जाता है। बिना ऐसे श्रेष्ठ साहसी वीर धर्मात्माओं के धर्म पालन का मार्ग अक्षुण्ण नहीं बनता। पाक्षिक श्रावक स्वयं धर्म पालन में पूर्ण समर्थ न होते हुए भी अपनी इस सर्वोच्च वृत्ति के कारण मोक्ष के मार्ग में अपने को विशेष उपयोगी सिद्ध कर देता है। वह परोपकार तथा अपने कल्याणकारक कार्यों को अपना धर्म समझता है। इस प्रकार की विमल बुद्धि को धारण करनेवाला पाक्षिक श्रावक होता है।।१०।।

प्रश्न– दुष्टादिशिष्टविषये वद मेऽस्ति भावः कीदृग्गुरो सुखनिधे खलु पाक्षिकस्य?

हे स्वात्मानन्दपरिपूर्णगुरो! सज्जनदुर्जनयोर्विषये पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति ?

हे आत्मसुख के समुद्र गुरु! सज्जन और दुर्जन इन दोनों के सम्बन्ध में मुझ पाक्षिक को अपने कैसे विचार रखने चाहिए?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वसन्ततिलका)

दुष्टस्य रोधकरणं सुजनस्य रक्षा
सम्पूर्णविश्वनिलये सुखशान्तिहेतोः ।
कार्या मया सुजनताऽपि मिथः प्रमोदो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ।।११।।

दुष्टस्येत्यादि— अखिलं विश्वमेव निलयः तत्र, सर्वत्र इति यावत् । सुखशान्तिहेतोः दुष्टस्य विश्वसुखशान्तिविदारकस्य रोधकरणं निवारणं सुजनस्य सुखशान्तिवृद्धिकारकस्य सज्जनस्य रक्षा रक्षणं—तदुपकारकरणं तत्कीर्तिकीर्तनं तत्सम्माननञ्चापि करणीयमेव। यतः शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्यां विना प्राणिनां धार्मिका प्रवृत्तिर्निराकुला न भवति। भोगभूमिप्रवृत्तेरवसाने कर्मभूमिप्रवृत्तिप्रारम्भे च शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्यामेव शास्यशासकस्वरूपा शासनपद्धतिः प्रचुरपुण्यैः कुलकरैः प्रकाशिताऽऽसीत्। सा चाधुनाऽपि प्रवाहिता समायाति। अखिलविधानग्रन्थानामेवमेवाभिप्रायो वर्तते यत् सम्पूर्णप्रजासु शान्तिर्भवेत्, न केऽपि कानपि पीडयन्तु, न्यायमार्गमुल्लंघ्य न कोऽपि कस्यापि धनादिकं गृह्णातु। विश्वशान्तिवर्द्धकस्य च सम्मानादिकमपि पदवीप्रदानादिविधिना राज्याधिकारिभिः क्रियते। पाक्षिको यदि शक्तिसम्पन्नो भूपतिर्वर्तते तदा स्वाधिकारादप्रमत्तो भूत्वा न्यायमार्गानुकूलं प्रजारक्षणं दुष्टरोधनं च करोतु। स्वस्यापि सौजन्यपूर्णो व्यवहारो भवेत् । यदि स सामान्यगृहस्थोऽस्ति तदापि स्व-स्वविभवानुकूल्येन स्वाधिकारभूमौ शिष्टानुग्रहं दुष्टनिग्रहञ्च करोतु। सर्वेषामपि पाक्षिकाणामेवं प्रवृत्तौ सत्यां स्वयमेव जगति शान्तिः कलहाभावो भवेत् प्रजावर्गश्च सुखी स्यात् । सुजनता पारस्परिका प्रीतिश्चापि पाक्षिकैः कर्त्तव्या। परस्परदर्शनमात्रेणैव सज्जनानाम्परा प्रीतिरुत्पाद्या। गुणिनमवलोक्य प्रमोदो हर्षातिरेकः प्रकाश्यः। एवमुक्तप्रकारेण यस्य मनसि निर्मलो भावो भवति स एव धर्मपक्षस्याभिनेता पाक्षिकः स्यादिति ज्ञातव्यम् ।।११।।

पाक्षिक श्रावक सम्पूर्ण विश्वरूपी अपने गृह में सुख और शान्ति को कायम रखने के लिए दुर्जन पुरुष के दुष्ट कार्यों का रोकना तथा सज्जन पुरुषों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह स्वयं सबसे सज्जनता का व्यवहार करता है और परस्पर के सम्मिलन से हर्षित होता है। ऐसा निर्मल भाव पाक्षिक श्रावक का होता है।

भावार्थ—जबतक इस भूमण्डल पर भोगभूमि की प्रवृत्ति थी तबतक सभी मानव सन्तोषी, सुखी, वैर-विरोधरहित और तीव्र लालसाओं की वासना से दूर थे। उस समय कोई किसी के सुख या दुःख का साधक या बाधक न था। वे जीव मन्दकषायी होते थे और काल के नियमानुसार प्राप्त सर्वसाधारण समान विषयों को भोगते हुए सुखी रहते थे। वहाँ स्वाभाविक साम्यभाव था। न कोई दीन था, न दरिद्री था, न कोई सम्पन्न था और न ऐश्वर्यशाली ही। अभिप्रायपूर्वक व्रताचरण और पापप्रवृत्ति का उस समय सर्वथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभाव था। अल्पाहार, अल्प इच्छाएँ, नियमित भोग, नियमित उपभोग, नियमित विहार, सन्तानोत्पतित व जन्म-मृत्यु के समान नियम तथा कल्पवृक्ष द्वारा ही सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति ये सब भोगभूमि की विशेषताएँ थीं।

कर्मभूमि का प्रारम्भ होते ही इनमें अन्तर आया। सन्तानोत्पत्ति के नियम बदल गये। भोगभूमि में बालक-बालिका युगल उत्पन्न होते थे। अब अलग-अलग समय में एक-एक ही उत्पन्न होने लगे। उस समय वे बालक सात सप्ताह में स्वयं वृद्धि पाकर युवावस्था सम्पन्न बन जाते थे, पर अब उनके परिपालन व परिवर्द्धनों में वर्षों का समय लगने लगा। अब युवावस्था के प्राप्त होने में सोलह वर्ष लगने लगे। बालकों का परिपालन व परिवर्द्धन स्वयं न होकर दूसरों की सहायता से (यह सब कार्य) होने लगा। उस समय सन्तानोत्पत्ति माता-पिता के आयु के अन्तिम जीवन में होती थी और समान काल में सन्तान युगल के जन्म लेने के पश्चात् दोनों की आयु समाप्त हो जाती थी, पर कर्मभूमि में माता-पिता के मध्य जीवन में बल्कि युवावस्था के प्रारम्भिक समय में ही सन्तान उत्पन्न होने लगी। यही कारण है कि जिससे कर्मभूमिज बालकों के माता-पिता पर अपनी सन्तान के पालन-पोषण का तथा उनके व अपने भविष्य के जीवन के निर्वाह के लिए योग्य सामग्री के संचय करने का भार आ पड़ा ।

ज्यों-ज्यों भोगभूमि का अन्त निकट आया मनुष्य की लालसाएँ तथा भोगोपभोग की सामग्री के संचय करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई, कल्पवृक्षों पर अपना-अपना कब्जा किया जाने लगा, छीना-झपटी होने लगी। कलह का बीज यहीं से शुरू हुआ। अपनी-अपनी सन्तान का मोह तथा अपना शेष जीवन यापन करने में आनेवाली आपत्तियों के निराकरण करने की चिन्ता लोगों को यहीं से प्रारम्भ हुई। इतना ही नहीं, पापमूलक परिग्रह से संचय करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ भी यहीं से हुआ।

प्रकृति ने परमोदार कल्पवृक्षों को ऐसे पापस्थान से धीरे-धीरे उठा लिया। जनता चिन्तित हुई। उस समय के कुलधर्मप्रवर्त्तक कुलकरों ने उन्हें खेती द्वारा धान्य उत्पन्न करने की सम्मति दी। लोगों ने उसे मान्य किया। खेती होने लगी। उत्पन्न धान्य को संग्रह करने व उसे सुरक्षित रखने का प्रश्न खड़ा हो गया। इसे हल करने के लिए घर बनाने की आवश्यकता हुई। भोगभूमि में शीत, उष्ण और वर्षा का कोई कष्ट न था। वह सब अब क्रमशः प्रारम्भ होने लगा, इसलिए भी घर बनाने की तथा वस्त्र बनाने की जरूरत लोगों को मालूम हुई। इस आवश्यकता ने ही कृषि और शिल्प उद्योग को जन्म दिया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों व्यवसायों की वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक मालूम होने लगा कि ग्रामान्तरों से लाने व ले जाने की भी प्रवृत्ति चालू होनी चाहिए। जो लोग स्वयं यह सब कार्य न कर सकें वे दूसरों को मदद दें। इस तरह वाणिज्य तथा मसि (लेखन कर्म-मुनीमी आदि) कर्म का प्रारम्भ हुआ। जो लोग उक्त कार्यों द्वारा कोई उद्योग नहीं कर सकते थे वे दो भागों में विभक्त हुए। उनमें कोई तो बलवान् थे जो परिश्रम करने के बजाय दूसरों का झपट लेना ही उत्तम समझते थे, कोई ऐसा करनेवालों को न्यायी न समझकर उनसे मोर्चा लेने को तैय्यार रहते थे। दोनों एक ही श्रेणी में शामिल हुए और इनके जिम्मे प्रजा का पालन रक्षण तथा पारस्परिक कलह का निवारण कर न्याय नीति की प्रवृत्ति का कार्य सौंपा गया और इस तरह असिकर्म (शस्त्रग्रहण द्वारा लोक-रक्षक) का जन्म हुआ।

इन तरीकों में से किसी भी तरीके पर अपनी जीविका न कर सकनेवाले शेष लोगोंने उक्त सभी वर्गों की भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाओं के कार्य अंगीकार कर लिए और ये सेवाकर्म द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करने लगे। इस तरह क्रमशः कृषि, शिल्प, वाणिज्य, मसि, असि और सेवा ऐसे षट्कर्मों की सृष्टि हुई।

इन सभी वर्गों के लोगों की प्रवृत्ति ठीक उचित तरीके पर रहे और कोई किसी पर अनुचित जोर न करे इसका प्रबन्ध जिन असिकर्म करने वाले बलवान् और वीर पुरुषों के ऊपर अवलम्बित था, उनमें भिन्न-भिन्न मत न होकर एकमत से कार्य हो इसके लिए उनमें किसी योग्य बुद्धिमान उदार निस्वार्थी व्यक्ति को प्रजा द्वारा मुखिया चुना गया और उसे 'राजा' की संज्ञा दी गई। कर्मभूमि के प्रारम्भ का और भोगभूमि के अन्त का समय ही ऐसा था, जब यह सब हुआ। समय-समय पर अत्यन्त बुद्धिमान् अवधिज्ञानी कुलकर होते रहे, जिन्होंने सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का मार्ग जनता को बतलाया और स्वयं के परिश्रम से उक्त कार्य को सुसम्पन्न किया।

इस युग के प्रारम्भ में अन्तिम कुलकर भगवान् आदिनाथ स्वामी के पिता श्री नाभिराय हुए। उसके बाद भगवान् ऋषभदेव ने उक्त सम्पूर्ण प्रजा के बाह्य और आभ्यन्तर संस्कारों के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों में प्रजा को विभक्त किया तथा भगवान् के पुत्र श्री भरत चक्रवर्ती ने, जिनके नाम पर इस देश का भारत नाम पड़ा, ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इस तरह चार वर्णों की स्थापना हुई।

इस व्यवस्था के बन जाने पर भी अनेक ऐसे दुष्ट पुरुष होने लगे जो व्यवस्था को बिगाड़ कर भी बिना परिश्रम किये जोर-जुल्म से दूसरों की संपत्ति हड़पने लगे। इसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए वे लोगों को नाना कष्ट देने लगे। साथ ही कुछ ऐसे भी वर्ग के लोग हुए जो दूसरों के कार्यों में मदद कर परोपकार करने लगे। अतएव इन दोनों प्रकार के दुर्जनों और सज्जनों का क्रमशः निग्रह करने और उपकार करने का कार्य आवश्यक हो गया। मुख्यतया सज्जन का सम्मान और दुष्टों का मानमर्दन करना राजधर्म था। तथापि यथावसर प्रजा के प्रत्येक गृहस्थ को भी यह आवश्यक हो गया कि वह दुष्ट का मर्दन तथा शिष्ट की रक्षा व सम्मान को अपना कर्त्तव्य-धर्म समझे, क्योंकि बिना ऐसा किये धर्म का परिपालन नहीं किया जा सकता था।

गृहस्थों में भी अनेक भेद होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो लौकिक कार्यों को संसार बन्धन का कारण मानकर कम करते जाते हैं और आध्यात्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाते जाते हैं। वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। उनके उस अलौकिक मार्ग में बढ़ने का क्रम ग्यारह प्रतिमा के रूप में विभाजित है। इनमें प्रत्येक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चारित्र को उज्ज्वल रखते हुए भी अपने समकक्ष या अपने से उन्नत चारित्रवाले की धर्मरक्षा अवश्य करे।

जबतक कोई धर्मप्रेमी गृहस्थ अपने को नैष्ठिक श्रावक नहीं बना सकता तबतक वह पाक्षिक कहलाता है। इस प्रकरण में इन्हीं पाक्षिक श्रावकों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। इस पाक्षिक श्रावक का यही धर्म है कि वह धर्मसेवी सज्जनों की रक्षा करे। उनके धर्मसेवन कार्य में यथोचित सहायता दे और उनमें बाधा देनेवाले दुष्ट मनुष्यों को दण्ड दे।

विश्व में यदि शान्ति की स्थापना करनी है और सम्पूर्ण प्रजा को सुखी बनाना है तो प्रत्येक पाक्षिक को स्वयं सुजनता का व्यवहार करना होगा और सुजनों के साथ भाईचारे का व्यवहार करते हुए दुष्टों का निराकरण करना होगा। ऐसा करना पाक्षिक अपना धर्म मानता है। वह समझता है कि यदि मैं स्वयं उच्चतम धर्म का पालन नहीं कर सकता तो मेरा यह तो अवश्य कर्त्तव्य है कि दूसरों को उसका परिपालन करने दूँ, उनकी मदद करूँ तथा उनके कार्य में आनेवाले विघ्नों को दूर करूँ।

वह धर्मात्मा पुरुषों को देखकर प्रसन्न होता है। उसके अंग-अंग पुलकित हो उठते हैं। वह सेवा करने को लालायित हो उठता है। थोड़े शब्दों में यह कहा जा सकता है कि धर्म शासन के चलाने के लिए वह स्वयं सेवक वीर सैनिक की भाँति अपने को सदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्नद्ध रखता है। धर्म व धर्मात्मा की रक्षा के प्रति ऐसा जिसका निर्मल भाव है वही पाक्षिक गृहस्थ है।।११।।

प्रश्न– पाक्षिकस्य विशेषा तु प्रवृत्तिः कीदृशी वद।

अत्र पाक्षिकश्रावकस्य कर्त्तव्यविशेषा निर्दिश्यन्ते।

आगे पाक्षिक श्रावक के विशेष कर्त्तव्यों का उपदेश आचार्य महाराज करते हैं–

(उपजातिः)

कार्या स्वबुद्ध्या भुवि मित्रताऽपि
प्रमुच्य मायां सकलैः समं हि ।
यतो भवेत्ते विमलैव कीर्त्तिः
स्वराज्यलक्ष्मीश्च सदा स्वदासी ।।१२।।

कार्येत्यादि– यतो भुवि विमला कीर्तिः प्रस्फुरति। न केवलं कीर्तिरेव भवति अपि तु स्वराज्यलक्ष्मीः। स्वं च तद् राज्यं स्वराज्यं तदेव लक्ष्मीः इति स्वराज्यलक्ष्मीः सदा स्वदासी इव तं सेवते। तस्मात् कारणात् स्वबुद्ध्या स्वबुद्धिपूर्वकं मायां-कपटवृत्तिं प्रमुच्य परित्यज्य सकलैः समं "सत्त्वेषु मैत्रीं विदधातु" इति अमितगत्याचार्योपदेशपरम्परामनुस्मरता जाति-कुल-विभव-संपत्ति-ज्ञान-बल-गति-दारिद्र्य जरा-रोग-सुभगत्व-दुर्भगत्वादिभेदमनालभ्य दीनैर्हीनैर्दारिद्र्योपेतैर्जरारुजापीडितै-र्हीनकुलजैः कुलीनैः श्रीमद्भिः संपत्तिशालिभिर्विद्वद्भि- र्मूर्खैर्निर्बलैर्बलवद्भिर्दुर्भगैः सुभगैर्वा पुरुषस्त्रीनपुंसकैः पशु-पक्षि-कीटपतङ्गादिभिश्च सर्वैः प्राणिभिः सह समानरीत्या मित्रता नामसुखदुःखसमभागित्वरूपं बन्धुत्वम् । अवश्यं कार्या करणीया ।।१२।।

इस लोक और परलोक में सुख के अभिलाषी श्रावक को उचित है कि वह प्राणिमात्र के साथ सुख-दुःख में समभागी बने। धर्मज्ञ सज्जन की यही पहिचान है कि उसे किसी प्राणी को दुःखी देखकर करुणापूर्ण खेद उत्पन्न होता है और शक्त्यनुसार उसके कष्ट को दूर कर देने की भावना व प्रवृत्ति पाई जाती है तथा दूसरे प्राणियों को सुखी देखकर उसे प्रमोद होता है। इस भाव का नाम ही मैत्रीभाव या बन्धुत्वभाव है। श्रावक निष्कपट भाव से प्राणिमात्र में ऐसा भाव रखे तो संसार में उसकी निर्मलकीर्ति फैले और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासनरूपी संपत्ति सदा उसकी दासी के समान सेवा करे।

भावार्थ– प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति ऐसी है कि वह पराधीनता और अकीर्ति को किसी भी हालत में पसन्द नहीं करता। वह घर में, मुहल्ले में, ग्राम में, देश में, राष्ट्र में, जाति में और सभा में सर्वत्र अपनी प्रशंसा और स्वतन्त्र-वृत्ति का अभिलाषी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पराधीनता सचमुच में अत्यन्त कष्टदायक है। पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी क्षणमात्र को प्राप्त होनेवाली परतन्त्रता को सहन करना पसन्द नहीं करते। यदि किसी पक्षी को आप पिंजड़े में बन्द कर दें तो वह छटपटायगा और भागने का अवसर पाते ही भाग जायगा। हाँ, जिसे पराधीनता सहते-सहते युग बीत गया हो और जो स्वातंत्र्यसुख को विस्मरण कर चुका हो वह भले ही पिंजड़ा छोड़कर न जावे परन्तु फिर भी यह प्रवृत्ति १०-५ दिन ही रहेगी। जहाँ उसने कुछ दिन पिंजड़े के बाहर की हवा खाई कि उसे अपनी प्रिय स्वतंत्रता की याद होने लगती है और अपने स्वराज्य के भोग के लिए वह चल देता है। पिंजड़ा चाहे सुवर्ण का ही क्यों न बना हो, तथा उसे रोज दूध, चावल और मिष्ठान ही क्यों न खिलाया जाता हो किन्तु पक्षी पराधीनता के दुःख के आगे इन सुखों को हेय समझता है। उसे पराधीन रखनेवाला व्यक्ति चाहे कितने ही प्रेम से रखे, दुलार करे, सुखी बनाने का प्रयत्न करे, पर ये सब बातें स्वातंत्र्य सुख के चरणों की धूलि को भी स्पर्श नहीं करतीं।

पक्षी को अपने वनस्थली, रम्यवृक्षावली, सरोवर का किनारा, निर्मल आकाश में पंक्तिबद्ध हो स्वच्छन्दता से उड़ना, एक-एक दाना ढूँढ़कर चुगना व अपने बच्चों को चुगाना यह सब जितना भाता है उतना पिजड़े में बैठकर मिष्ठान खाना नहीं भाता। उस स्वाधीन सुख के सामने वह इस पराधीन सुख को महान् दुःख का प्रतीक समझता है। पक्षियों की तरह पशु भी बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते। वे बन्धन को तोड़कर भाग जाना पसन्द करते हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, बकरी, ऊँट, हाथी और हिरण आदि कोई भी पशु बन्धन में बद्ध नहीं रहना चाहते। पालतू पशु यद्यपि जीवन के प्रथम क्षण से ही बंधन में रहे हैं, उन्होंने पराधीन रहकर ही अपनी जिन्दगी गुजारी है, उनका अपना कोई निजी स्थान नहीं, जहाँ वे सानंद स्वतन्त्र रह सकें तो भी वे बन्धन से छूट जाना चाहते हैं।

कीड़े मकोड़े भी अपने स्वतंत्र मार्ग से चलना पसंद करते हैं। चाहे वे किसी खतरे के स्थान में ही क्यों न जाते हों उन्हें यदि उठाया या छेड़ा तो वे छटपटाकर तुम्हारे संपर्क से दूर हो जाने का प्रयत्न करेंगे।

जब इन सब प्राणियों को पराधीनता पसंद नहीं, तो मानव प्राणी जो सब प्राणियों में श्रेष्ठ समझा जाता है, वह क्यों पराधीनता पसंद करेगा? वह तो बात-बात में स्वराज्य का प्रेमी है। जबतक वह घर में है, घर में स्वराज्य चाहता है। वह यही तो चाहता है कि घर में मेरा शासन रहे, मुझे किसी के अधीन होकर न रहना पड़े। सब या तो मेरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शासन में चलें या फिर सबके साथ-साथ मुझे भी स्वतंत्रता पूर्वक रहने का पूर्ण अधिकार हो।

जिस समय उसकी दृष्टि घर से बाहर मुहल्ले पर जाती है तो वहाँ भी वह किसी दूसरे मुहल्ले वाले का शासन पसंद नहीं करता। यदि कोई मुहल्ला वाला उस पर अपना कुछ शासन चलावे तो उसके साथ तुरंत झगड़ा हो जाने का प्रसंग आ जाता है। छोटे गांवों में या शहरों के मुहल्लों में झगड़े हो जाने के कारण एक दूसरे को अपने-अपने शासन में रखने तथा स्वयं दूसरे के शासन को पसन्द न करने की मनोवृत्ति ही काम करती है। घर-घर में पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू, जेठानी-देवरानी, ननद-भौजाई आदि में भी यदि कोई झगड़ा होता है तो एक दूसरे के शासन में न रहने तथा घर की सम्पत्ति व भोगोपभोग की सामग्री को स्वतंत्रता के साथ उपयोग कर लेने की इच्छा से ही होता है और वह तबतक चलता है जबतक एक दूसरे के बंधन से उन्मुक्त होकर स्वतंत्र भोगोपभोग के निमित्त उस संपत्ति का बटवारा नहीं कर लेते।

कलह के जो कारण घर-घर में हैं वे ही ग्राम और मुहल्ले के झगड़ों के कारण हैं। चूँकि मनुष्य का एक दूसरे के साथ चलनेवाला सम्बन्ध घर और ग्राम या अपने शहर तक ही सीमित नहीं है बल्कि अपने प्रान्त सम्पूर्ण देश तथा विदेशों से भी उसका सम्बन्ध है और यह ऐसा सम्बन्ध है जिसका अलग होना गार्हस्थिक अवस्था में असम्भव है। प्रत्येक मानव जैसे-जैसे वह अपने प्रान्त को, देश को व राष्ट्र को अपनाता जाता है वैसे-वैसे उसका उसमें निवासी जनों के प्रति अपनत्व बढ़ता जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का स्वातन्त्र्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नहीं रह जाता बल्कि वह एक समूचे देश व राष्ट्र का स्वातन्त्र्य हो जाता है। वह चाहता है कि हमारे देश में उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों का ही शासन हो। वे अपने सुख-दुःख का विचार स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकें। उनके इस कार्य में कोई बाधक न हो। इसका नाम है प्रत्येक देश या राष्ट्र का स्वराज्य।

जिस तरह प्रत्येक घर में निवास करनेवालों का पारस्परिक सहानुभूतिपूर्ण सर्व-दुःख-सुख समभाव है और जैसे एक दूसरे के शासन में न रहने की आकांक्षा रहती है वैसे ही दूसरे को अपने शासन में रखने की भी अभिलाषा न हो तो घर में पारस्परिक स्नेह बंधन दूर नहीं होता बल्कि सुदृढ़ बनता है। उसी तरह प्रत्येक ग्राम, देश या राष्ट्रवासियों का भी जब इसी तरह प्रत्येक ग्राम व देशवासी के प्रति परस्पर में एक दूसरे पर शासन करने की मनोवृत्ति न हो परस्पर मैत्री-भाव अर्थात् सुख-दुःख समभागित्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो तो उन देशवासियों में भी पारस्परिक स्नेह बंधन दृढ़ होता है और संगठन सुदृढ़ होता है।

यही स्वार्थ वासना रहित सर्व सुख-दुःख समभागीपना देश के संगठन को मजबूत करता है और वहाँ देश स्वराज्य प्राप्त कर सकता है इसके विपरीत नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपने स्नेह की सीमा अपने देश या राष्ट्र तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि समूचे संसार के प्राणियों को अपना बन्धु मानता है वह गार्हस्थिक स्थिति से दूर हो जाता है। गार्हस्थिक स्थिति अपने व्यक्तिगत भोगोपभोग के स्वार्थ साधन करने का एक गुट है जिसकी सीमा उस घर के निवासियों तक है। जो अपने ग्राम की भलाई उसकी स्वतन्त्रता का विचार रखता है उसे अपने घर में विशेष स्वार्थ के साधक व्यक्तियोंका मोह कम कर देना पड़ता है और अपने स्नेह के क्षेत्र को बढ़ाना पड़ता है। जो ग्राम के बाहर अपने देश या राष्ट्र को अपने स्नेह का क्षेत्र बनाता है उसे ग्राम या प्रान्त का मोह छोड़ देना पड़ता है और उसका उतना ही ख्याल रखता है जितना अपने देश के दूसरे ग्रामों का।

अखिल विश्व को अपना स्नेह बखेरने की इच्छा रखने वाले तथा सारे संसार के प्राणिमात्र के सुख दुःख में समभागी होने वाले महापुरुष को अपने देश व राष्ट्र के स्वार्थ को भी दुनिया के स्वार्थ में मिला देना होगा। अपने इस महान यज्ञ को पूरा करने के लिए उसे गार्हस्थिक जीवन का त्याग करना होगा, व्यक्तिगत स्वार्थ को किनारे रखना होगा, कठोर साधना करनी होगी तब वह अखिल विश्व को अपना आत्मराज्य पाने का शुभसंदेश सुना सकेगा।

यह साधु पुरुष संसार के विषय-भोगगत स्वार्थ को झूठा स्वार्थ मानता है, उसे कलह का बीज मानता है, शारीरिक आवश्यकताओं की अभिलाषा को आत्म-भिन्न निर्जीव पदार्थ की सेवा मानकर उससे आत्म-धर्म का कुछ भी स्वार्थ नहीं मानता। पौद्गलिक तत्त्वमय शरीर और पुद्गल कर्म दोनों आत्मतत्त्व को बंधन में डालने वाली-पराधीनकरनेवाली वस्तु हैं। साधु के सम्पूर्ण प्रयत्न दोनों के मूल विनाश की ओर सदा रहते हैं। यह परिपूर्ण अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करता हुआ जब अपने प्रयत्न में सफल होता है तब आत्मराज्य-स्वराज्य को प्राप्त कर लेता है।

ऊपर के व्याख्यान से यह सिद्ध है कि चाहे सांसारिक दृष्टि से हो चाहे पारमार्थिक दृष्टि से, जो मनुष्य स्वराज्य के स्वातन्त्र्य सुख का अनुभव करना चाहता है उसे व्यक्तिगत स्वार्थों का मोह त्यागकर विश्व के प्राणियों से मित्रता करनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति संसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में अक्षय कीर्ति का सम्पादन करता है। स्वार्थी मनुष्यों की हीं संसार में अकीर्ति होती है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर पाक्षिक श्रावक जाति सम्प्रदाय-ग्राम-प्रान्त आदि भेद भाव को भुलाकर समस्त मानवों के साथ सम-दुख-सुख-भागी बनकर बंधुत्व भाव स्थापित करता है।।१२।।

(उपजातिः)

सुखी ह्यधर्मेण भवामि नित्यं
ह्येवञ्च भावो न कदापि कार्यः ।
भवामि धर्मेण सुखी सदेति
कार्यात्मशान्तेर्वरभावनैव ।।१३।।

सुखीत्यादिः— अधर्मेण हिंसयाऽसत्यसम्भाषणेन परधनापहरणेन परवनितासंभोगेन कूटकपटव्यवहारेणात्मस्वार्थसाधनेन स्वभोगोपभोगसाधनाय परप्राणपीडनेन अखिललोकानामपि दारिद्र्याभिभूतक्षुत्क्षामपीडितनिर्वस्त्रकत्वादिभीमदुःखोत्पादकेन धान्यवस्त्रादिपरिग्रहसञ्चयरूपमहापापेन नित्यं सर्वदा सुखी भवामि भविष्यामि, एवं भावः कदापि न कार्यः। तथा सदा धर्मेणैव उत्तमक्षमादुःखितसेवापरोपकारवृत्तिसम्यग्ज्ञानार्जनदेवतीर्थवन्दना सम्यग्गुरुसेवादुःखितदानादिकर्मणा अहं सुखी भवामि भविष्यामि इति आत्मशान्तेः स्वात्मनिर्वृत्तिहेतोः वरभावना श्रेष्ठभावना सदा कार्या।।१३।।

हिंसादिरूप पापों के द्वारा परधनहरण कूटकपट द्वारा स्वार्थ साधन परस्त्रीभोग अपने भोगोपभोग के निमित्त पर प्राणियों को पीड़ा देना आदि दुष्कर्मों के द्वारा अधिकांश मानवों को दरिद्र-क्षुधापीडित और नग्न बना देनेवाले धन-धान्य, वस्त्रादि परिग्रह को अतिसंग्रह करने रूप महापाप रूप व्यापार के द्वारा मैं सुखी हो जाऊँगा— ऐसा भाव कभी नहीं करना चाहिए। पाक्षिक गृहस्थ को सदा यह भावना सर्वोत्तम प्रकार से करनी चाहिए कि उत्तमक्षमा, दुखियों की सेवा, परोपकार, सम्यग्ज्ञान का लाभ करना व कराना, देववन्दना, तीर्थवन्दना और सम्यग् गुरु की सेवा व दुखित दानादि सत्कर्म स्वरूप धर्म के द्वारा ही मैं सदा सुखी हो सकूँगा ऐसी उत्कृष्ट भावना संतोष सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिए सदा हृदय में रखनी चाहिये।

भावार्थ— धर्म सुख का साधन है और अधर्म दुःख का ऐसा प्रायः सभी कहते हैं किन्तु धर्म क्या है और अधर्म क्या है इस विषय में बड़ा विवाद है और इसी विवाद के कारण सिद्धान्तवादी भी भटक जाते हैं। उन्हें भी वास्तविक मार्ग नहीं मिल पाता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए श्री पूज्य आचार्य महाराज ने पूर्व श्लोकों में यह बता दिया है कि "अहिंसैव परो धर्मः"।

सत्य, अचौर्य, स्ववनितासंतोष, अल्पपरिग्रहत्व, क्षमा, विनय, संतोष, सरलवृत्ति, त्याग और दान आदि सम्पूर्ण धर्म एक अहिंसामूलक ही हैं। बिना अहिंसा पालन के इनमें से एक का भी पालन नहीं हो सकता और अहिंसाव्रती इन सभी व्रतों को अहिंसा की बढ़ती हुई भावना से स्वयं प्राप्त कर लेता है। इसके विरुद्ध हिंसाचारी, असत्यभाषण, परधनहरण, परवनिताहरण, भयंकर परिग्रह संग्रह, क्रोध, उद्धता, असंतोष, कूटवृत्ति और अनुदारता आदि दुर्गणों का स्वयं शिकार हो जाता है। अथवा ऐसा कहिए कि बिना हिंसा के इनमें से कोई पाप नहीं हो सकते इसलिए "अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है" ऐसा उपदेश किया गया है। दूसरे शब्दों में यह भी ध्वनि निकलती है कि 'हिंसा ही सर्व पाप का मूल हैं, और इसलिए यही अधर्म है"

उक्त मूल सिद्धान्त पर ही पाक्षिक श्रावक को उपदेश दिया गया है कि स्वपरोपकारकरण, सर्वजीवसुखदुःखसमभाव, धर्मज्ञ पुरुष से प्रीति, धर्मात्मा पुरुषों की सेवा, उनके धर्म साधन में सहायता तथा धर्म के अंगभूत तीर्थ, देवस्थान और सम्यग्गुरू आदि का विनय एवं इनके रक्षण करने में अपना सर्वस्व त्याग आदि पाक्षिक के धर्म हैं।

पाक्षिक श्रावक को उक्त धर्म का स्वरूप समझकर उसपर सदा दृढ़ रहना चाहिए। सदा यही विचार करना चाहिए कि अपने धर्म को पालन करने से ही मैं सुखी रहूँगा। इसके विरूद्ध अधर्म सेवन से कभी सुखी न रह सकूँगा ऐसी भावना से उसे शान्ति सुख और सन्तोष प्राप्त होगा।।१३।।

(उपजातिः)

भार्या न बोध्या कटुभाषणेन
स्वसद्मवार्तापि बहिर्न भाष्या ।
निजात्मनिन्दैव सदेति कार्या
परप्रशंसाखिलसौख्यदात्री ।।१४।।

भार्येत्यादिः— पाक्षिकश्रावकस्य गार्हस्थिकजीवननिर्वाहो यथा सुखपूर्वकं स्यात् तथोपदिशत्याचार्यः— स्वभार्या स्वकलत्रं कटुभाषणेन न बोध्या न शिक्षणीया। कटुभाषणं तु परस्परं वैरवर्द्धकं भवति। तथा सति सच्छिक्षाया अपि न कोऽपि प्रभावो भवति, अत एव प्रियं हितं च वक्तव्यम्। स्वसद्मनि या काऽपि गोपनीया वार्ता दम्पत्योर्भ्रात्रोः, पितृपुत्रयोर्वा मध्ये भवेत् सा बहिर्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाष्या गृहातिरिक्तानां पुरुषाणां पुरस्तान्न प्रकाशनीया। भोजन-पान-यान-निधुवन-धन-संपत्तिकादिविषया-नालम्ब्य व्यापार-व्यवहारादिजीवनोपायविषयञ्चालम्ब्य गृहस्थेषु परस्परं परिस्थित्यनुसारेण यथावसरं कटुवार्तालापो भवत्येव तस्य बहिर्भणने स्वगृहच्छिद्रप्रकाशनं भवति, स्ववैरिणो विरोधिनश्च तेन स्वलाभाय परहान्यै च प्रयतन्ते। एवं प्रसङ्गप्रस्थापक-गृहसदस्यः तदतिरिक्तगृहसदस्यानामपराधी भवति परस्परं कलहश्च जायते लोकनिन्दा स्वार्थभ्रंशश्च भवति, अतएव न बहिर्भाष्या स्वगृहवार्ता। स्वगुणलाभार्थिभिः पाक्षिकैः सदा निजात्मनिन्दैव कार्या अखिलसौख्यदात्री परप्रशंसा च; यतः परगुणान्वेषणं आत्मदोषान्वेषणं च लाभप्रदं भवति। एवमुक्तगुणविशिष्टः शिष्टपुरुष एव इह लोके प्रशस्त उच्चगोत्रकर्मबंधकश्च भवति। अत एव उभयलोकसुखप्रदा एषा नीतिरङ्गीकर्त्तव्या।।१४।।

पाक्षिक श्रावक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को भी उत्तम शिक्षा देवे और उससे सदा प्रिय वचनों से वार्तालाप करे। यदि कोई त्रुटि हो तो मधुर शब्दों में ही उसे समझावे, कठोर शब्दों का उपयोग न करे। अपने गृह सम्बन्धी सुख-दुःख आदि की चर्चा दूसरों से न करे, सदा अपने अवगुणों की निन्दा और दूसरों के गुणों की प्रशंसा करे, ऐसा व्यवहार उसे सुखदाई होगा।

भावार्थ— गृहस्थी एक रथ के समान है। कोई भी रथ तब तक ठीक नहीं चलता जब तक कि उसके आधारभूत दोनों पहिए समान न हों। इसी तरह गृहस्थ जीवन के पति और पत्नी ये दोनों ही प्रधान अंग हैं। ये दोनों यदि समान आयु, रूप, विद्या, सम्पत्ति और प्रकृति वाले हों तो सम्बन्ध उत्तम चलता है। यह बात प्रायः देखी जाती है कि वर और कन्या के अभिभावक माता पिता आदि वर कन्या का रूप और सांपत्तिक अवस्था मात्र इन दो बातों का ही उनके विवाह में विचार करते हैं, शिक्षा-स्वभाव आदि के मिलान का विचार नहीं करते। शिक्षा की परीक्षा सरलता से होने पर भी स्वभाव की परीक्षा होना सरल नहीं है। स्वभाव की परीक्षा मनुष्य की तब होती है जब कुछ दिन काम पड़ जाता है, इसलिए श्रीगुरु यहाँ सर्वसाधारण के निर्वाह योग्य गृहस्थ जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी उपदेश देते हैं कि गृहस्थ को उचित है कि यदि उसकी पत्नी शिक्षित नहीं है तो वह पति द्वारा शिक्षित बना ली जावे। यह शिक्षण परस्पर मधुर शब्दों के व्यवहार पूर्वक हो तो ही लाभदायक होगा, इससे प्रकृति भी उत्तम बनेगी। यदि पत्नी शिक्षित है और पति अशिक्षित है तो पत्नी का कर्तव्य है कि मधुर वाणी के द्वारा पति को शिक्षित करे और उसे अपने अनुरूप बनावे। शिक्षित दम्पति ही परस्पर अनुकूल स्वभाव वाले हो जाते हैं। एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित हो तो प्रकृति का मिलान न होने से दोनों का जीवन दुःखमय व्यतीत होता है इसलिए दोनों को एक दूसरे को एक दूसरे को शिक्षित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनाने का प्रयत्न करना ही सुखी गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम उपाय है। यह उपाय तभी सफल हो सकता है जब कि दोनों परस्पर मधुरभाषी हों।

गृहस्थ जीवन में यह भी पद-पद पर सम्भावित है कि पति पत्नी में किसी विषय को लेकर भिन्न-भिन्न मत हो जाय, ऐसे समय अपनी बात दूसरे को समझाने के लिए भी प्रिय वाणी का उपयोग करना चाहिए।

यह भी सम्भव है कि दोनों में से कोई एक दूसरे का अपराध कर बैठे। ऐसी दशा में अपराधी को उसका अपराध समझा देना ही उसे दूर करने का पर्याप्त उपाय है, यदि वह मधुर शब्दों द्वारा समझा दिया गया हो।

सारांश यह है कि दम्पत्ति का पारस्परिक व्यवहार मधुर हो तो उसका जीवन सुखी रह सकता है अन्यथा दुःखी रहेगा। मनुष्य जीवन सुखी बनाने में मधुर वाणी का ही प्रधान हाथ है, दूसरी बातों का उतना महत्त्व नहीं है। मनुष्य एक दूसरे के प्रति अपना अभिप्राय वाणी द्वारा ही प्रकट करता है और उसी से दूसरे के हृदय के भावों को परखता है। घोर अपराधी भी वचनों के द्वारा अपने आन्तरिक अभिप्राय को प्रकट कर क्षमापात्र बन जाता है तथा एक निरपराधी भी अपने कटुभाषण के द्वारा सर्वसाधारण की दृष्टि में भी अपराधी बन जाता है। मधुरभाषियों की प्रकृति समान न होने पर भी परस्पर मेल खा जाती है, समान प्रकृतिवाले व्यक्तियों में भी यदि किसी प्रसंग में कठोर शब्दों द्वारा वार्ता हो जावे तो विरोध उत्पन्न हो जाता है। बड़ा से बड़ा अपराधी अपने मधुर भाषण से अपने अपराध को माफ करा लेता है।

वचन का बहुत मूल्य है, वचन अमृत है यदि हित मित और प्रिय हो। श्री तीर्थंकर भगवान् में जन्म के समय से जो १० अतिशय (विशेषताएँ जिनके कारण वे सर्वोच्च माने जाते है) होते हैं उनमें प्रियहित वचन भी एक महान् अतिशय माना गया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भगवान् तीर्थंकर देव अनेकों गुणों के द्वारा यद्यपि विभूषित थे तथापि संसार के समस्त प्राणियों के लिए वे इसीलिये महान् बन सके कि उनके वचन जन्म से ही प्रिय और हितकारक थे।

भगवान् की दिव्यध्वनि का महत्त्व उसकी गम्भीरता सर्वार्थप्रतिपादकत्वादि गुणों के ही कारण नहीं प्रकट हुआ बल्कि इसलिए महत्त्व प्रकट हुआ कि उनकी वाणी इतनी मधुर थी कि उसे सुनने के लिए देवता भी तरसते थे और साधारण प्राणियों में पशु-पक्षी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी उसे सुनने के लिए आकर्षित होते थे। यह आकर्षण तत्त्वप्रकाशन के कारण नहीं था क्योंकि सर्वसाधारण मनुष्य, देव या पशु पक्षी तत्त्ववार्त्ता को उतना समझते नहीं, किन्तु उनकी प्रिय मधुर हितकारक वाणी में यह आश्चर्यकारी आकर्षण था।

मुनियों के चारित्र में वचन गुप्ति और भाषा समिति को प्रधान स्थान प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि या तो वचन ही न बोलें और बोलें तो प्रिय, हित वचन थोड़े बोलें। जो चीज अपने सम्पूर्ण रूप में तीर्थंकर को भी महत्त्व प्रदान करती है और जो मुनि जीवन में भी अपना प्रधान स्थान रखती है वह गृहस्थ जीवन के लिए क्यों न उपयोगी होगी। गृहस्थ का चारित्र भी मुनि के चारित्र का एकदेशरूप है इसलिए गृहस्थ को भी उचित है कि यदि वचन बोले तो हित, मित और प्रिय बोले, अन्यथा भाषण ही न कर मौन रखे। यह मधुर भाषण पद्धति जिस तरह बाहिरी संसार में हमारे जीवन को सुखी बनाती है इसी तरह इसका सफल प्रयोग घर-संसार के प्राणियों में भी सम्पूर्ण कष्ट और सन्तापों को दूर करने की महौषधि है। वर्तमान समय में घर-घर में कलह देखने में आती है उसका एकमात्र कारण अप्रिय कटुक वार्त्तालाप ही है। पुरुष वर्ग यदि शिक्षित होता है तो वह अपनी विद्वत्ता के अभिमान के कारण अपनी अशिक्षित पत्नी का निरन्तर अनादर करता है, उससे प्रियसंलाप नहीं करता। इसी तरह यदि स्त्रियाँ अशिक्षित होती हैं तो वे शिष्ट भाषण का नाम तक नहीं जानतीं। स्त्रीवर्ग के शिक्षित और पुरुषवर्ग के अशिक्षित होने पर भी ठीक यही दशा होती है। दम्पत्ति को उचित है कि एक दूसरे को उत्तम शिक्षा देकर प्रिय भाषण द्वारा सुखी बनावे। वे तभी संसार में उच्च आदर्श का सृजन कर सकते हैं।

परमार्थ सिद्धि के लिए जैसे साधु संस्था है वैसे ही इहलौकिक उन्नति के लिये गृहस्थ जीवन अंगीकार करना भी आवश्यक है। ये दोनों श्रेणियाँ प्राणी को यथायोग्य सुखी बनाने के लिये हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी मध्यममार्गियों की है। जो गृहस्थ जीवन का क्रमशः त्यागकर साधु मार्ग पर जाना चाहते हैं। यह श्रेणी भी ग्राह्य है। इन तीनों के अतिरिक्त अनियमित और असंयत जीवन व्यतीत करनेवाले, एक दूसरे के सुख दुःख का साथ न देनेवाले, दूसरों को कष्ट पहुँचाकर अपना स्वार्थ साधन करनेवाले; अप्रिय संलाप के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाकर खुश होनेवाले लोगों की श्रेणी ग्रहण करने योग्य नहीं। ऐसे लोगों का गृहस्थ जीवन कष्टमय व्यतीत होता है। अप्रियसंलापी स्त्री-पुरुषों में परस्पर बात-बात में विरोध रहता है, यह विरोध क्रमशः वैर का रूप ले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेता है और यदि हितू ही शत्रु बन जाय तो अनर्थ की परम्परा को फिर कोई नहीं रोक सकता। ऐसे गृहस्थों का जीवन नरकतुल्य कलह में ही व्यतीत होता है, इसलिए परस्पर में सापराध भी हों तो भी कटुभाषा का प्रयोग पाक्षिक को न करना चाहिये।

गृहस्थ जीवन को दुःखमय बनाने वाली दूसरी बात है स्वगृहच्छिद्रप्रकाशन अर्थात् अपने गृहस्वामी या गृहस्वामिनी की दूसरे से निन्दा करना, एक दूसरे के दोषों का वर्णन करना, अपनी हीनता दुरवस्था को दूसरों पर प्रकट करना इत्यादि। गृहस्थ जीवन में अनेक घटनाएँ बीतती हैं। कभी-कभी सांपत्तिक स्थिति अच्छी होती है तब मनुष्य का रहन-सहन, खान-पान, ओढ़ना-पहिनना और वस्त्राभूषण कुछ अच्छे तरीके के होते हैं और जब दरिद्रता पल्ला पकड़ती है तब बात-बात में कष्ट उठाने पड़ते हैं। दोनों अवस्थाओं को दूसरों पर प्रकट कर अभिमान या निन्दा नहीं करनी चाहिये।

हम चाहे अपने घर में सुखी हों या दुखी पर किसी के सामने हाथ नहीं पसारना चाहिये, अपने परिश्रम द्वारा उपार्जित धन से ही अपना स्वाधीन जीवन व्यतीत करना चाहिये। स्वाधीन जीवन में कष्ट भी सुखदायी होते हैं और पराधीन जीवन के सुखसाधन भी कांटे की तरह शल्य रूप होते हैं, इसलिये अपने घर की वार्ता यदि वह गोपनीय है तो उसे प्रकाशित करने में लाभ नहीं, हानि ही है। तुम्हारे प्रकाशित छिद्र को सुनकर लोग हंसेंगे या तुम्हारी कमजोरी जानकर तुम पर हमला करेंगे और तुम्हारे कष्ट को बढ़ावेंगे।

कोई भी गृहस्थ चाहे धनी हो या निर्धन, बलवान हो या निर्बल, समझदार हो या कमसमझ, चतुर हो या मूर्ख, सदाचारी हो या कदाचारी, लोभी हो या निर्लोभ, उदार हो या अनुदार किन्तु वह सर्वसाधारण समाज के सामने सदा अच्छी हैसियत से रहने का प्रयत्न करता है। वह लोगों की दृष्टि में सदैव अपने जन, धन, बुद्धि, बल, वैभव, प्रतिष्ठा, सदाचार, कीर्ति, उदारता और संतोष आदि सद्गुणों की (जो कि प्रत्येक गृहस्थ में होना आवश्यक हैं) धाक जमाए रखना चाहता है। भले ही वह उनमें अपनी हीनता का अनुभव करता हो पर समाज में अपनी हैसियत अच्छी रहे इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अपनी इस प्रतिष्ठा के बल पर ही व्यापारादि के द्वारा आर्थिक लाभ तथा व्यवहार के द्वारा कीर्ति का उपार्जन करता है। यदि कोई स्त्री अपने घर की इन बातों को दूसरों से प्रकाशित करे या कोई पुरुष अपनी स्त्री के विरुद्ध दूसरों में उसकी निन्दा प्रकाशित करे तो उसका व्यापार या सामाजिक व्यवहार हीन हो सकता है जिससे दोनों के जीवन कष्टप्रद हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसे प्रसंगों पर लोग आत्मघात या एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे के घात तक का प्रसंग उपस्थित कर लेते हैं अथवा दूसरों द्वारा अपमानित होकर जीवन भर दुःख पाते हैं इसलिए अपने गृह सम्बन्धी सुख दुःख को बाहर प्रकट न करे।

इसके साथ ही साथ यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि मिथ्या परनिन्दा और आत्म-प्रशंसा से भी मनुष्य की कीर्ति नहीं फैलती, न उसकी अच्छी हैसियत समाज में समझी जाती है, इसलिए उससे भी सदैव दूर रहना चाहिए। संसार का यह नियम है कि यदि तुम अपनी प्रशंसा स्वयं करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारे इस कार्य की आलोचना करेंगे, जिससे तुम्हारी निन्दा होगी। यदि तुम अपने अवगुणों की निन्दा करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारी इस गुण की प्रशंसा करेंगे और उनकी इस आलोचना से तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी।

अपने अवगुणों की स्वयं निन्दा करने से अपने अवगुण दूर हो जाते हैं यदि मनुष्य उन्हें अवगुण मानता रहे तो। इस मार्ग पर चलने वाले को यह ध्यान सदैव रखना चाहिए कि वह अवगुणों को निर्लज्ज होकर प्रकट न करे। निर्लज्ज पुरुष अवगुण को गुण मान लेता है। उसे ग्राह्य समझता रहता है। उस दुर्गण को छोड़ता नहीं और अपनी उस अकीर्ति को ही कीर्ति मानकर प्रसन्न होता है। इसके विरुद्ध सुजन पुरुष अपने अवगुण की निन्दा करता हुआ उस दोष से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। जब तक वह दुर्गुण दूर नहीं होता लज्जित होता है। लज्जा ऐसे स्थल पर भूषण है। ऐसे प्रसंगों पर लज्जा न रहना एक महान् दुर्गुण है। यह दुर्गुण एक ऐसा अभेद्य किला है कि जिससे दूसरे सद्गुण उस मनुष्य में प्रवेश नहीं पाते। वह सदा के लिए अवगुणी बन जाता है।

अपने अवगुणों की निन्दा वही मनुष्य करता है जिसे दुर्गुणों से प्रीति न होकर गुणों से प्रीति है, जो अवगुण त्यागकर गुणी बनना चाहता है। यही कारण है कि वह अन्य पुरुष के गुण अवलोकन करता व उन गुणों की प्रशंसा करता है। वह चाहता है कि अपने भीतर गुण ही विद्यमान हों, पर यदि उनका स्वयं वर्णन किया जाय तो यही एक दुर्गुण है, इसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह दूसरे व्यक्तियों में यदि सचमुच अवगुण हैं और उन अवगुणों का प्रकाशन किया जाय तो यह भी एक दुर्गुण है। इससे भी बचना चाहिए।

श्रावक उपगूहन अंग का धारक है। वह किसी धर्मज्ञ पुरुष की निन्दा नहीं करता, उसके अवगुण प्रकट नहीं करता, किन्तु गुण निरीक्षण कर उन्हें प्रकट करता है। इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का स्वभाव किसी भी व्यक्ति के लिए अत्यन्त लाभप्रद होता है। ऐसा मनुष्य यदि दुष्ट पुरुषों की संगति में भी पड़ जाय तो उसपर उस कुसंग का असर नहीं पड़ता, क्योंकि वह अवगुणग्राही है ही नहीं। उसे तो वहाँ से भी गुण ले लेना है यदि कुछ मिलें तो, यदि गुण न भी हो तो वह उनके अवगुणों पर दृष्टि ही न देगा। अपनी इस प्रकृति के कारण वह गुणी ही रहेगा, कभी अवगुणी न होगा।

इसी तरह जो व्यक्ति अपने भीतर के दोषों का सदा निरीक्षण कर आत्म-निन्दा करता है उसके सम्पूर्ण दोष दूर हो जाते हैं। वह दिन प्रति दिन निर्दोष बनता जाता है, इसलिए श्री आचार्य कहते हैं कि निज-निन्दा और परगुण-प्रशंसा सम्पूर्ण सुखों को प्रदान करनेवाली है।

गृहस्थ जीवन में कभी-कभी किसी बाल, अज्ञान या धर्मद्वेषी पुरुष के साथ व्यवहार करने का प्रसंग आता है उस समय कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। उन अज्ञानियों या धर्मद्वेषियों के सामने आत्मनिन्दा या स्वदोष प्रदर्शन करना विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है। अज्ञानी तो वक्ता या उपदेश दाता को दुर्गुणी मान लेता है और उससे यह कुशिक्षा ग्रहण करता है कि जब ऐसे धर्मज्ञ पुरुष में इतने दुर्गुण हैं जैसा कि वे कहते हैं तो मुझमें कौन बहुत दुर्गुण हैं। उसकी दुर्गुणों से घृणा हट जाती है। वह गुणी पुरुष में दुर्गुण होना मानकर दुर्गुणों का रहना कोई अधिक हानिप्रद बात नहीं मानता। इसी तरह वह सुजन से अपनी प्रशंसा सुनकर आत्मतोष से भर जाता है और अभिमानी होकर गुण प्राप्ति के लिए फिर कोई प्रयत्न नहीं करता।

धर्मद्वेषी पुरुष भी अज्ञानी पुरुष की तरह स्वात्म-निन्दक पुरुष के वचनों को ही प्रमाण में उपस्थित कर धर्मात्माओं की निन्दा करने लगता है और धर्म से घृणा करने लगता है और अपनी प्रशंसा सुनकर अपने अधर्म की भी प्रशंसा स्वयं गाता है और इस तरह स्वात्मनिन्दक पुरुष की सज्जनता से अनुचित लाभ उठाता है। ऐसे व्यक्तियों के सामने स्वात्म-निन्दा और परप्रशंसा का कोई मूल्य नहीं, इसलिए उनमें यह पद्धति न स्वीकार की जावे। उचित पात्रों में ही उक्त विधि के प्रयोग का उपदेश श्रीगुरु का है, यह समझकर ही उक्त विधि स्वीकार करनी चाहिए।।१४।।

एतस्यैव समर्थनार्थं निम्नश्लोकमाह—

इसी विषय के समर्थन के लिए आचार्य पुनः उपदेश कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(उपजातिः)

वादो विवादोऽपि मिथो विधेयः
कदापि न प्राणहरः कुबुद्धया ।
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेयो
यतो भवेच्छान्तिकरी प्रवृत्तिः ।।१५।।

वाद इत्यादिः— कुबुद्धया दुर्बुद्धया मिथः परस्परं वादः परपराजयेच्छया प्रवर्त्तमानो वार्त्तालापः कदापि न विधेयो न कर्त्तव्यः। विवादः विरोधोत्पादको वादो विवादः सोऽपि नाङ्गीकर्त्तव्यः। यतः कषायोत्पादकत्वादसौ प्राणघातकः प्राणहरो भवति। आत्माभिमानदग्धानां प्राणिनां स्वपराजयः परविजयोत्कर्षश्च प्राणघातादप्यधिकक्लेशप्रदो भवति इति यावत् । वस्तुतस्तु नायमेकान्तः। किन्तु बुद्धिमन्तः तत्त्वान्वेषिणो वस्तुस्वरूपं ज्ञातुमिच्छन्ति तदा कुतत्त्वखण्डनं सुतत्त्वप्रकाशनं प्राणदायकमिव भवति। अतएव पूर्वोक्तविधीन् स्वबुद्धिवैभवेन तोलयित्वा यथावसरं तत्र प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कार्या। एवं विचार्य विहिता स्वप्रवृत्तिः सदा शान्तिकरी भवेत् स्यात् ।।१५।।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

किसी भी पुरुष के पराजय की इच्छा से परस्पर कलह और वैर को उत्पादन करनेवाला वाद और विवाद नहीं करना चाहिए। अनेक प्राणी जो अपने घमंड में ही चूर रहते है, अतत्त्व को ही तत्त्व समझ कर अपने को धर्मज्ञ या धर्मतत्त्व- वेत्ता मान लेते है, वे मानधनी वाद में अपनी पराजय देखकर जीवित ही प्राण देने को तैयार हो जाते हैं-स्वपराजय से होनेवाली तीव्र कषाय के कारण आत्मघात कर लेते हैं। उनकी इस कुबुद्धि को धिक्कार है जो उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं उत्पन्न करने देती। आचार्य उपदेश देते हैं कि ऐसे पुरुषों से वादविवाद नहीं करना चाहिए, जिन्हें वाद-विवाद तत्त्वदर्शक न हो सके बल्कि उनके लिए जीवितावस्था में भी प्राणघातक जैसा हो जावे। सज्जन सद्गुणग्राही पुरुष को अतत्त्व खण्डन पूर्वक तत्त्वज्ञान की कथनी करनी हानिप्रद नहीं है। उपर्युक्त विधि को यथार्थ समझकर ही इसका प्रयोग करना शान्ति को उत्पन्न करता है, अन्यथा तत्त्वोपदेश के हृदय में भी अशान्ति उत्पन्न होकर हानिकर हो सकती है।

भावार्थ— अपने विषय का दूसरे के प्रति प्रतिपादन करना तबतक नहीं बनता जब तक कि उस विषय का खण्डन न किया जावे जो हमें इष्ट नहीं है। इस कार्य को ही वाद कहते हैं तथा यही वाद जब विशेष रूप में बढ़ जाता है तो उसे विवाद कहते हैं, यदि वह स्वजय और परपराजय चाहते हुए किया जाय। इसके विरुद्ध बिना जयपराजय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की इच्छा से तत्व का वर्णन मिथ्यातत्त्व के खण्डन पूर्वक परहित कामना से किया जाय तो वह वादविवाद नहीं बल्कि उसे तत्त्व-निरूपण कहते हैं।

तत्त्व का निरूपण और अतत्त्व का निवारण तत्त्वदर्शी वीतरागी समदृष्टि साधु को भी करना आवश्यक होता है। वे कुपथगामी जीवों के सुपथपर लगाने की इच्छा से ऐसा करना अपना श्रेष्ठ कार्य मानते हैं। कभी-कभी वस्तुतत्त्व को सर्वसाधारण में प्रकाश करने, सद्धर्म की प्रभावना करने और अधर्म के प्रभाव और प्रसार को रोकने के लिए मिथ्याबुद्धि वालों के साथ उनके मिथ्यावाद की पराजय और सम्यग्वाद की विजय करने के लिए वादविवाद भी उन समदृष्टि साधुओं को करना पड़ता है। तथापि वह दोषाधायक नहीं है; क्योंकि वह वादविवाद उसके आधारभूत मिथ्यावादों का निराकरण कर लोगों को सम्यग्वाद पर चलाने के लिए किया गया है। इसमें यदि कोई प्रेरणात्मक शक्ति है तो वह है मुनि के अन्तरंग में सर्वहित कामना। वे चाहते हैं कि लोग अधर्म का मार्ग छोड़ आत्महितकारी मार्ग का आश्रय लेवें। इस प्रकार की सुबुद्धि के द्वारा किया गया वादविवाद प्राणघातक नहीं होता, इसका निषेध नहीं है। गृहस्थ भी ऐसी कामना से यदि वादविवाद करे तो हानि नहीं, किन्तु इस प्रसंग पर श्री आचार्य ने जो वादविवाद परस्पर न करने का उपदेश दिया है उसका सारांश यह है कि कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ विवाद जीवित ही प्राणघातक हो जाता है, वह नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिमान के वश तत्त्व अतत्त्व की चिन्ता न करते हुए केवल पर के पराजय और अपने विजय की इच्छा से वादविवाद करना पर के लिए प्राणपीड़ाकारक होने से हेय रूप है।

जिनका उद्देश्य केवल दूसरों का मान खण्डन ही है वे इस बात को भी नहीं देखते हैं कि हम सत्पक्ष पर हैं या असत्पक्ष पर, यदि प्रतिवादी सत्यपक्ष पर भी हो तो वादी असत्पक्ष की भी पुष्टि करके प्रतिवादी को नीचा दिखाना चाहता है और अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करके अपने अहंकार की पुष्टि करता है। ऐसा करना पाप है, असत्यपोषक; अभिमानवर्द्धक और परप्राणपीड़क होने से यह त्याज्य है।

अपने हित की इच्छा करनेवाले गृहस्थ को इस मिथ्या विवाद से दूर रहना चाहिए। यह बात नहीं है कि इससे पर प्राणघात ही हो बल्कि स्वघात भी हो सकता है। वादी जब केवल स्वाभिमान के पुष्ट करने के लिए प्रतिवादी के सत्पक्ष का भी खण्डन करना चाहता है तो यह नितान्त सम्भव है कि प्रतिवादी की अपेक्षा वादी ही इस वाद-विवाद में हेठी खा जाय अर्थात् पराजित हो जाय। यह बात वादी के लिए भी दुःखदायक होगी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और अपने पराजय से उत्पन्न दुःख के कारण यह भी संभव है कि उसे भी आत्मघात कर लेना पड़े। यह वाद विवाद वैर-विरोध का कारण हो जाता है और इससे उभयवादी परस्पर एक दूसरे के भी प्राणघातक हो जाते हैं। उभय वादियों का पक्ष लेनेवाले इतर मनुष्य भी कलह के बढ़ानेवाले हो जाते हैं और उनमें भी कषायातिरेक बढ़ जाने से एक महान् हिंसा का जन्म होता है। इसलिए श्रावक को कभी भी ऐसे वाद विवाद को जिसका आधार केवल कुबुद्धि हो अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए।

इस कुबुद्धि का परिणाम यह भी निकलता है कि वादी या प्रतिवादी असत्पक्ष के पोषण के द्वारा सन्मार्ग से स्वयं विमुख हो जाता है और यदि असद्मार्ग की पुष्टि करके स्वाभिमान की रक्षा कर भी ली तो भी उसका अन्य उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि जनता तत्त्व समझती है तो जीते हुए वादी या प्रतिवादी को कट्टर धूर्त समझेगी और यदि जनता तत्त्व नहीं समझती तो वह सम्यग्मार्ग से अर्थात् आत्महित के मार्ग से दूर होकर अपना अकल्याण कर सकती है और वह पाप उस व्यक्ति के ऊपर होगा जो असत्पक्ष का पोषण कर उसे अहित मार्ग की तरफ प्रेरित करता है।

किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रकार की कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ वाद विवाद सराहनीय नहीं है, इसलिए इसे महान् हिंसा का कारण जानकर त्याग देना चाहिए तथा विवेक पूर्वक पूर्वोक्त सम्पूर्ण विधि को इस पद्धति से स्वीकार करना चाहिये कि जिससे पारस्परिक वैर विरोध को स्थान न मिले और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसी हो जों हमारे लिए या दूसरों के लिए शान्ति उत्पन्न करनेवाली हो। कलहात्मक चित्तवृत्ति इस लोक और परलोक दोनों में अशान्ति पैदा कर हमें कषायवान् बना देती है जिससे भव-भव में भ्रमण करना पड़ता है व कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसलिए श्रावक को अपने हित की कामना से विवेकपूर्ण कार्य करना चाहिए।।१५।।

इस प्रकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरविरचितश्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्रीकृत प्रभा नामक व्याख्या में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

।। श्रीः ।।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रश्नः—जघन्यनैष्ठिकस्यैव किं चिह्नं विद्यते वद?

यहाँ नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। उसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं, इसलिए सबसे प्रथम जघन्य नैष्ठिक श्रावक के क्या लक्षण हैं ऐसा शिष्य प्रश्न करता है। इसका उत्तर श्री आचार्य इस प्रकार देते हैं—

(वसन्ततिलका)

पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेषाः
सर्वेऽपि नैष्ठिकजनाः कथिताः क्रमेण ।
तेषां हि वच्मि सकलं सुखदं स्वरूपं
तद्बोधशून्यजनतादिहिताय भक्त्या ।।१६।।

पूर्वोक्तेत्यादिः- सदाचारपरायणेषु श्रावकेषु पाक्षिको नैष्ठिकः साधकश्चेति भेदत्रयेण भिन्नेषु आद्यानां पाक्षिकाणां स्वरूपं तच्चिह्नानि च प्रथमाध्याये निरूपितानि। तान् पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेषास्तु पाक्षिकातिरिक्ताः साधकावस्थामप्राप्ताः श्रावकः क्रमेण नैष्ठिकाः कथिताः। तेषां स्वरूपं साङ्गोपाङ्गं क्रमशः कथयन्ति श्रीआचार्यपादाः। भक्त्या परिपूर्णश्रद्धया; तान् प्रति ये नैष्ठिकश्रावकस्वरूपमजानानाः सन्ति। एतत्प्रतिपादनं श्रोतृभ्य उभयलोके सुखकरं भविष्यतीत्याचार्येण प्रतिपादितमिति।।१६।।

सदाचार का आराधन करनेवाले श्रावकों के पाक्षिक नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किए गए हैं। उनमें पाक्षिकों का स्वरूप प्रथमाध्याय में कहा है। तद्रूप आचारण करनेवाले पाक्षिकों के सिवाय तथा जिन्होंने अभी साधक अवस्था प्राप्त नहीं की ऐसे सम्पूर्ण श्रावक नैष्ठिक हैं। उनका सरल, सुबोध और सम्पूर्ण स्वरूप श्रीआचार्य उन मनुष्यों के हित के लिए, जो इस विषय से अपरिचित हैं, क्रमशः वर्णन करेंगे।

भावार्थ— श्रावक उस गृहस्थ को कहते हैं जो सद्गुरु के उपदेश को स्वहितबुद्धि से श्रद्धा पूर्वक सुनता है और तदनुकूल आचरण करता है। ऐसे श्रावक तीन श्रेणियों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में विभक्त हैं, जिनके नाम पाक्षिक नैष्ठिक और साधक हैं। पाक्षिक श्रावक का स्वरूप प्रथम अध्याय में लिखा गया है। नैष्ठिक श्रावक प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक के सम्पूर्ण श्रावकों को कहते हैं। साधक श्रावकों की कोई अलग प्रतिमा श्रेणी नहीं होती, किन्तु अन्त समय समाधिपूर्वक मरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावक ही साधक कहलाते हैं। इस विषय में कुछ ग्रन्थकारों का यह भी मत है कि पहिली से लेकर १० वीं प्रतिमा तक नैष्ठिक हैं और ११ वीं प्रतिमावाले श्रावकगण यथार्थ आत्महित साधक साधु-पद की आराधना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न साधन करने से साधक कहे जायँ तथा समाधिमरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक भी साधक इसीलिए कहे जाते हैं कि वे अपने जीवन के अन्तिम भाग में जब कि वे इस जीवन के रक्षण में अपने को समर्थ नहीं पाते समाधि साधने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् उक्त साधु पद की आराधना करते हैं जिसे साधने के प्रयत्न के कारण ११ वीं प्रतिमाधारियों को साधक कहा है। तात्पर्य यह कि जो परमार्थपथप्रस्थायी परम वीतराग तपस्वी साधु द्वारा साधी जानेवाली समाधि (रागद्वेष रहित साम्यभाव) को साधने का साक्षात्प्रयत्न करते हैं, वे साधक हैं।

यद्यपि साधु पद प्राप्त करने की अभिलाषा प्रत्येक श्रद्धावान् श्रावक को होती है क्योंकि मुक्ति लाभ का वास्तविक मार्ग तो वही है। तथापि सभी श्रेणी (प्रतिमा) के आराधक उस साधु पद के साधने का साक्षात् प्रयत्न नहीं करते। उनका साक्षात् प्रयत्न अपनी श्रेणी के आचरण को निर्दोष बनाने और अपने से आगे की श्रेणी को प्राप्त करने के लिए होता है। साधु पद प्राप्ति के मार्ग में वे अवश्य हैं पर उनके लिए वह सुदूर है जब तक कि वे मध्यम श्रेणियों को पूरा नहीं कर लेते। ११ वीं प्रतिमावाले के लिए या समाधिगत व्यक्ति के लिए न तो कोई अन्य श्रेणी है और न समाधिगत व्यक्ति के लिए अब मध्यम श्रेणी प्राप्त करने का समय है, अतः वे दोनों साधु पद के आचरणों का ही अभ्यास करते तथा उसी की भावना करते हैं। समाधिगत प्राणी तो अन्तिम समय में साधु पद प्राप्त भी कर लेता है। यही कारण है कि उन दोनों को साधक मान लिया गया है।।१६।।

इन पाक्षिक और साधकों के सिवाय १ से ११ प्रतिमा तक के आराधक सभी श्रावक नैष्ठिक हैं। इनका सरल स्वरूप तद्विषयक बोध रहित जनता के हित की आकांक्षा से ही प्रेरित होकर श्री आचार्य परम श्रद्धा के साथ इस द्वितीय अध्याय में वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

मन्दोदयात्सुमन्दाद्वा योऽप्रत्याख्यानकर्मणः ।
पञ्चविंशतिदोषान् हि सम्यक्त्वमूलनाशकान् ।।१७।।
त्यक्त्वा कुव्यसनं निन्द्यं यथाशक्ति च पातकम् ।
अष्टमूलगुणान् भक्त्या गृहीत्वा सौख्यदान् सदा ।।१८।।
द्वित्रयादिप्रतिमां युक्त्या गृहीतुं स्वपदं मुदा ।
यतते स्वरसं पातुं स कौ दार्शनिकः सुधीः ।।१९।।

मन्दोदयादित्यादिः— दर्शनमोहनीयकर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा जीवानां सम्यक्त्वस्योत्पत्तिर्भवति। केवलं सम्यक्त्वमाप्तवाञ्जीवो न संयमभूमिसमारोहकोऽतएव सोऽसंयमसम्यग्दृष्टिरिति चोच्यते। यदा खलु तस्यैव प्राणिनोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्कस्य मन्दोदयो भवति तदा तत्कर्मणो विशेषमन्दावस्थायां स सम्यग्दर्शनस्य मूलतो विनाशकान् पञ्चविंशतिसंख्यकान् (शङ्का-कांक्षा-विचिकित्सा-मूढदृष्टि-अनुपगूहन-अवात्सल्य- अस्थिरीकरण-अप्रभावना इति दोषाष्टकं, ज्ञान-पूजा-कुल- जाति-बल-सम्पत्ति-तपस्या-शारीरिकसौन्दर्यविषयकं मदाष्टकं, कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरुत्रयं तत्तदाराधकत्रयं च मिलित्वा षडनायतनानि, लोकमूढता-देवमूढता-गुरुमूढता इति मूढतात्रयं इति सर्वान संगृहीतान् पञ्चविंशतिदोषान्) परित्यज्य, तथा लोके शास्त्रे च निन्द्यं निन्दास्पदीभूतव्यसनसप्तकं द्यूतम्, मांसभक्षणम्, मद्यपानम्, वेश्यागमनम्, परस्त्रीवांच्छनम्, चौर्यम्, आखेटकम्, अपि त्यक्त्वा। देशतः हिंसा, असत्यम्, स्तेयम्, कुशीलम्, परिग्रहश्चेति पापपञ्चकं च शक्त्यनुकूलं त्यक्त्वा श्रद्धापूर्वकं कल्याणकारकान् मद्य-मांस-मधु-पिप्पल-प्लक्ष-न्यग्रोध-उदुम्बरत्यागस्वरूपान् अष्टमूलगुणान् गृहीत्वा धृत्वा यो द्वितीयतृतीयादिप्रतिमाव्रतं गृहीतुं प्रयत्नशीलः साकांक्षाश्च भवति स किल प्रथमप्रतिमाराधको भवति। स एव "दार्शनिकः" इति शास्त्रे लोके च गीयते। स बुद्धिमान दार्शनिकस्सदा स्वपदं मुक्तिस्वरूपं प्राप्तुं स्वरसं स्वात्मानन्दोत्थं स्वानुभवरूपं रसं च पातुमास्वादयितुमपि प्रयतते ।१७/१८/१९।

मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से दो प्रकार का है। दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ और चारित्रमोह की २५ कुल २८ प्रकृतियाँ हैं। इनमें से दर्शनमोहनीय की ३ तथा अनन्तानुबन्धी की ४ कुल सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन का घात करती हैं। जब इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तभी जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यहाँ अनन्तानुबन्धी चार के उपशम और क्षयोपशम से उनका अनुदय लेना चाहिये, क्योंकि उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी चार का यदि सत्त्व होता है तो वहाँ उनका उदय नहीं होता ऐसा नियम है। फिर भी ऐसे जीव के सम्यक्त्व के दोष अप्रत्याख्यानावरण चार के अत्यंत मंद होने से दूर होते हैं। वह सम्यक्त्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के घातक—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना— ये आठ दोष तथा ज्ञान, प्रतिष्ठा (यज्ञ) कुल, जाति, शक्ति, सम्पत्ति, तपस्या और शरीरसौन्दर्य इन आठ के आश्रय से उत्पन्न आठ प्रकार का मद और कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु तथा कुदेव के आराधक, कुशास्त्र के स्वाध्याय करनेवाले और कुगुरुसेवी ऐसे ६ प्रकार के अनायतन तथा लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता एवं गुरुमूढ़ता ऐसी ३ मूढ़ता सब मिलाकर २५ प्रकार के दोषों को दूर करके सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाता है। यही प्राणी इसी अप्रत्याख्यानकषाय के अनुदय में द्यूत, मद्य, मांस, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, चोरी और शिकार इस संग्रह रूप पांचों पापों से यथाशक्ति दूर रहता है।

यह बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, मद्य, मांस, मधु रूप आठ अति हिंसाकारक पदार्थों के खाने का त्यागकर आठ मूलगुणों का पालन करता है। वह ऐसा भाव रखता है कि संयमरूपी महल की मूलभित्तिस्वरूप ये आठ मूलगुण मेरे लिए यथार्थ में कल्याणकारक हैं। संयम के बिना इस दुःखमय संसार से छुटकारा मिलना असम्भव है। परिपूर्ण संयम का पालन प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में उसे अपने लिए संभावनीय नहीं प्रतीत होता, फिर भी उसकी भावना उसे प्राप्त करने के लिए सदा रहती है। वह प्रथम प्रतिमा का आराधक होने पर भी दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओं के पालन करने के प्रति सदा उत्सुक रहता है। उसकी आकांक्षा सदैव आत्मपद प्राप्ति तथा आत्मानुभव के आनंद से प्राप्त अमृत को आस्वादन करने की रहती है। वह बुद्धिमान् निःसंशय आत्मोत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसा गुणवान् पुरुष लोक व शास्त्र में 'दार्शनिक' अर्थात् प्रथम दर्शन प्रतिमा का धारी माना जाता है।१७/१८/१९।

प्रश्नः—किं सम्यक्त्वस्य चिह्नं स्यात् कदा वा वद मे गुरो?

नैष्ठिकश्रावकस्वरूपनिरूपणावसरे प्रथमं तावत् सम्यक्त्वमूलनाशकानां पञ्चविंशतिदोषाणा-म्परित्यागस्योपदेशः कृतः। तत्र न ज्ञायते यत् किं सम्यक्त्वस्य चिह्नमस्ति कदा वा तद्भवति तदुत्पत्तिनिमित्तं किमित्यर्थः। हे गुरो! तत्सर्वं मे कथय।

इस द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में नैष्ठिक श्रावक का वर्णन प्रारम्भ करते ही आचार्य महाराज ने सम्यक्त्व के २५ दोषों के त्याग का उपदेश दिया है। शिष्य कहता है कि सम्यक्त्व की क्या पहिचान है और वह किस निमित्त से होता है यह बात गुरुवर्य मुझे पहले बतावें। इन प्रश्नों का गुरु उत्तर देते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

मोहस्य सप्तप्रकृतेः क्षयादुपशमान्नृणाम् ।
शुद्धचिद्रूपमूर्तेर्वा यथावत्स्वपरात्मनाम् ।।२०।।
सुसत्यार्थस्वरूपस्य दर्शकं बोधकं प्रियम् ।
सम्यक्त्वं जायते शुद्धं जन्ममृत्युजराहरम् ।।२१।।
सद्देवगुरुधर्मादौ संसारक्लेशनाशके ।
तत्पश्चात्स्वात्मनि श्रद्धा जायते विमलेऽचले ।।२२।।

मोहस्येत्यादिः— संसारावर्त्तवर्त्तिनां संसारिजीवानां संसरणकारणेषु कर्मसु मोहनीयमेव प्रबलतमं कर्म वर्तते। दर्शनचारित्रमोहनीयभेदेन द्विधा भिन्नस्य तस्य मिथ्यात्व-सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वा-नन्तानुबन्धिचतुष्कस्वरूपसप्तप्रकृतेस्सर्वथा क्षयात् तदुपशमात् क्षयोपशमाद्वा स्वस्य शुद्धचिद्रूपमूर्तेः आत्मनः यथावद् बोधो भवति। अथवा स्वस्वरूपस्य परस्वरूपस्य च यथार्थतया भेदभासनं भवति। एतत्स्वपरावभासनं प्राणिनामाह्लादकरं भ्रमविनाशकं च भवति। तदेव जन्म-जरामरण-स्वरूपसंसार-परिभ्रमणनिवारकं शुद्धं सम्यक्त्वम् अस्ति। सत्यार्थस्वरूपे आप्ते सद्गुरौ आत्महितकारके जिनप्ररूपिते सद्धर्मे शुद्धचैतन्यमूर्तिस्वरूपे स्वात्मनि दृढ़ा श्रद्धा सम्यक्त्वे सत्येव भवति; संसारार्णवोत्तीर्णानां तेषां संसारक्लेशनाशकत्वात् । शुद्धसम्यग्दर्शनेन विना संसारदुःखतरणस्य नास्ति कश्चिदुपायः। अतस्तत्प्राप्त्यर्थमेव सदा यत्नः कार्यः। २०।२१।२२।

इस संसार समुद्र की उत्तुङ्ग तरङ्गों में यहाँ वहाँ भटकनेवाले प्राणी को भ्रमण कराने में निमित्त अष्ट कर्मों में से मोहनीय कर्म ही प्रबलतम कारण है। इसके दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ऐसी तीन प्रकृतियाँ तथा चारित्रमोह के २५ भेदों में से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसी ४ प्रकृतियाँ इस प्रकार मिलकर ये ७ प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन का घात करती हैं यह बात पहले बता चुके हैं। इनके उपशम, क्षयोपशम व क्षय से ही शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का बोध उत्पन्न होता है, अथवा यथावत् स्वरूप का या स्वात्मा से भिन्न पर पुद्गलादि पदार्थों का भान होता है। यह स्वपरावबोध ही प्राणियों के लिए आनन्ददाता और प्रिय होता है, इससे ही पर पदार्थों में स्वात्मबुद्धि रूप जो भ्रम था उसका उन्मूलन हो जाता है। इस परिणाम का नाम ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है जो जन्म, जरा और मृत्यु से भयावह संसार-परिभ्रमण को रोकने में समर्थ है।

वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी सत्यार्थ आप्त; वीतराग परम गुरु और प्राणिमात्र के हित को प्रतिपादक जिन धर्म में तथा आत्मा के शुद्ध चैतन्य चमत्कार स्वरूप में दृढ़ श्रद्धा इसी सम्यक्त्व गुण से ही प्राप्त होती है। संसार चक्र से परीत सद्देव और सद्गुरु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही संसार के दुःखों से बचाने में समर्थ हैं। शुद्ध सम्यग्दर्शन के संसारोत्तरण का कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। अतः उसकी प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न करना ही चाहिए।

विशेषार्थ— सम्यग्दर्शन यथार्थ वस्तुतत्त्वश्रद्धा को कहते हैं। यथार्थ वस्तु की श्रद्धा ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने और यथार्थ ज्ञान ही सच्चारित्र पर चलाने का साधन है। इन तीनों उपायों से ही मनुष्यादि प्राणिवर्ग इष्ट सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया की उपयोगिता न केवल मुक्ति कार्य के लिए आवश्यक है, किन्तु संसार के किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए इन तीनों की नितान्त आवश्यकता है। इन तीनों में यद्यपि क्रिया ही इष्ट वस्तु की प्रप्ति का मुख्य साधन है, तथापि क्रिया करना या न करना इस बातपर अवलम्बित है कि हमें उसके करने का ज्ञान हो। ज्ञानाभाव में अज्ञानियों की क्रिया ध्येय प्राप्ति के अनुकूल ही हो यह घुणाक्षर न्यायवत् है। यथार्थतया ऐसा हो ही नहीं सकता। इसलिए यह निश्चित हुआ कि ध्येय प्राप्ति के प्रयत्नस्वरूप क्रिया के पूर्व उसका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। सभी संसारी प्राणी न तो सर्वज्ञ होते हैं और न विशेषज्ञ। अतएव यथार्थ ज्ञान के लिए किसी विशेषज्ञ या सर्वज्ञ के प्रति हमारी आस्था (श्रद्धा) भी नितांत आवश्यक है।

बहुत से सज्जन ऐसा प्रश्न करते हैं कि पहले ज्ञान होता है और फिर ज्ञान द्वारा विज्ञात तत्त्वों की श्रद्धा होती है। बिना ज्ञान के श्रद्धा किसकी? अतः सम्यग्दर्शन के पूर्व ही सम्यग्ज्ञान आवश्यक है न कि पश्चात् । प्रश्नकर्ता का यह प्रश्न तब ठीक होता जब हममें वस्तुतत्त्व को परखने की पूर्ण सामर्थ्य होती। संसार और उसके कारण, मुक्ति और उसके कारण भूत तत्त्वार्थों का निर्णय तद्विषय के विशेषज्ञ गुरु तत्प्रतिपादक देव या तत्प्रतिपादित आगम के बिना नहीं हो सकता और इनके उपदेश से तत्त्वज्ञान तब हो सकता है जब इन पर हमारा विश्वास हो। विश्वास के बिना कौन किसकी बात को स्वीकार करे? अतः यह सुनिश्चित हुआ कि तत्त्वनिर्णय के परिपूर्ण साधनों के अभाव के कारण तत्त्वनिर्णय के लिए तात्त्विकी श्रद्धा अनिवार्य है। तभी तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्ज्ञान होगा और ज्ञानी हो जाने पर वह तद्रूप आचरण करेगा और उस आचरण से ही इष्टध्येय की प्राप्ति कर सकेगा।

आत्मतत्त्व को भूला हुआ यह प्राणी अपनी शक्ति को न पहिचानता हुआ ही कायर हो रहा है, आत्महित मार्ग से पराङ्मुख है। यदि वह आत्मतत्त्व को स्वयं समझ सकता तो अबतक संसार में परिभ्रमण ही क्यों करता? तब यह आवश्यकता हो जाती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के उपदेश और वचनों पर श्रद्धाकर वह आत्मशक्ति पर विश्वास करे और तत्पश्चात् आत्मतत्त्व को पहिचाने, पुनः तदनुरूप आत्मप्राप्ति के लिए प्रयत्नरूप आचरण करे। उक्त कथन से सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह क्रम ही सर्वतोभद्र है। शंकादि अष्ट दोष, आठ मद, छैः अनायतन और तीन मूढ़ता रहित स्वात्मश्रद्धा को ही शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हैं और सम्यग्दर्शन की शुद्धता होना ही सर्व प्रथम श्रावक की दार्शनिक प्रतिमा है।२०।२१।२२।

प्रश्नः—पञ्चविंशति दोषाः के वद दार्शनिकस्य मे। तथा तेषां स्वरूपञ्च स्वसिद्धयै क्रमतो गुरो।

हे गुरो! के ते पञ्चविंशतिसंख्यका दोषा ये सम्यक्त्वं दूषयन्ति तत्स्वरूपं मम हिताय कथय।

सम्यग्दर्शन को मलिन करनेवाले २५ मल दोष कौन से हैं? गुरुवर्य! मेरे हित के लिए उनका प्रतिपादन करें।

उक्त प्रश्न का-प्रक्षेपक श्लोकों द्वारा समाधान किया जाता है—

(अनुष्टुप्)

जिनागमोक्ततत्त्वेषु शङ्का दोषो निगद्यते।
पञ्चाक्षविषयेच्छा च काङ्क्षा दोषो द्वितीयकः ।।१।।
तृतीयो विचिकित्सा च मूढ़दृष्टिश्चतुर्थकः ।
परदोषप्रकाशेच्छा परपातोन्मुखैषणा ।।२।।
धार्मिकेष्वपि स्यादीर्ष्या विद्वेषः सप्तमो मतः ।
जिनशासनकीर्त्तेस्तु दुर्मौढ्यादपकीर्त्तनम् ।।३।।
अष्टैते च सुदृग्दोषाः षडनायतनानि च।
त्रिमूढ़ता मदा अष्टौ संयुक्ताः पञ्चविंशतिः।।४।।
तद्विरुद्धाः गुणाः सर्वे सम्यक्त्वं पोषयन्ति ते।
कथयाम्यधुना तेषां स्वरूपं क्रमतः शृणु ।।५।।

जिनागमेत्यादिः— वीतरागहितोपदेशिसर्वज्ञत्वेन सुनिश्चितेन जिनेन्द्रेण प्रतिपादिते आगमे श्रद्धावतः सम्यग्दृशः कदाचित् मलदोषसद्भावात् तत्र तत्सत्यमसत्यं वेति संदेहो जायते तदा स शङ्का नाम दोषो वर्ण्यते। सम्यग्दृशो जिनोपदेशेन संसारकारणेषु विषयेषु विरक्तिवतः यदि तदभिलाषो भवेच्चेत् तदा काङ्क्षा नाम द्वितीयो दोषः। शरीरं मलमूत्रोत्पादकं स्वरूपतः दृष्ट्वापि रत्नत्रयपवित्रितस्य तस्य सत्कारकरणाय प्रवृत्तिमतः सम्यग्दृशः यदि कदाचित् तस्मिन् जुगुप्सा वर्तते तदा विचिकित्सा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम तृतीयो दोषः भवेत् । मिथ्यामार्गप्रतिपादकानां दुर्दृशां स्तुतिप्रतिपादकं प्रशंसात्मकं वचनं व्याहरतः तस्य सुदृशः मूढदृष्टिः नाम चतुर्थो दोषः। तस्यैव सुदृशः परदोषोद्घोषनेच्छा स्वगुणप्रकाशनेच्छा च अनुपगूहनो नाम पञ्चमो दोषः स्यात् । सन्मार्गात्पतनोन्मुखान् पुरुषानवलोकय तेषामुद्धरणाय कदाचिद् मतिर्यदि न स्यात् तदाऽस्थितीकरणो नाम षष्ठः सम्यक्त्वदोषः स्यात् । धार्मिकानवलोक्य प्रीतिमतोऽपि तस्य यदि कदाचिद् ईर्ष्याविद्वेषश्चेत् तर्हि अवात्सल्यं नाम सप्तमो दोषः। परोपकारकरणसमर्थस्य जिनमार्गस्य कीर्तिप्रसारं कामयमानस्यापि कदाचित्तदकरणेऽप्रभावना नामाष्टमो दोषः संपद्यते। एतेऽष्टदोषाः षडनायतनेन मदाष्टकेन त्रिमूढताभिः सङ्कलिताः सन्तः सम्यक्त्वविराधकाः पञ्चविंशतिर्दोषः भवन्ति।१।२।३।४।५।

श्री जिनेन्द्रदेव, जिनमें कि वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशित्व गुणों के कारण आप्तता सुनिश्चित की गई है उनके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन को जिनागम कहते हैं। जिनागम के प्रत्येक वचन पर सम्यग्दृष्टि को परम श्रद्धा होती है। जिनागम के वचनों की सत्यता पर संदेह होना सम्यक्त्व का **शंका** नामक दोष है। भगवान् जिनेश के उपदेश से संसार परिभ्रमण के कारणभूत पंचेन्द्रियों के विषयों में उसे विराग होना चाहिए। यदि विषयों की अभिलाषा और उनके प्राप्त करने की आशा उसे रहे तो वह सम्यक्त्व का दूसरा **कांक्षा** नामा दोष है। किसी भी प्राणी का शरीर मल मूत्रादि का घर है तथापि, सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र से पवित्रित साधु पुरुष के गुणों में प्रीति सम्यक्त्व के होने पर अवश्य होती है और वह शरीर की अपवित्रता के कारण उनसे ग्लानि नहीं करता, यदि करे तो तृतीय दोष **विचिकित्सा** नाम का है। मिथ्यामार्ग के प्रचारक मिथ्यादृष्टियों की और उनके कार्यों की प्रशंसा करना **मूढ़दृष्टित्व** नामक चतुर्थ दोष होता है, इस दोष के कारण मिथ्यामार्ग का प्रचार व उसकी प्रभावना होती है। दूसरे असमर्थ पुरुष के दोषों के प्रकाशन की इच्छा और अपने गुण कीर्तन की अभिलाषा सम्यग्दृष्टि का अनुपगूहननामक **पांचवाँ दोष** है। सन्मार्ग से गिरनेवाले प्राणियों के उद्धार करने का उपाय न करना उन्हें पुनः सन्मार्ग पर न लगाना यह **अस्थितीकरण** नाम का छठा दोष है। धर्मात्मा पुरुषों को देखकर उनके प्रति प्रीति, श्रद्धा और भक्ति होने की अपेक्षा यदि ईर्ष्या और विद्वेष हो तो वह **अवात्सल्य** नाम का सातवाँ दोष है। संसार के प्राणी मात्र का उद्धारक जिनधर्म है। इसका सदा कीर्तिगान करना चाहिए। अनेक प्राणी उसकी कीर्ति से आकृष्ट होकर भी अपने कल्याण के मार्ग पर लग जाते हैं, ऐसा न करना अथवा अपने निमित्त से जिनधर्म की अपकीर्ति होने देना सम्यक्त्व का **अप्रभावना** नामक आठवाँ दोष है। ये आठ दोष आठ प्रकार के मद तथा छह अनायतन और तीन मूढ़ता (जिनका कि विशेष स्वरूप आचार्य स्वयं आगे प्रतिपादन करेंगे) मिलकर सब पच्चीस दोष सम्यक्त्व के घातक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। ये दोष सम्यग्दृष्टि के दूषण और मिथ्यादृष्टि के लिए भूषण है। उसमें ये ही सब दुर्गुण पाए जाते हैं, सम्यक्त्व इतने दुर्गुणों को एक बार ही नष्ट कर जीवको गुणवान् बनाता है।१।२।३।४।५।

प्रश्नः—निःशंकिताङ्गचिह्नं किं पृष्टे सत्युत्तरं मुदा।

निःशंकितनाम्नः प्रथमाङ्गस्य किं लक्षणम् अस्ति इति शिष्येण परिपृष्टे सति आचार्याः सानन्दम् उत्तरं कथयन्ति।

सम्यग्दर्शन के आठ गुणों में से प्रथम निशंकित नामा गुण का क्या स्वरूप है, शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य हर्षोत्फुल्ल हो उत्तर देते हैं।

(अनुष्टुप्)

वीतरागोक्तधर्मे हि श्रीदे देवे निरञ्जने ।
स्वान्यप्रबोधके शास्त्रे सद्गुरौ शान्तिदे सदा ।।२३।।
अकम्पा निर्मदा श्रद्धा यस्यास्ति भवभेदिनी ।
तस्य निःशंकिताङ्गं स्याच्छुद्धं मोक्षफलप्रदम् ।।२४।।

वीतराग इत्यादिः— यस्य सम्यक्त्वाराधकस्य महापुरुषस्य वीतरागोक्तधर्मे सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजिनधर्मे निरञ्जने रागद्वेषाज्ञानादिभावदोषरहिते-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-र्नाम-गोत्रान्तरायाष्टकर्मस्वरूपद्रव्यमलरहिते सिद्धपरमात्मनि च श्रीदे कल्याणमार्गप्रदायके देवे श्रीतीर्थकरपरमदेवे तथा तदुपदिष्टे स्वान्यप्रबोधके स्वपरहितकारके शास्त्रे शान्तिदे तदनुकूल-स्वाचाराचरणपूर्वकं संसारभ्रमणभीतान्यप्राणिगणानां श्रीवीतरागोक्तशास्त्रोपदिष्टपरमशान्तिप्रदायक-मार्गप्रदर्शके सद्गुरौ अपि अकम्पा निश्चला निर्मदा साम्प्रदायिककुलाद्यभिमानरहिता भवभेदिनी भवदुःखापहारिणी श्रद्धा वर्तते तस्य मोक्षफलप्रदं शुद्धं निःशंकितं नाम प्रथममङ्गं ज्ञेयम्।। २३।२४।।

रागद्वेष अज्ञानादि सम्पूर्ण भावसंबंधी दोषों से जो रहित हैं तथा जिनके ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय- मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र और अन्तराय ये आठ भवभीतिदायक दोषाधायक कर्म दूर हो गए हैं अतएव जो द्रव्य भाव मल से रहित होकर निरञ्जन हो गए हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा में, तथा जो कल्याण कारक मोक्षमार्ग का उपदेश करने के कारण 'श्रीद' हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र तीर्थकरदेव में,तथा उनके द्वारा प्ररूपित स्वपर को उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाले शास्त्र में और संसार भ्रमण की ज्वाला से जले हुए दूसरे प्राणियों को शान्ति के मार्गप्रदायक सच्चे गुरु में जिस भाग्यवान् को ऐसी दृढ़ श्रद्धा है, अर्थात् जो कितनी घोर विपत्ति पड़ने पर भी उसे अपने मार्ग से विचलित न कर सके तथा जो अन्तरङ्ग से पैदा हुई हो, "मैं जैन कुल का हूँ" ऐसे कुलाभिमान की नींव पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो न खड़ी हो, ऐसी परम दृढ़ निश्चल संसार भ्रमण को छेद देनेवाली जिसे श्रद्धा है उसी के मुक्तिफल देनेवाला प्रथम "निःशंकित" नामा सम्यक्त्व का गुण होता है।२३।२४।

प्रश्नः—निष्कांक्षितस्य चिह्नं किम् ? सिद्ध्यै स्याद् वद मे गुरो।

हे गुरो! द्वितीयाङ्गस्य निष्कांक्षितनाम्नः किं स्वरूपं स्याद् इति मे स्वात्मज्ञानसिद्ध्यै वद।

हे गुरुदेव! सम्यक्त्व के दूसरे निष्कांक्षित नामा गुण का क्या स्वरूप है वह मेरी आत्मा के बोध की सिद्धि के लिए कृपाकर कहिए--

(अनुष्टुप्)

आदौ मध्येऽप्रिये चान्ते दुःखदे कटुके हृदि ।
क्षणिके स्वात्मबाह्ये हि निन्द्येऽग्राह्ये परोद्भवे ।।२५।।
परित्याज्येऽक्षसौख्येनास्था कांक्षा यस्य दुःखदा ।
निष्कांक्षिताङ्गमेवापि तस्य स्यान्निर्मलं प्रियं ।।२६।।

आदावित्यादिः— संसारिणः प्राणिनः इद्रियोत्पन्नसुखेषु मग्नाः सन्त्यनादित एव न ते स्वात्मानस्सुखमनुभवन्ति किन्तु मिथ्यात्वभावभ्रमभ्रमिते सत्युन्निद्रज्ञानचक्षुषः सम्यग्दृशः तत्र सम्यग्ज्ञानं जायते। स हि पश्यति यत् आदौ मध्येऽन्ते चाप्रिये दुःखदे हृदि कटुके क्षणिके स्वात्मबाह्ये अतएवाक्षसौख्ये दुःखमेव वर्तते। न तत्सुखम् स्वोत्थम्, अपि तु शुद्धचैतन्यस्वरूपात्मविरुद्धपुद्गलादिभिः समुत्थम् अतएव परोद्भवं परसंयोगकालमात्रस्थायि निन्दनीयं सतामग्राह्यं परित्याज्यं चास्ति न तद्ग्रहणे सम्यग्दृशः दुःखदा कांक्षा अस्ति। इदमेव निष्कांक्षितं नाम निर्मलं प्रियं इष्टं सम्यक्त्वस्य अङ्गं अस्ति।२५।२६।

संसारी प्राणी अनादि काल से ही इन्द्रिय सुखों को ही सुख समझकर उनके प्राप्त करने का ही प्रयत्न करते आये हैं। आत्मिक सत्यार्थ सुख का उन्हें कभी अनुभव नहीं हुआ। जब तक मिथ्यात्वकर्म के उदय से भ्रमबुद्धि है-तब तक आत्मिक सुख का अनुभव प्राप्त हो भी नहीं सकता है। जब मिथ्यात्व भाव स्वयं मिट जाता है और ज्ञानरूपी चक्षु मोहरूपी निद्रा से रहित हो जाते हैं तब उस प्राणी की दृष्टि निर्मल हो जाती है और उस सम्यग्दृष्टि को संसार के सुख को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों के संग्रह करने में और उनका भोग करने में रुचि उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रिय जन्य सुख आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि इन्द्रियों को पुद्गल पदार्थों के निमित्त से हुआ है। वह परसे उत्पन्न पर पदार्थ के संयोग काल तक ही रह सकनेवाला सुख निन्दनीय है। सज्जनों के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है इसलिए सम्यग्दृष्टि को उसकी इच्छा ही नहीं होती। यह विषयभोग की अनिच्छा ही सम्यग्दर्शन का दूसरा **निष्कांक्षित** नामा अंग है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ— जागते हुए भी पुरुष के यदि नेत्रों में निद्रा का असर है तो देखते और सुनते व नेत्र उघाड़े हुए भी उसके भ्रमरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका ज्ञान उसके लिए हितकर हो यह बात नहीं है। उसकी उस समय के ज्ञान की सत्यार्थता अविश्वसनीय है। जब उसके निद्रा की खुमारी दूर हो जाती है तब वह स्वस्थ होता है और यह अनुभव करने लगता है कि मेरे नेत्र खुले होने पर भी मेरा अब तक का ज्ञान बेकार था। निद्रा दूर होने पर उसके नेत्र (दृष्टि) निर्मल हो जाते हैं और वह हेयोपादेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में अपने को समर्थ पाता है। मिथ्यात्वरूपी मोह निद्रा से अभिभूत है सम्यग्ज्ञान जिसका उस प्राणी की भी वही अवस्था होती है। उस समय का उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रहता है। वह वस्तु तत्त्व की यथार्थता तक पहुँच नहीं सकता। परन्तु मिथ्यात्व निद्रा भंग होनेपर वही वस्तु तत्त्व का सम्यग्विवेचन कर सकता है तब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि जिन इन्द्रिय विषयों को हम सुख रूप मानते थे वह हमारा भ्रम था। इन्द्रिय विषयों को एकत्रित करने में भी त्रास होता है। क्योंकि वे सहज ही प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त नहीं होते। उनके संग्रहार्थ व्यापार-कृषि-सेवा-वाणिज्य-शिल्प-लेखन आदि षट्कर्म करने पड़ते हैं, न्यायमार्ग को भी अतिक्रान्त कर छल से, बलसे, दूसरे का छीन करके, दूसरे को कष्ट पहुँचा करके, मिथ्या दावा करके भी संग्रह करना पड़ता है। इन सबमें हमारा वर्षों का समय व्यतीत हो जाता है। संगृहीत वस्तु के संरक्षण में भी कम परिश्रम नहीं होता, सदा आकुल व्याकुल परिणाम रहते हैं। दूसरे पुरुषों से संघर्ष भी करना पड़ता है। इस संघर्ष में हानि भी उठानी पड़ती है। कभी-कभी तो प्राण तक गंवा देने पड़ते हैं,इतने पर भी यदि हम संग्रह कर सकें तो "भोगे रोगभयम्" अर्थात् उनके भोगने में भी विपत्ति की शंका है। यदि स्पर्शनेन्द्रिय के विषयभूत काम भोगों को अपनाते हैं और न्यायपूर्वक भी सेवन करते हैं तो शरीर क्षीण होता है, शक्ति कम होती है। क्षीण शक्ति होनेपर ज्वर आदि रोग प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि अतिशय काम भोग का परिणाम क्षय रोग है जिसका इलाज आज तक भी आज-कल का महान् विज्ञान नहीं निकाल सका। अनेक चिकित्सक बिना क्षयवाले को भी क्षय का भय दिलाकर अधिक पैसा व कीर्ति का सम्पादन करने का ही प्रयत्न करते हैं। पर यथार्थतः इस रोग के होने पर इसका इलाज विज्ञान अबतक नहीं निकाल सका। ऐसा भयानक रोग कामभोग के अतिरेक से हीन शक्तिवाले प्राणी को शारीरिक धातुओं के क्षीण हो जाने के कारण होता है। रसनेन्द्रिय वशंगत प्राणी रसना सुख का ध्यान रखकर अनेक गरिष्ठ रोगोत्पादक पदार्थों का मात्रा से अधिक सेवन कर रोगी बन जाते हैं और अपनी जिह्वा को वश में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न रख सकने के कारण मृत्यु को भी प्राप्त होते हैं। घ्राण इंद्रिय से वशी पुरुष की भी ऐसी ही स्थिति है। चक्षु और श्रोत्र के वशवर्ती प्राणियों की दशा भी छिपी नहीं। इनके निमित्त से अपनी व दूसरों की दुर्दशा होते हुए हम रोज देखते हैं। इससे कहना पड़ता है कि ये पंचेन्द्रिय विषय भोग में भी सुखदायक नहीं प्रतीत होते हैं।

तीसरी बात यह है कि जब इनके संग्रह और भोग में कष्ट हो तो क्या इनका वियोग इष्ट होगा ? इस स्थिति में विचार करने पर ज्ञात होगा कि इनको सुख साधन माननेवाला जीव भला इनका वियोग कैसे सहेगा? वह इनके वियोग में अत्यन्त दुःखी होता है। सारांश यह कि इन्द्रिय विषयों के संग्रह करने भोगने और वियोग में भी महान् दुःख का सामना करना पड़ता है। अतः सम्यग्दृष्टि इन्हें हेय ही मानता है। वह समझता है कि इनका प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों दुःखमय हैं। तब ये सुखदायी कैसे? इतने पर भी ये क्षणिक हैं, अल्पकालस्थायी हैं, अधिक काल नहीं ठहर सकते, तब वियोग अनिवार्य है। इनका संयोग भी कर्मोदय से होता है वह हमारे हाथ नहीं है तथा इनका वियोग भी हमारे हाथ की वस्तु नहीं है, न इनका संरक्षण हमारे हाथ है। तब ऐसे पदार्थ तो निश्चित दुःखदायक ही होंगे। वे कभी सुखदायी नहीं हो सकते। यह पुद्गलोद्भव सुख भी स्वात्मबाह्य होने से और क्षणिक होने से निन्दनीय है, ग्रहण करने योग्य नहीं है, अतएव जिसकी मोह निद्रा छूट गई है वह शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप, शुद्धानुभव का धनी, बाह्य विमुख अन्तर्दृष्टि का अधिकारी सम्यग्दृष्टि आत्मा इन इन्द्रियजन्य सुखों की कभी भी आकांक्षा नहीं करता। इसे सर्वज्ञ आप्त के वचन पर दृढ़ आस्था है अतः वह इन दुःखदायी विषयों की वांछा स्वप्न में भी नहीं करता। इस वांछा या इच्छा का न होना ही कांक्षारहितत्व या **निष्कांक्षितत्व** नाम का सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है। यह गुण सम्यग्दृष्टि को संयमभाव की ओर प्रेरणा करता है। संघर्षमय जीवन से बचाता है। अपरिग्रहत्व की भावना उत्पन्न करता है। लौकिक व पारलौकिक उभय शान्ति का दाता है। अतः **निराकांक्षता** सम्यग्दर्शन का प्रधान अंग है और वह पवित्र गुण सम्यग्दृष्टि को अत्यन्त प्रिय है।२५।२६।

प्रश्नः—निर्विचिकित्सिताङ्गस्य किं चिह्नमस्ति मे वद।

तृतीयगुणस्य कानि चिह्नानि सम्यग्दृष्टिषु उत्पद्यन्ते यैस्तेषु तन्निर्णयः स्यात् इति प्रश्ने सति आह।

सम्यग्दृष्टियों में वे कौन से चिह्न हैं जिनसे उनका तीसरा निर्विचिकित्सित गुण पहिचाना जाय, वह मुझे कृपाकर बताइए, शिष्य के इस प्रश्न पर आचार्य निम्न उत्तर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं—

(वसन्ततिलका)

तुच्छे निसर्गमलिने सुगुरोश्च देहे
रत्नत्रयेण सुखदेन पवित्रभूते
ग्लानिं करोति न च यो भुवि तस्य शुद्धं
सौख्यप्रदं भवति निर्विचिकित्सिताङ्गम् ।।२७।।

तुच्छ इत्यादिः— शरीरमात्रं खलु प्रकृत्यैव मलिनं भवति। नात्मनि तन्मलिनताया अंशो मनागपि वर्तते, रसरुधिरादिधातुसप्तकानां शरीरत एवोत्पत्तिर्भवति, शरीरस्याप्युत्पत्तिः रसरुधिरादिमलेनैव जायते, इति मलमूर्तिरेव एष देहः। तत्संपर्कादिष्टमपि भोग्यमभोग्यं भवति। तथापि यथा मलिनमपि स्वशरीररूपं दृष्ट्वा पुरुषस्तत्र प्रीतिं करोति, स्वशरीरसेवायां न कदाचित्प्रमाद्यति, तथैव सम्यग्दर्शनगुणसम्पन्नः पुरुषो रत्नत्रयविभूषितस्य सद्गुरोः निसर्गमलिने तुच्छे सुखदेन रत्नत्रयेण पवित्रीभूतं देहे मनागपि ग्लानिं न करोति अपि तु तस्य शरीरसंपर्कात् पवित्रितं चरणरजः शिरसि धारयति तथा च तच्चरणारविन्दसेवया स्वजन्म कृतार्थं मन्यते। एवं पवित्रपरिणामपरिणतस्यैव नरस्य सम्यग्दर्शनस्य सौख्यप्रदं तृतीयं निर्विचिकित्सिताङ्गं भवति।२७।

संसारी प्राणी अनादि काल से ही शरीरबद्ध है। जैसे कोई राजा अपराधी प्राणी को मलिन स्थान दुर्गन्धितस्थान रूप जेलखाने में बाँधकर डाल देता है वैसे ही मोहराजा ने रसरुधिरादि अशुद्ध और दुर्गन्धित मलमूत्रोत्पादक, मलमूत्र से उत्पन्न निरंतर भोज्यपदार्थों को भी अभोज्य बनाने वाले इस देहरूपी महादुर्गन्धित जेलखाने में जीव को कैद कर रखा है। शरीर का यह स्वरूप ही है, फिर भी मनुष्य अपने शरीर से प्रीति करता है उसकी यथायोग्य सेवा करता है। उसकी सेवा में न प्रमाद करता और न उससे घृणा करता है।

कामी पुरुष काम के वशीभूत हो कामिनी के मल-मूत्रमय अंगों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है और उससे ही अपने जीवन को सफल मानता है। यदि वह अपने जीवन में पत्नीपरिग्रह न कर सके तो अपने जीवन को निरर्थक मानता है। मांसभक्षी पुरुष प्राणी के मलमूत्र स्थानभूत अंगों को भक्षण करने में ग्लानि नहीं करता। जो संसारी प्राणी इतने स्थलों में शरीर के मलिन स्वभाव को भुला सकता है वह सम्यक्त्वादिरूप रत्नत्रयों से विभूषित अनन्त गुणों के भंण्डार और अनेक प्रकार के तप संयम के द्वारा पवित्र साधुओं की देह से कैसे ग्लानि करता है यह आश्चर्य की बात है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा पुरुषों से कभी ग्लानि नहीं करता किन्तु उनकी सेवा और परिचर्या में सदा सावधान रहता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जिसने इस प्रकार ग्लानि को जीत लिया है उसे सम्यक्त्व का तृतीय **निर्विचिकित्सित** अंग होता है।२७।

प्रश्नः—वदास्ति सिद्धये किं मेऽमूढदृष्ट्यङ्गलक्षणम्।

हे गुरो! मम इष्टसिद्ध्यर्थं चतुर्थाङ्गस्य लक्षणं कथय।

हे गुरो! मेरी इष्टसिद्धि के लिए चौथे अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण कहिए—

(वसन्ततिलका)

दुःखादिक्लेशकलिते कुटिले कुमार्गे
भ्रान्तिप्रदे सुखहरे विषमे विधर्मे।
श्रद्धा स्थितिर्हानुमतिः क्रियते न येन
याऽमूढ़ताङ्गमपि तस्य परं पवित्रम् ।।२८।।

दुःखादित्यादिः— सम्यग्दृष्टेर्जिनोक्तपवित्रमार्गे परमश्रद्धा भवति। स जानाति यज्जिनोक्तधर्म एव संसारदुःखनिवारकोऽनुकूलःस्वात्मनो हितकारको ऽभ्रान्तोऽस्ति। तद्विरुद्धधर्मः दुःखादिक्लेशकलितः कुटिलः कापथः विषमः भ्रमोत्पादकः सुखविघातकोऽननुकूलः वर्तते अतः तस्मिन् तस्य श्रद्धा न जायते तत्र स्थितिमपि न करोति न तमनुमोदते। लोक-देव-गुरुमूढ़तासु न तस्य कदापि प्रवृत्तिर्भवति इति तात्पर्यम्। शापादिभयात्, लौकिकलाभाकांक्षया, संतानादिप्राप्त्याशया कौटुम्बिकस्नेहवशादपि सम्यग्दृष्टिः मिथ्यात्वं मिथ्यात्वाराधकम् च न सेवते। सुमेरुवत्तस्याचला श्रद्धा जिनदेवे तत्प्रतिपादके धर्मे तदाराधके गुरौ च जायते। एतदेव सम्यक्त्वस्य परं पवित्रं "अमूढ़दृष्टिः" अङ्गमस्ति।२८।

सम्यग्दृष्टि पुरुष की पवित्र जिनमार्ग में सुमेरु की तरह अचल श्रद्धा होती है। वह यह निश्चित जानता है कि जिनोक्त धर्म संसार के महान् दुखों से बचाने वाला है, वह आत्मा के लिए हितकारक है, वह राजमार्ग की तरह प्राणिमात्र के लिए निर्भ्रान्त है। उससे विरुद्ध कोई भी धर्म विधर्म है, वह कभी भी हमारे संसार परिभ्रमणजन्य महान् दुःखों को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। वह सुख मार्ग का कण्टक होगा, भ्रम में फँसानेवाला होगा, आत्महित के प्रतिकूल होगा। सम्यक्त्वी न उस पर श्रद्धा लाता है, न वैसा विचार रखता है और न तदनुकूल आचरण करता है।

लौकिक चमत्कार के वश होकर, शाप आदि का भयंकर अथवा संतानादि की अभिलाषा वश अथवा धन की आशा से अथवा ये हमारे कुटुम्बी जन हैं या सगे सम्बन्धी हैं इसलिए मिथ्यादृष्टि होने पर भी इनकी सेवा करनी चाहिए, इन पर श्रद्धा करनी चाहिए, यह बात सम्यग्दृष्टि कभी नहीं स्वीकार करता। उसके इस निर्मल अचल परिणाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को अमूढ़दृष्टि नामक चौथा अंग कहा है।२८।

प्रश्नः—वदोपगूहनाङ्गस्य किं चिह्नं विद्यते गुरो।

हे गुरो! पञ्चमस्य उपगूहनाङ्गस्य किं लक्षणं विद्यते इति प्रश्ने सति उत्तरयत्याचार्यः।

हे गुरो! पाँचवें उपगूहन अंग का क्या स्वरूप है इस प्रश्न पर आचार्य कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

विज्ञानशून्यमनुजैर्विमुखैः स्वधर्माज्
जाता जिनेन्द्रसुमतस्य यदि प्रणिन्दा।
ज्ञानैर्धनैर्भवहरैरपनीयते यैः
तेषां हि सर्वसुखदं ह्युपगूहनाङ्गम् ।।२९।।

विज्ञानेत्यादिः— अनादिपरम्पराप्रवाहायाते जैनसंघे क्वचित् कदाचित् स्वधर्माद्विमुखैर्जैनाचारानभिज्ञैर्विज्ञानशून्यमनुजैः स्वात्मज्ञानपराङ्मुखैः पुंभिः अज्ञानात् प्रमादात् शारीरिक-मानसिकासामर्थ्यात् यदि जिनेन्द्रसुमतस्य जैनमार्गस्य निन्दा जाता स्यात् तर्हि भवहरैर्यैः सत्पुरुषैः ज्ञानैर्धनैर्वा साऽपनीयते तेषामेव सर्वसुखदं पञ्चमं उपगूहनाख्यं अङ्गं भवति। उप-समन्तात् गूहनं-रक्षणं इति उपगूहनम् । येन केन प्रकारेण जैनमार्गस्य रक्षणं कर्त्तव्यम् । यदि जैनमार्गस्य लोके निन्दा प्रचालिता स्यात् तदा सर्वे प्राणिनस्ततो विमुखीभविष्यन्ति तथा सति कपाटितमेव धर्मद्वारं स्यात्, अतस्स्वसामर्थ्यात् धर्मरक्षणं कर्त्तव्यम् । तदेव उपगूहनाख्यं सम्यक्त्वस्याङ्गम् ।२९।

अनादि कालीन परम्परा के प्रवाह में चले आए हुए इस विशाल जैन संघ में यदि कभी किसी श्रावक या श्राविका, मुनि या आर्यिका के द्वारा अपने अज्ञान या प्रमाद से अथवा शारीरिक वाचनिक या मानसिक कमजोरी के द्वारा चरित्र से विचलित हो जाने के अथवा पापोदय से मिथ्या अपवाद के कारण या दुष्ट जनों के द्वारा द्वेषवश लगाए गए दोषों के कारण जिनोक्त पवित्र धर्म की निन्दा उत्पन्न हो जाय तो सम्यग्ज्ञानी, सुचरित पुरुषों को जिस प्रकार बने उस अपवाद को दूर करना चाहिए इस कार्य को सम्यग्दर्शन का उपगूहन अंग कहा है।

उपशब्द का अर्थ है समीप से और गूहन शब्द का अर्थ है रक्षण करना। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जैनमार्ग की जो स्वयं शुद्ध है निन्दा योग्य नहीं है, फिर भी यदि उसकी किसी प्रकार निन्दा हो तो सम्यग्दृष्टि को अपनी सामर्थ्य से उसे दूर करना चाहिए और इस प्रकार जैनमार्ग का रक्षण करना चाहिए। यदि धर्मात्मा पुरुष ऐसा न करेंगे तो लोकजन निन्दा के भय से इस सद्धर्म से विमुख हो जायँगे। ऐसी स्थिति में धर्म का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वार अपनेआप बन्द हो जायगा और लोक जन-कल्याण के प्रदान करनेवाले इस मार्ग से वञ्चित रह जाँयगे और उनका कल्याण न हो सकेगा, अतः उपगूहन अंग का पालन करना अत्यावश्यक है।

भावार्थ- यद्यपि जैनधर्म और उसे धारण करने का मार्ग इतना सुन्दर और शुद्ध है, वह त्रिकाल में भी निन्दा योग्य नहीं हो सकता तथापि यह भी सुनिश्चित है कि धर्म कोई मूर्तिमान् पदार्थ नहीं है। वह तो जीव का एक शुद्ध परिणाम रूप है। वह अन्तरंग धर्म या भाव धर्म कहलाता है और उन पवित्र परिणामवाले व्यक्तियों का जो वचन या शरीरसम्बन्धी आचरण है वह बाह्यचारित्र या द्रव्यचारित्र कहलाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि धर्म किसी न किसी व्यक्ति के आश्रित ही पाया जायगा जो भी उसे धारण करे।

यदि धर्मरूप आचरण करनेवाला व्यक्ति केवल द्रव्य-आचरण का पालन करता है। अन्तरंग चारित्र अर्थात् भावधर्म से शून्य है तो वह धर्मात्मा नहीं है, वह धर्मात्मा की वाह्य क्रियाओं की नकल करके धर्मात्मा बनना चाहता है या अपने को धर्मात्मा कहलाना चाहता है। ऐसी स्थिति में ही यह अधिक सम्भव है कि भावशून्य क्रियाएँ उस व्यक्ति में शिथिलता उत्पन्न कर दें। उस शिथिलता से केवल इस व्यक्ति की ही निन्दा होनी चाहिए थी न कि धर्म की, तथापि इस स्थिति से अनभिज्ञ अज्ञानी पुरुष धर्म की ही निन्दा करने लगते हैं।

कभी-कभी कोई कोई मिथ्यादृष्टि पुरुष सद्धर्म से स्वभावगत विरोध के कारण सच्चे सन्मार्गी धर्मात्माओं को भी मिथ्या दोष लगा देते हैं और इस प्रकार धर्मात्मा की निन्दा से स्वयं धर्म की निन्दा होने लगती है।

कभी-कभी अनेक स्त्रियाँ, बालक, वृद्ध या रोगी पुरुष अपने उत्साह अनुराग व भक्तिवश धारण किए हुए धर्म को अपनी गलती या शारीरिक कमजोरी के कारण ठीक पालन नहीं कर पाते और इसलिए भी धर्म की निन्दा लोक में होने लगती है।

सारांश यह है कि निन्दा दो तरह उत्पन्न होती है— या तो धर्म पालकों की गलतियों से या निन्दकों की अज्ञानता या दुर्भाव से। ऐसी स्थिति में दूसरे धर्मात्मा व सज्जन पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जैसे भी हो इस निन्दा के भाग को दूर कर धर्म की ज्योति जनता में जागृत करे।

निन्दा दूर करने के अनेक उपाय हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१- धर्मपालकों को धर्म का सच्चा स्वरूप समझाना अर्थात् उनके अज्ञान को दूर करना।

२- उनमें भावधर्म उत्पन्न करना जिससे वे केवल धर्मात्मापने की नकल करनेवाले न हों बल्कि सच्चे धर्मात्मा बन सकें।

३- यदि किसी असामर्थ्य से वे चारित्रभ्रष्ट हुए हों तो उन्हें ऐसे मार्ग पर लगा देना ताकि वे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध हो सन्मार्गगामी बन सकें।

४- यदि धर्मात्मा पुरुषों को धर्मपालन करने में राजा की ओर से, राज्याधिकारियों की ओर से, विरोधियों की ओर से और देश-काल की परिस्थिति के निमित्त से बाधा आती हो तो जिस प्रकार भी हो सके धनबल, तनबल, विद्याबल, तपोबल और बुद्धिबल से उस बाधा को दूर कर उन्हें धर्मपालन करने योग्य निर्विघ्न स्थिति पैदा कर देना।

५- धर्म प्रभावना के अनेक अंगों द्वारा जैसे धर्मोपदेश देकर, अनेक उत्तम पुस्तकें वितरण कर, श्री जिनेन्द्रदेव के जलविहार, रथोत्सव आदि के द्वारा, प्राचीन स्थानों के उद्धार के द्वारा, विद्यार्थियों को ज्ञानवान् बनाकर, उत्तमोत्तम जिनमन्दिर बनवाकर, लोकोपकारी अनेक संस्थाओं जैसे— धर्मशाला-अन्नसत्र-औषधालय-जलपीने के स्थान- विद्यालय-छात्रावास-विधवा संरक्षक आश्रम - ग्रंथालय आदि का निर्माण कर व अनेक धार्मिक स्थानों के निर्माण आदि के द्वारा भी धर्म की कीर्ति फैलाकर निन्दा दूर की जा सकती है।

ये सब उपगूहन अंग को पालन करने के मार्ग हैं। धर्मात्मा की रक्षा व उसके सुधार से तथा अज्ञानी व द्वेषी पुरुषों में ज्ञान के प्रचार से धर्म की निन्दा स्वयं दूर हो जाती है। जो अत्यन्त मिथ्यामती सद्धर्म द्वेषी हैं, जिनमें ज्ञान प्रचार से भी काम नहीं चलता उनमें अपने व्यक्तिगत बल व प्रभाव के द्वारा वह स्थिति पैदा कर देनी चाहिए जिससे धर्म की निन्दा दूर हो जाय। यह उपगूहन अंग है जो सम्यग्दर्शन का पाँचवां अंग हैं।२९।

प्रश्नः—किं स्थितीकरणस्य च चिह्नं वदास्ति मे गुरो।
स्थितीकरणस्य किं चिह्नमस्ति? हे गुरो! मे कथय ।
स्थितीकरण नामक अंग का क्या स्वरूप है? हे गुरु कृपा कर बताइए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वसन्ततिलका)

स्वर्मोक्षशान्तिसुखतश्चलते जनाय
दत्त्वान्नवस्त्रनिलयानि हितोपदेशम् ।
तत्रैव तं प्रणयतोऽतिदृढ़ीकरोति
श्रेष्ठं स्थितीकरणमस्य पवित्रमङ्गम् ।।३०।।

स्वर्मोक्षेत्यादिः— सांसारिकसुखशान्तिस्थलं स्वर्गं पारमार्थिकसुखशान्तिस्थलं मोक्षं च प्राप्तुकामः पुरुषः क्रमेण मन्दकषायरूपमकषायरूपाञ्च प्रवृत्तिं करोति। यदि मोहोदयात्क्वचित् रागांधीभूतः कषायाविष्टश्च तस्मात् विचलति अथवा सांसारिकदुःखभूतबुभुक्षादारिद्र्यवशात् अशरणत्वात् हिततो विमुखीभूय कुमार्गगामी भवति तदा अन्नप्रदानेन वस्त्रदानेन संरक्षणार्थमावासदानेन अनेकांश्च हितोपदेशान् प्रदाय सन्तोष्य च तं प्रणयतः स्नेहात् धर्मे यो दृढ़ीकरोति तस्य पवित्रं श्रेष्ठं स्थितीकरणं नाम सम्यक्त्वस्याङ्गमस्ति इति विज्ञेयम् ।३०।

स्वर्ग और मोक्ष के कारणभूत सुख और शान्ति के मार्ग चारित्र से किसी कारण से विचलित होने वाले गृहस्थ को उसकी आवश्यकतानुसार अन्न, वस्त्र और घर आदि तथा हितरूप उपदेश देकर संयम मार्ग में स्थिर कर देना, विचलित न होने देना सम्यक्त्व का स्थितीकरणनामा अंग है।

भावार्थ— सांसारिक सुख और शान्ति का स्थान स्वर्ग और पारमार्थिक सुख व शान्ति का स्थल मोक्ष माना जाता है। उन दोनों की प्राप्ति मन्द कषाय से और कषाय रहित प्रवृत्ति से होती है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ धार्मिक प्रवृत्तियाँ है; क्योंकि इनसे कषाय का क्रमशः या साक्षात् अभाव होता है। कषाय रूप प्रवृत्ति ही असंयम है और तद्विनाशिनी प्रवृत्ति ही संयम है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष क्वचित् कदाचित् मोहनीय कर्म के उदय से रागी हो जाय या किसी भी कषाय के वशीभूत हो अपने संयम रूपी उच्च प्रासाद से गिरने लगे; तो उसे धर्म में पुनः स्थिर करना चाहिए। यह धर्म प्रेमी मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है।

यह संसार दुःखमय है। अपनी कषायें ही दुःख की प्रधान हेतु हैं। कषाय संयुक्त मानसिक वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति को ही असंयम कहते हैं। कषायांश को पूर्ण रीति से दूर करने का उपाय ही संयम है। जिसके सम्पूर्ण कषाय गल गई वह अकषाय गुणस्थानवाला ही परिपूर्ण संयमी है। वे कभी अपने मार्ग से विचलित हो सकेंगे इसकी कभी भी सम्भावना नहीं है। आत्मा से कर्म एक बार पूर्णरीत्या दूर हो जाय तो पुनः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध होने का कोई कारण नहीं है। परन्तु जब तक कर्म पूर्ण न गल कर थोड़ा गला है, या उपशम हो गया है तो ऐसी स्थिति में जो संयम भाव होगा वह अपूर्ण संयम होगा और यदि पूर्ण उपशम से पूर्ण संयम होगा भी तो अल्पकालीन होगा, कारण उपशम भाव अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट के भीतर) मात्र में ही मिट जाता है और उपशम भाव को प्राप्त हुई प्रकृतियों का उदय आ जाता है। इस स्थिति से उठने के लिए आत्मा का स्वयं का पुरुषार्थ ही कारण है, किसी दूसरे के पुरुषार्थ की उसे आवश्यकता नहीं है, और न वह उसके अनुसार चल सकता है।

मन्दकषायवाले संयमी अपरिपूर्ण संयमी हैं, इनमें साधु भी हैं और श्रावक भी। यद्यपि श्रावक को देशसंयमी शास्त्रकारों ने बताया है और साधु को सकलसंयमी ही लिखा है तथापि यह कथन केवल बाह्य चारित्र तथा ज्ञात अभ्यन्तर चारित्र की अपेक्षा है अथवा चरणानुयोग की अपेक्षा है। साधु अपनी जानकारी में और अपने प्रयत्न भर असंयमी नहीं है, इससे सकलसंयमी है, तथापि जब तक संज्वलन कषाय का थोड़ा भी अंश है तब तक करणानुयोग की दृष्टि से परिपूर्ण संयमी नहीं है। यह ग्रंथ चरणानुयोग का है, इसलिए चरणानुयोग की दृष्टि से साधु को सकलसंयमी और श्रावक को देशसंयमी मानकर ही स्थितीकरण अंग का लक्षण बताया गया है।

यदि श्रावक या श्राविका, साधु या साध्वी (आर्यिका) किसी कषाय के तीव्र उदय आ जाने पर अपने संयम मार्ग से विचलित होने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। संयम का मार्ग बहुत कठिन है। असिधारा पर चलने की अपेक्षा संयममार्ग पर चलना अधिक कठिन है। असिधारा पर चलना तो केवल शारीरिक अभ्यास साध्य है पर संयममार्ग पर चलना केवल शारीरिक अभ्यास साध्य नहीं है, उसमें चित्तवृत्ति को साधना भी आवश्यक है। भूख-प्यास-शीतबाधा तथा रोगादि कारणों के निमित्त से होनेवाले कष्टों को न सह सकने के कारण अनेक श्रावक या साधु अथवा श्राविकाएँ और आर्यिकाएँ अपने धर्म मार्ग से विचलित हो उठते हैं। सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैनधर्मी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे व्यक्तियों को उनकी आवश्यकता के अनुसार सहायता दे।

बुभुक्षित को अन्नदान, निर्वस्त्र को वस्त्रदान, रोगी को औषधिदान, असमर्थों को सेवा, निःसहायों को सहायता आदि देकर उनके कष्ट को दूर करना उचित है। सेवा इस प्रकार विवेक के साथ करनी चाहिए कि जिससे उनके संयम का विनाश न हो। यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि जिस किसी भी प्रकार संयमी संयम के मार्ग में स्थिर रहे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और उसमें उन्नति कर सके, वही सहायता वांछनीय है। उसे करना ही स्थितीकरण है। शीत की बाधा सहित मुनि को वस्त्र पहिनाना, रोगी संयमी को अपवित्र औषधियों का दान करना, इत्यादि प्रकार की सेवा सेवा नहीं, पाप है। इस सेवा से संयमी धर्म में स्थिर नहीं होता किन्तु अधिकाधिक असंयमी बनता है, अतः ऐसी सेवा को निंद्य माना है। इतना ही नहीं, यह पापोत्पादक है उस भक्त को भी दुर्गति का कारण है और संयमी को भी। अतः विवेक के साथ ही सेवा करना स्थितीकरण है।

यदि संयमी अत्यन्त क्लिष्ट होकर संयम बिगाड़ने की स्थिति में हो या ऐसी सेवा चाहता हो तो उसे सदुपदेश सद्दृष्टांत देकर धर्म में स्थिर करना चाहिए। यदि वह उपदेश को ग्रहण न करे और फिर भी भ्रष्ट हो तो उसे संयमी भेष त्याग देने को बाध्य करना चाहिए, ताकि अन्य संयमी भी उसका अनुकरण न करें। ऐसा करना भी स्थितीकरण है। स्थितीकरण अपने यथार्थ अर्थ में वहीं है जहाँ येन केनाप्युपायेन संयमी को संयम के मार्ग में ही पुनः लौटा दिया जा सके।।३०।।

प्रश्नः—वात्सल्याङ्गस्वरूपं किं वदास्ति में गुरो मुदा।

हे गुरो! सम्यग्दर्शनस्य सप्तमाङ्गस्य वात्सल्यनाम्नः किं स्वरूपमस्तीति मुदा मे कथय।

सम्यग्दर्शन के सातवें वात्सल्य अंग का स्वरूप हे गुरु! कृपा कर कहिए।

(वसन्ततिलका)

त्यक्तो मिथः कलिकरो भुवि येन भावः
स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात्।
निःस्वार्थतो हि शिवदा क्रियते सुसेवा
वात्सल्यभाव इति तस्य भवेत् पवित्रः।।३१।।

त्यक्त इत्यादिः— मिथः परस्परं कलिकरः कलहोत्पादकः भावः येन त्यक्तः वात्सल्यं प्रीतिरित्यर्थः। यथा मातुर्वत्से प्रीतिरुत्पद्यते तद्दर्शनमात्रेणैव तथैव स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात् दयादाक्षिण्यसाम्यभावज्ञानादिगुणानामनुरागात् परा प्रीतिरुत्पद्यते सम्यग्दृष्टेः। स तु केवलं स्वधर्मबुद्ध्या लौकिकस्वार्थविरहितया तेषामप्रतिमकल्याणदायिनीं सेवां करोति। उक्तप्रकारेण सधर्मिषु साधिकप्रीतिभाव एव वात्सल्याङ्गमस्ति। ३१।

संसार में प्रत्येक प्राणी एक दूसरे से प्रीति करते हैं। उन सबमें माता और पुत्र की प्रीति पवित्र, निश्छल और निःस्वार्थ मानी गई है। माता का कोई स्वार्थ वत्स की रक्षा में नहीं होता। वह कपटरहित परम स्नेह भाव से उसका पालन-पोषण करती है। इसलिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पवित्र स्नेह ने 'वात्सल्य' नाम ही प्राप्त कर लिया है। सम्यग्दृष्टि जीव का यह भी एक महान् गुण है। स्वर्ग और मोक्ष के लिए कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों के पालनेवाले अपने समान धर्मी प्राणियों में उसे वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है, वह उनकी निःस्वार्थ निष्कपट सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। सम्यक्त्वी का यह भाव ही 'वात्सल्य' नामा सातवाँ अंग माना गया है।

भावार्थः— इस अनादिकालीन रागद्वेषमय संसार में न राग करनेवालों की कमी है और न द्वेष करनेवालों की। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों हेय हैं, मोक्षमार्ग के लिए बाधक हैं। क्रमशः जब कषायों का अभाव होता है तब अन्त में सूक्ष्म राग ही प्राणी को अटका लेता है, वह शेष रह जाता है तब उसके अभाव का भी प्रयत्न करना पड़ता है। भगवान् जिनेन्द्र का अन्तिम उपदेश यही है कि सर्वथा राग भाव छोड़ वीतराग बनो। इस पवित्र अवस्था की प्राप्ति सहसा नहीं होती। तब होती है जब पूर्ण संयम सात्मीभाव को प्राप्त हो जाय। उसके पहिले राग-द्वेष रहते हैं किन्तु उस पूर्ण संयम की प्राप्ति के लिए उन्हें क्रमशः त्याग का अनिवार्य है। त्याग का क्रम यह है कि सम्यग्दृष्टि सबसे प्रथम वैर भाव का त्याग कर प्राणिमात्र में मित्रपने जैसे राग भाव की प्रतिष्ठा करता है। सब जीवमात्र को अपना मित्र मानता है। किसी को शत्रु नहीं मानता। दुःखी जीवों को देखकर अत्यन्त दयार्द्र होता है, उदारता पूर्वक उनकी सहायता करता है। इतना साम्यभाव होते हुए भी वह धर्मात्मा गुणवान जीवों को देखकर परम हर्ष को प्राप्त होता है। वह उनके गुणों में आसक्त होता है और सदा उनकी मङ्गल कामना करता है। उन्हें किसी प्रकार भी दुःखी होते हुए देखकर उसे ठेस पहुंचती है। अतः वह अनेक कष्टों को सहकर भी साधर्मी के दुःख को दूर करता है। इस कष्ट सहने में उसे आनन्द का अनुभव होता है, वह इस भावना के कारण सन्तुष्ट रहता है कि मैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूँ।

सम्यग्दृष्टिऔर मिथ्यादृष्टि दोनों राग-द्वेष के कारण बेचैन रहते हैं फिर भी उनकी बेचैनी में जमीन आसमान जैसा अन्तर है। मिथ्यादृष्टि किसी से बदला लेने के लिए जितना बेचैन रहता है, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा पुरुष की सेवा जब तक नहीं कर पाता तब तक उतना ही बेचैन रहता है। दोनों बेचैन बंध की कारण हैं। मिथ्यादृष्टि के पाप का बंध होता है जिससे नरकादि गति जन्य दुःखों का मार्ग खुलता है और सम्यग्दृष्टि पुण्य का बंध करता है जिससे उत्तम मानव और स्वर्गगति में होनेवाले सुखों का मार्ग खुलता है। मिथ्यादृष्टि अपने भावों के निमित्त से होनेवाले पाप-बंध के कारण अपना संसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ाता है जब कि सम्यग्दृष्टि अपने भावों के निमित्त से होनेवाले पुण्यबन्ध के कारण संसार परिभ्रमण के मार्ग को नाश करनेवाले मुक्ति के मार्ग की ओर बढ़ता है।

अपेक्षाकृत मिथ्यादृष्टि के राग द्वेष की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि का रागभाव अत्यन्त ग्राह्य है। वह धर्म मार्ग की ओर प्रेरक होने से ही स्वयं धर्म मान लिया गया है। कारण में कार्य का उपचार न्याय संगत सिद्धान्त है। धर्मानुराग की बुद्धि से सम्यग्दृष्टि का यह पवित्रभाव ही सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामा सातवाँ अंग है। इस पवित्र प्रीति को वात्सल्य नाम इसलिए दिया गया है कि सिंह-व्याघ्र-मार्जारादि दुष्ट और हिंसक प्राणियों में भी अपने 'वत्स' के प्रति निश्छल प्रीति पाई जाती है। ऐसी निश्छल प्रीति सम्यग्दृष्टि को साधर्मी के प्रति अवश्य होती है। उसका यह आन्तरिक धर्मानुराग ही वात्सल्याङ्ग है।३१।

प्रश्नः—प्रभावनाङ्गमष्टमं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! सम्यग्दर्शनस्याष्टमाङ्गस्य प्रभावनायाः किं स्वरूपमस्तीति मे कथय।

हे गुरुदेव! कृपाकर सम्यक्त्व के आठवें प्रभावना अङ्ग का स्वरूप क्या है, कहिए।

(वसन्ततिलका)

मिथ्यात्वजां कुमतिदां भवदां कुविद्यां
बोधामृतैर्भवहरैरपहृत्य शीघ्रम्।
सर्वोपरित्वमिति यैर्जिनशासनस्य
तोषां प्रभावनकृतिर्भुवि दृश्यते हि।।३२।।

मिथ्यात्वजामित्यादिः— सुगममेतत्। तात्पर्यमिदम्-अनादिकालतो मिथ्यादर्शनकर्मजनितभावेन नष्टबुद्धित्वात् स्वहितमनपेक्षमाणाः संसारावर्त्तवर्त्तिनः प्राणिनो वीतरागपरमेष्ठिनोपदिष्टे जिनशासने मिथ्याधारणं प्रकुर्वन्ति। शिवप्रदैर्ज्ञानामृतैः तां धारणामपहृत्य दूरीकृत्य येन केनापि सम्यगुपायेन जैनशासनस्य सर्वोपरिप्रचारः कर्तव्यः। सम्यग्दृष्टेरयमेव प्रचारः सम्यक्त्वस्य अष्टमं प्रभावनमङ्गं स्यात् ।।३२।।

अनादि काल से संसारी जीव मिथ्यात्व कर्म के वशीभूत हैं और इसी से उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो रहा है, बुद्धि हित में नहीं जाती। वीतराग सर्वज्ञ भगवान् प्रतिपादित भी हित का उपदेश उन्हें अहित कर मालूम होता है। जैनधर्म के सम्बन्ध में वे सर्वथा विपरीत धारणाएँ कर बैठे हैं अथवा अज्ञानता के कारण जिन शासन का उन्हें बोध ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जिस किसी भी उत्तम उपाय से कल्याणकरक धर्मोपदेश देकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनका अज्ञान दूर करता है और उनमें जिनशासन की प्रतिष्ठा करता है। इसे ही सम्यक्त्व का आठवाँ प्रभावनाङ्ग कहते हैं।

भावार्थः— आठ कर्मों में मोहनीय प्रधान है और मोहनीय में दर्शनमोह प्रधान कर्म है। दर्शनमोह का प्रधान भेद मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के प्रभाव से ही संसार में परिभ्रमण करने वाले ये सभी प्राणी अपने हित के मार्ग को भूले हुए हैं। मिथ्यात्व आत्मा को सम्यग्मार्ग से दूर करने वाली एक तरह की मदिरा है। मदिरापान करने वाला व्यक्ति नशा आने पर लौकिक सुख-दुःख, हित-अहित, इष्ट-अनिष्ट, पूज्य-अपूज्य और भोग्य-अभोग्य को नहीं जानता। उसकी क्या-क्या दशा होती है उसे बतलाने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। सभी संसारी जन मदिरापान करनेवालों की दुर्दशा और उनकी अज्ञानजनित कार्य प्रणाली से परिचित हैं। मिथ्यात्ववशवर्ती जीव की भी यही हालत होती है। उसे विषयजन्य अवस्था में सुख मालूम होता है। कषायजन्य वैर में, पर के अपमान में, दूसरों को धोखा देने में और परधन नाश में सुख मालूम होता है। इसके विपरीत दूसरों को धनी देख उसे ईर्ष्या होती है; दूसरों के सन्मान में उसे दुःख होता है। किसी के साथ बैर हो और उसे कोई छुड़ाना चाहे तो वह छुड़ाने वाले को ही बुरा भला कहता है। विषय प्राप्त न हो तो अपने को भाग्यहीन मानता है। अपनी इन दुर्भावनाओं के कारण वह विषयसंगत्यागी दिगम्बरवेषी परमयोगी तपस्वी को देखकर हँसता है, उनकी निन्दा करता है। यह उन्हें अज्ञानी और अपने को ज्ञानी मानता है। उसकी वीतरागी सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित जिन मार्ग में विपरीत धारणा हो जाती है। जबतक उस मिथ्यात्वरूपी मदिरा का नशा उसे चढ़ा है उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है। सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है कि वह यह समझे कि मैंने बड़े भाग्य से इस अपनी दुरवस्था से अपना पिण्ड छुड़ा पाया है। अतः अपने दूसरे भाइयों का भी इस मिथ्याज्ञान से पिण्ड छुड़ा दूँ।

अपने कर्तव्य के ज्ञान से सम्यग्दृष्टि अपने समान ही दूसरे बन्धुओं से सहोदर की तरह प्रीति करता हुआ उनकी भी दृष्टि को सम्यक् बनाने का प्रयत्न करता है। वह उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखता, उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता है और इसी से उन्हें मिथ्या गर्त्त से जो उनका अहित करनेवाला है उद्धार करना चाहता है। वह समझता है कि जैसे भी हो वैसे इन मिथ्यात्वग्रस्त बन्धुओं को सन्मार्ग पर लगाना है ताकि इनकी भ्रम बुद्धि दूर हो। इनमें परम कल्याणकारी जिन शासन की प्रतिष्ठा हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके लिए वह प्रत्येक सम्भव उपाय काम में लाता है, फिर भी वह धर्मान्ध नहीं होता। जैसा आजकल लोग अनेक सम्प्रदायवादी धर्मान्ध होकर लोगों को डराकर, धमका कर, लूटकर आग में जलाकर, बहू-बेटियों का अपहरण कर, येन केन प्रकारेण आतङ्क जमाकर, अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करना चाहते हैं। सम्यग्दृष्टि इस प्रकार अनीति कर निन्द्य पापमय पापप्रचारक उपायों को सर्वथा हेय मानता है। इन जघन्य कार्यों से प्राणियों की प्रवृत्ति पापमयी होती है। वे अहित के मार्ग में ही जाते हैं, हित के मार्ग में नहीं। ये सब काम पवित्र जैनधर्म के उद्देश्य से सर्वथा विपरीत हैं। अतः सम्यग्दृष्टि ऐसे कार्यों के करने की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता।

धर्मप्रचार का मूलोद्देश्य जगत् के प्राणियों के कल्याण की कामना है। धर्म की उन्नति धार्मिक उपायों से ही हो सकती है, अधार्मिक उपायों से नहीं। सम्यग्दृष्टि को उचित है कि वह संसार के प्राणिमात्र की कल्याण की महती इच्छा को सामने रखकर परम पवित्र दुःखविमोचक जैनधर्म को संसार में फैलाने का सत्प्रयत्न करे। ये उपाय निम्न प्रकार के हैं :—

निःस्वार्थ सद्धर्म का उपदेश देना, पाप या विपरीत प्रवृत्तियों के दोष दिखाना। दोष दिखाने में इस बात का ध्यान सदैव रखे कि इससे दोषी की निन्दा व्यक्ति या नामाङ्कित समष्टिगत न हो जाय। निन्दा से अपने उद्देश्य में बाधा पड़ती है और दोषवान् पुरुष सन्मार्ग से दूर रहता है, चिढ़ जाता है। इसलिए निन्दा का भाग छोड़कर धर्म की उत्कृष्टता और पाप की या मिथ्यात्व की अनुत्कृष्टता को जनता के गले उतारना चाहिए।

सद्धर्म की प्रभावना का दूसरा उपाय है "सेवा"। वर्तमान युग का मानव उपदेश की कदर नहीं करता किन्तु "सेवा" की कदर करता है। किसी के बीमार होने पर, कष्ट में होने पर, आग लगने पर, दरिद्रता से पीड़ित होने पर और भयभीत होने पर क्रमशः औषधि, सेवा, उपसर्गनिवारण, अन्न वस्त्र या आजीविका के उपाय तथा आश्रय प्रदान और संरक्षण आदि करना "सेवा" है। सेवाभावी व्यक्ति अपने सदाचार से दूसरों को स्वयं आकर्षित कर लेता है। उस आकर्षण से ही उसे (सम्यग्दृष्टि को) अपने सद्धर्म प्रचार का सुन्दर स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है। ईसाई धर्मप्रचारको ने धर्म प्रचार की इस प्रशंसनीय पद्धति को पूर्णरीत्या अपनाया है। सेवाभावी व्यक्ति अपने धर्म के स्वरूप का प्रतीक है-आदर्श है। उपदेश देने की अपेक्षा स्वयं उसका आचरण कर जनता के सामने आदर्श रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थों के लिए उपदेश दाता का पद सुशोभित भी नहीं होता और प्रभाव भी नहीं होता। यह पद तो आत्मशोधक पवित्र साधुओं के लिए जिन्होंने अपनी आत्मा को धर्म मार्गमय बना लिया है उनको शोभा देता है और उनका प्रभाव भी जनता पर पड़ता है, क्योंकि उन्होंने धर्म के लिए स्वार्थत्याग की कठोर साधना को साधा है। गृहस्थ के लिए तो "सेवा" का कार्य ही धर्मप्रचार का सच्चा उपाय है उससे उस गृहस्थ का भी उद्धार होता है, क्योंकि सेवा ही तो धार्मिकता का सच्चारूप है तथा जिनकी सेवा की जाती है उनको भी सेवा सन्मार्ग की ओर सम्मुख करती तथा असन्मार्ग से विमुख करती है।

जनता में जो अज्ञान है उसे दूर करने और सम्यग्ज्ञान के प्रचार के लिए शिक्षालय खोलना, पुस्तके बाँटना, विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देना, विभिन्न रूप में ग्रन्थ प्रकाशित कर जिनवाणी का उद्धार करना ये सब धर्मोद्धार के कार्य हैं। इन सब सम्यक् उपायों से किये गये पवित्र धर्म के प्रचार के कार्य प्रभावनाङ्ग हैं।३२।

(अनुष्टुप्)

अष्टाङ्गलक्षणं प्रोक्तमेवं सम्यक्त्वशुद्धिदम् ।
श्रीमता स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ।।३३।।

एवमुक्तप्रकारेण सम्यक्त्वशुद्धिदं शुद्धिकारकं सम्यक्त्वस्य अष्टाङ्गलक्षणं अष्टानामपि अङ्गानां लक्षणं स्वात्मतुष्टेन स्वात्मगुणलाभेन तुष्टात्मना श्रीमता कुन्थुसागरसूरिणा कुन्थुसागरेण जैनाचार्येण प्रोक्तम् ।३३।

ऊपर लिखे प्रकार से सम्यक्त्व के अष्टांगों का सम्यक् वर्णन श्री परम पूज्य आचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराज ने किया है। यहाँ आचार्य महाराज ने अपने लिए "स्वात्मतुष्ट" विशेषण लगाया है। स्वात्मतुष्ट व्यक्ति वह होता है जो केवल अपने आप में अर्थात् अपने आत्मगुणों की प्राप्ति में ही संतुष्ट हो चुका हो, जिसे न तो लौकिक संपत्ति की लालसा है और न अपने कामों से अपनी कीर्ति की, सम्मान की, प्रतिष्ठा की और पूज्यता की इच्छा है।

जो कार्य धन प्राप्ति के लिए किए जाते हैं या कीर्ति या सम्मान के लिए या किसी पद के लिए या अन्य किसी लौकिक लाभ के लिए किए जाते हैं उनके भीतर कोई दूसरी ही भावना काम करती है। वे मनुष्य सद्धर्म के सच्चे प्रचारक किसी भी हालत में नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकते। सद्धर्मपालक और प्रचारक या प्रभावक को निःस्वार्थी-सेवाभावी और प्रत्येक संभव उपाय के द्वारा स्व-परकल्याण करनेवाला होना चाहिए।

आचार्य महाराज ने "स्वात्मतुष्ट" एक ही विशेषण द्वारा अपने हृदय की निःस्वार्थता व कर्त्तव्यपरायणता तथा हितैषिता का परिचय दिया है। सम्यक्त्व के ये आठों अंग सम्यक्त्व को परिपूर्ण व पवित्र बनाते हैं। बिना इन अंगों को पूर्ण किए सम्यग्दृष्टि अपने गुण में अपूर्ण है, और अपूर्णशक्तिवाला अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहता है। अतः संसारोच्छेद के लिए पूर्णांग सम्यक्त्व पालन करना चाहिए।३३।

प्रश्नः—लोकमूढत्वचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! मूढत्रयपरिहारः कर्त्तव्य एव सम्यग्दृष्टिना इत्येतत् श्रूयते किं तत्मूढत्रयम्? इत्यत्रोत्तरयत्याचार्यः यल्लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढता चेति मूढत्रयं सम्यक्त्वदोषापादकमस्ति। शिष्यो वदति यत् किं लोकमूढतायाः चिह्नं स्वरूपमिति कृपया वद।

हे श्रेष्ठ! तीन मूढ़ता का त्याग सम्यग्दृष्टि को करना चाहिए ऐसा सुना जाता है। वे मूढ़ताएँ कौन हैं? आचार्य कहते हैं कि लोकमूढ़ता और गुरुमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ सम्यक्त्व में दोषोत्पादक हैं। तब शिष्य पूछता है कि हे गुरु! लोकमूढ़ता किसे कहते हैं? कृपाकर बताइए। आचार्य उत्तर देते हैं :—

(वसन्ततिलाका)

मोहादिमुक्तमनुजो लभते स्वधर्मं
मूर्खो न सत्यपि सुवस्तुनि सौख्यदे हि।
गङ्गावगाहनवशाद्वदतीति धर्मो
लोकस्य तस्य भवदा भुवि मूढता स्यात् ।।३४।।

मोहादिमुक्तमनुजः स्वधर्मं लभते, किन्तु मूर्खः अनादिकालीनमिथ्यात्वजनितसंस्कारवशाद्विषयविमूढः भ्रमबुद्धित्वात् सौख्यदे सुखदायिन्यपि सुवस्तुनि सत्यपि स्वधर्मं न लभते। स हि गङ्गावगाहनवशात् गङ्गायां गोदावर्यां यमुनायां नर्मदायां अन्यत्र वा क्वचित् समुद्रादिके अवगाहनवशात् शारीरिकस्नानमात्रादेव धर्मो भवतीति वदति। अतएव तस्य अज्ञानिजनस्य भुवि भवदा संसारावधिवर्धिनी लोकस्य मूढता लोकमूढता स्यात् ।।३४।।

अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से जीवों को ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं जिनके कारण पंचेन्द्रिय विषयों में विमूढ़ हो रहा है और इनके त्याग में असमर्थ होता हुआ सुखदायक सुमार्ग में नहीं चलता और न आत्महित को जानता है। सम्यग्दृष्टि सन्मार्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का अवलम्बन करता है, क्योंकि वह विषयमूढ़ता से दूर है। जो विमूढ़ हैं वे धर्म की अभिलाषा से गंगादि तीर्थों में, प्रयाग के संगम में, गोदावरी, यमुना, नर्मदा या कहीं भी अन्यत्र स्नान करने मात्र से अपने को पापमुक्त मान लेते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि स्नान से शारीरिक मल दूर होगा, आत्मा के रागद्वेषादि दोष दूर नहीं हो सकते। लौकिक मान्यता के आधार से चली हुई उक्त लोकमूढ़ता के कारण मोही पुरुष इस सम्यक् तत्त्व को नहीं जानता है।

पवित्रता धर्म का अङ्ग है यह निःसन्देह है। शारीरिक पवित्रता स्नानादि से प्राप्त होती है, पर आत्मा की पवित्रता स्नान से नहीं होती। आत्मा अमूर्त्त द्रव्य है और जल मूर्त्तिमान् पदार्थ है। मूर्तिमान पदार्थ से अमूर्त्त द्रव्य पवित्र या अपवित्र नहीं होता। गङ्गादि स्नान में धर्म माननेवाले सज्जनों को आत्मा की पवित्रता के लिए श्रीकृष्णजी का उपदेश ग्रहण करना चाहिए। अर्जुन को सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्णजी ने कहा है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।।

अर्थात् हे पाण्डु के पुत्र धीरवीर अर्जुन! अपनी आत्मा ही नदी है, उसमें 'संयम रूप' पवित्र जल भरा है, जिसमें सदा 'सत्य' ही बहता रहता है। 'शील' उसका तट है, उसमें दया की ऊर्मियाँ अर्थात् लहरें सदा लहराया करती हैं। ऐसी पवित्र आत्मा रूपी नदी में तू प्रवेशकर, अर्थात् आत्मा के अपने उक्त पवित्र रूप में रमण कर। इससे तेरी अन्तरात्मा पवित्र बनेगी। पानी के द्वारा चाहे वह गङ्गा का हो या अन्यत्र किसी भी महातीर्थ से लाया गया हो उससे अन्तरात्मा पवित्र नहीं हो सकती।

श्रीकृष्ण जी ने लोकमूढ़ता का कितना स्पष्ट निषेध करके आत्मा की पवित्रता का सुन्दरतम श्रेष्ठ मार्ग प्रकट किया है। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए विचारणीय है। जो मनुष्य मोह या अज्ञान जन्य स्थिति से अपने को दूर रख सकता है वही स्वधर्म (आत्मधर्म) को प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं।३४।

प्रश्नः—किं देवमूढताचिह्नं वद मे सिद्धये गुरो।

हे गुरु! देवमूढ़ता किसे कहते हैं? मेरी इष्ट सिद्धि के लिए कृपा कर कहें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देवमूढता का स्वरूप

(वसन्ततिलका)

सत्यार्थधर्मरहितो धनपुत्रहेतो-
मूर्खः कुदेवकुगुरोः शरणं प्रयाति।
स्यान्मूढता भुवि यतो भ्रमणस्य हेतु-
र्दुःखप्रदा सपदि तस्य कुदेवतायाः।।३५।।

सत्यार्थेत्यादिः— सत्यधर्मस्वरूपमविज्ञाय लौकिकधनपुत्रादिप्राप्त्यर्थं ये मूढाः सरागदेवानामाराधनां कुर्वन्ति-सा संसारपरिभ्रमणहेतुभूता दुःखदायिनी देवमूढता स्यात् ।।३५।।

जिसने धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं समझा वह मनुष्य संसार परिभ्रमण के लिए कारणभूत दुःखप्रदायिनी देवमूढ़ता का त्याग नहीं कर सकता। वह लौकिक लाभ के लिए अर्थात् धन की प्राप्ति अथवा पुत्र के लाभ आदि को इष्ट जानकर उनके निमित्त कुदेव और कुगुरु की शरण पकड़ता है।

भावार्थः— मनुष्य सदा से आदर्श का पूजक रहा है। यही कारण है कि जितने मत-मतान्तर संसार में प्रचलित हैं, रहे हैं या होंगे वे सब उस मतप्रवर्तक के आदेशानुसार अपने आदर्श को ईश्वर, जिनेन्द्र, यीशु, परमात्मा और खुदा आदि नामों से पूजते आ रहे हैं और पूजते रहेंगे। जिनमत-प्रवर्त्तकों ने किसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर या मुक्तात्मा या आदर्श की सत्ता मानने से इंकार कर किया है। उनके अनुयायी यदि ईश्वर नहीं मानते तो कम से कम उस मत प्रवर्त्तक को ही अपना आदर्श मानकर पूजते आ रहे हैं।

कुलपरम्परा द्वारा प्रचलित मान्यता के अनुसार चाहे जिसे 'देव' मानकर पूजना विज्ञता नहीं है। यह एक प्रकार का मोह है। मोहयुक्त पुरुष ही व्याकरण (शब्द शास्त्र) के अनुसार 'मूढ़' शब्द द्वारा व्यवहृत होता है। देव की मान्यता के सम्बन्ध में जो मोहपना है वह "देवमूढ़ता" है। सद्धर्म का खोजी ऐसी मूढ़ता का परित्याग करता है।

वह अपना आदर्श 'देव' उसे मानता है जिसमें देवपने के गुण हों। जो संसार के दुःखमय कंटकाकीर्ण मार्ग को पार कर चुका हो और दूसरों को भी अपने परीक्षित मार्ग को बता सके। जिसमें न किसी का पक्षपात हो और न किसी के प्रति द्वेष हो, किन्तु सामान्य तथा प्राणिमात्र का हितैषी हो। स्वयं सब प्रकार के दोषों से रहित हो। प्रत्येक बात का पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी हो। उपर्युक्त गुण विशिष्ट आत्मा ही 'देव' 'ईश्वर'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'आप्त' 'परमात्मा' आदि शब्दों से कहे जाने योग्य है। ऐसे श्रेष्ठ आदर्श की पूजा-उपासना-ध्यान ही देवोपासना है। इसके विरूद्ध जिसका स्वरूप हो, जिसमें उक्त गुण न पाए जायँ, वह हमारा आदर्श नहीं हो सकता, वह हमें उन्नत मार्ग नहीं बता सकता; क्योंकि वह स्वयं अनुन्नत है। अतः 'देव' नहीं है, फिर भी उसे देव मानकर उपासना करना "देवमूढ़ता" है। जैन तीर्थकरों का यह उपदेश है कि वही व्यक्ति मान्य है जिसमें मान्यता के योग्य गुण हों। ऐसे व्यक्ति की उपासना से व्यक्ति ऊँचा उठेगा। स्वयं योग्य और मान्य बन जायगा। वह सच्चा स्व-परोपकार कर सकता है। जो व्यक्ति गुणवान् तो नहीं है किन्तु उसे या तो भ्रमवश गुणवान् मान लिया गया है या उसके अवगुणों में ही हमने गुणपने की मान्यता कर ली है, उस व्यक्ति की मान्यता से हम उन्नत नहीं हो सकते। हमारा उक्त भ्रम ही मूढ़ता है जो देव विषयक होने से 'देव मूढ़ता' कही गई है।३५।

प्रश्नः—किं गुरुमूढ़ताचिह्नं वर्तते मे गुरो वद?

हे गुरुदेव! गुरुमूढ़ता क्या है उसका क्या लक्षण है कृपाकर मुझे बतावें। ऐसा प्रश्न होने पर गुरुदेव गुरुमूढ़ता का स्वरूप बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

स्वात्मच्युतस्य भुवि कुर्वत एव पापम्
सेवाऽसतः क्रियत एव धनादिहेतोः।
स्यात्तस्य दुःखजनिका गुरुमूढ़ताऽपि
ज्ञात्वेति सत्यरसिकैः परिवर्जनीया।।३६।।

स्वात्मच्युतस्येत्यादिः— भुवि अस्मिन्ननादिनिधने संसारे स्वात्मच्युतस्य स्वात्मबोधविमुखस्य पापमेव कुर्वतः केवलं हिंसादिकर्मप्रयोजकं पञ्चाग्नितपःप्रभृतिबालतपो विदधानस्य असतः कुगुरोः धनादिहेतोः धनादिलौकिककार्यसिद्ध्यभिलाषवशात् येन सेवा परिचर्या एव क्रियते तस्य प्राणिनः दुःखजनिका जन्मजरामरणप्रभृतिदुःखोत्पादिका गुरुमूढ़ता स्याद् इति ज्ञात्वा तत्त्वरसिकैः तत्त्वविद्भिः सा परिवर्जनीया परिहर्तव्या।।३६।।

इस अनादिनिधन संसार में आत्मज्ञान रहित और इन्द्रियविषय लम्पट अनेक पापात्मा 'गुरु' नाम रखाकर लोगों को ठगते हैं। उनमें गुरुपना तो नाम निशान को भी नहीं है। जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयों के दास नहीं है, हिंसादि पञ्च महापापों से दूर रहते हैं, निरभिमानी सरल प्रकृति व क्षमाशील हैं वे ही 'सद्गुरु' हैं, ऐसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने श्रावकाचार में वर्णित किया है। कुगुरु जन इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगादि तथा पीड़ा और रोगादि से व्याकुल प्राणियों को देखकर कहा करते हैं कि हम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे, हमें अनेक प्रकार की सिद्धि है। इत्यादि मिथ्याप्रलाप से जगत के भोले प्राणियों को ठगते हैं। वे सरल संसारी जन संसार के दुःख से आतुर हो अपने दुख को दूर करने के लिए उन मूढ़ों की सेवा करते हैं। उनकी यह क्रिया गुरुसेवा नहीं 'गुरुमूढ़ता' है। इस प्रकार गुरुमूढ़ता के स्वरूप को जानकर तत्त्वरसिक जीवों को उसका त्याग करना चाहिए।

भावार्थः— गुरु के स्वरूप को न जानकर यद्वा तद्वा उदर भरने वाले ठगों को गुरु मानकर पूजना गुरुमूढ़ता है। सद्गुरु का कार्य यह है कि वह आगम का पाठी होकर सर्वज्ञाज्ञा प्रमाण हित का उपदेश जनता को देवे। साधु या गुरु एक बहुत उपयोगी व्यक्ति संसार में हैं। ये जनता से भोजनमात्र लेते हैं और इस लोक और परलोक में सुखदायक मार्ग का प्रदर्शन जनता के लिए कहते हैं। जो अपना व पराया उपकार साधन करें वे ही सच्चे साधु हैं। इसी तरह जो महान् गुणों के द्वारा गुरुतर (वजनदार) बन चुके हों वे ही सद्गुरु हैं अन्य नहीं। ऐसे सद्गुरु को छोड़कर अन्य पाखण्डी तपस्वियों की सेवा भक्ति ही गुरुमूढ़ता कहलाती है। चमत्कार गण्डा-तावीज-झाड़ा-फूँकी आदि के द्वारा कुदेवपूजा का प्रचार करने वाले कुगुरु हैं। जैनमार्ग में मात्र भेष नहीं पूजा जाता, भेष के अनुसार गुण हो तो ही वह गुरु है, पूज्य है, अन्यथा नहीं। ३६।

(अनुष्टुप्)

इत्यात्मदुःखदं निन्द्यं स्वाज्ञानदर्शकं मया।
त्रिमूढतास्वरूपं कौ प्रोक्तं तद्बोधहेतवे।।३७।।

इत्यात्मदुःखदमित्यादिः— इत्यनेन प्रकारेण आत्मदुःखदं आत्महितविरुद्धत्वात् दुःखप्रदायकं अतएव निद्यं निन्दनीयं तथा स्वाज्ञानदर्शकं स्वमूढभावप्रदर्शकं त्रिमूढतास्वरूपं मया श्रीकुन्थुसागरस्वामिना तद्बोधहेतवे मूढानाम् सद्बोधहेतोः प्रोक्तम् ।।३७।।

उक्त प्रकार से तीन मूढ़ता का स्वरूप प्रतिपादन किया। ये तीनों मूढ़ताएँ यथार्थ में आत्महित के विरूद्ध होने के कारण दुःखदायक हैं, अतएव निन्दनीय तथा मूढ़ताभाव की प्रदर्शक हैं, सज्जनों के प्रतिबोध के लिए इन तीन मूढ़ताओं का स्वरूप श्री कुन्थुसागर स्वामी ने प्रतिपादित किया है। ३७।

इति मूढतात्रयदोषनिवारणोपदेशः।

प्रश्नः—षडनायतनचिह्नं किं विद्यते मे गुरो! वद।

छह अनायतन का क्या स्वरूप है? हे गुरु! कृपाकर कहिए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

कुदेवस्य तथा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम् ।
न कार्यं तत्त्वतो भक्तिः सेवा वा शुश्रूषादिकम् ।।३८।।
सत्यार्थवस्तुनो लाभो यतः स्यात् स्वैररोधनम् ।
सुदेवस्य सदा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम् ।।३९।।

कुदेवस्येत्यादिः— कुदेवस्य देवलक्षणरहितो देववदवभासमानो देवाभास एव कुदेवः तस्य तथा तस्य भक्तस्य कुदेवानुयायिनः भक्तिः सेवा शुश्रूषादिकं वा वन्दनादिकं वा न कार्यम् । तत्करणे हि अनायातनदोषः स्यात् । सुदेवस्य अज्ञानरागादिदोषरहितोऽशेषज्ञस्तथा हितोपदेशक एव पुरुष आप्तः स एव सुदेवः तस्य तथा तस्य भक्तस्य सुदेवानुयायिनः वन्दनादिकं कार्यम् । यतः सत्यार्थवस्तुनः जीवादितत्त्वस्य लाभः सम्यग्ज्ञानं स्वैररोधनं च स्वहितविरोधिप्रवृत्तिपरित्यागश्च स्यात्।३८।३९।

जो तत्त्वार्थ का परिपूर्ण ज्ञाता न होवे, अज्ञानादि दोषों से मुक्त न हो और परहित कामना से रहित हो, वही कुदेव नाम से प्रख्यात है। उसकी तथा उसके सेवकादिक की पूजा भक्ति वन्दनादि कभी न करनी चाहिए। 'देव, ईश्वर, आप्त और परमात्मा' आदि अनेक नामों द्वारा लोग किसी एक ऐसे आदर्श को मानते हैं जिसे वे संसार में सर्वोत्कृष्ट समझते हों। विचार यह करना चाहिए कि हम उसे सर्वोत्कृष्ट क्यों मानें? इसका उत्तर सीधा है कि वह हम सबसे अधिक गुणवान्, निर्दोष, ज्ञानवान् व समर्थ है और हमारा उससे हित होगा इसीलिए हम उसे मानते हैं— पूजते हैं और स्तुति आदि करते हैं। यदि उस व्यक्ति में ये आदर्श गुण न हों तो वह किसलिए वन्दनीय माना जाय? इसी बात को दूसरे शब्दों में ग्रथंकार आचार्य लिखते हैं कि उक्त प्रकार के गुणों से रहित यदि कोई देवस्थानीय है तो वह कुदेव है और उसकी या उसके मानने वालों की सेवा शुश्रूषा आदि दोषकारक है।

यद्यपि जैनधर्म प्राणिमात्र में प्रेम का उपदेश देता है तथापि पदवीरूढ़ व्यक्ति यदि उस पद के योग्य न हो और उसे उस पद पर प्रतिष्ठित किया जाय तो यह बुद्धि में भ्रमोत्पादक होने से मिथ्यात्व कहा गया है। जिस सत्यार्थ वस्तु का स्वरूप परिज्ञान सुदेव के द्वारा हो सकता है वह कुदेवादि से नहीं, इसलिए कुदेव को छोड़ सुदेव का तथा उसकी मान्यता करनेवाले भक्तजनों का आदर करना समुचित है, कुदेव का नहीं। इसतरह कुदेव और कुदेव पूजक इन दोनों का आदरादि करना अनायतन सेवा है, इस प्रकार इन दोनों अनायतनों का स्वरूप कहा ।३८।३९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुशास्त्र और उसके पाठक

(वसन्ततिलका)

अन्यागमस्य खलु तस्य कुपाठकस्य
होकान्तपक्षकलितस्य भवप्रदस्य ।
सङ्गं विहाय जिनशास्त्रसुपाठकस्य
कार्यो निजात्मसुखदस्य सदैव सङ्गः।।४०।।

अन्यागमस्येत्यादिः— एकान्तपक्षकलितस्य तत्त्वं नित्यमेव अनित्यमेवेति एकान्तपक्षसमर्थकस्य अतएव भवप्रदस्य संसारवर्धकस्य अन्यागमस्य न्यायागमविरुद्धतत्त्वोपदेशकस्य अन्यैः कुवादिभिः प्रणीतागमस्य तथा तस्य कुपाठकस्य सङ्गं विहाय परित्यज्य जिनशास्त्रसुपाठकस्य सच्छास्त्रस्य तथा तत्पाठकस्य सङ्गः सदा एव कार्यः यतो निजात्मसुखं समुत्पद्यते। अनेकान्तात्मकं खलु वस्तुनो रूपं प्रत्यक्षतः प्रतीतं तथापि सदसद्रूपेण नित्यानित्यरूपेण वा एकान्तपक्षग्रहणं भवदुःखप्रदमस्ति। अतोऽसच्छास्त्रस्य तत्पाठकस्य च सङ्गं विहाय सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टस्य आगमस्य तत्पाठकस्य वा वन्दनादिकं कर्त्तव्यम् ।४०।

इस संसारिक जीवन में सदुपदेश ही आधारभूत या शरणभूत है। जीवन के सुधार के लिए या उसे समुन्नत बनाने के लिए उपदेश प्रभावपूर्ण कार्य करते हैं, यदि वे उपदेश यथार्थ हों। उपदेश की यथार्थता वक्ता की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् है तो उसका उपदेश भी उपयोगी होगा और यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् नहीं है, स्वयं दोषी है, आत्मबल हीन है, तो उसका उपदेश जीवन को समुन्नत न बना सकेगा। ऐसे उपदेश को ही 'कुशास्त्र' या "कुआगम" कहा है। इन कुशास्त्रों में जो वस्तुतत्त्व वर्णित है वह एकान्तपक्ष से दूषित है। अतः वे अतत्त्वप्ररूपक हैं। वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है और जैसा वस्तु का स्वरूप है वेसा ही प्रतिपादन करनेवाला आगम समीचीन शास्त्र है। सत्शास्त्र का उपदेश कल्याणकारक है। असत् तत्त्व के प्ररूपक ग्रंथ असत् शास्त्र हैं। वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने से सुख या सुख के मार्ग की प्राप्ति होती है और मिथ्या या विपरीत ज्ञान से जीव मार्ग भ्रष्ट होकर दुःख या दुःख के मार्ग को प्राप्त हो जाता है। अतएव एकान्तपक्ष ग्रसित मिथ्याशास्त्र और उसके पाठकों से दूर रहकर आत्मा के शाश्वतिक सुख की प्राप्ति के लिए अनेकान्त प्रतिपादक जैन शास्त्रों का पठन तथा उसके सुपाठकों की संगति वन्दनादिक ही करनी चाहिए।४०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुगुरु और उसके वन्दक

(वसन्ततिलका)

शिष्यस्य तस्य कुगुरोश्च कुमार्गनेतुः
सेवा स्तुतिश्च सुजनैर्न कदापि कार्या ।
स्वानन्दसौख्यजनकस्य सदा सुसेवा
शिष्यस्य चास्य सुगुरोः सुखदा हि कार्या।।४१।।

शिष्यस्येत्यादिः— कुमार्गनेतुः संसारहेतु मिथ्यादर्शनादिमार्गोपदेष्टुः कुगुरोः तस्य शिष्यस्य च सुजनैः सेवा स्तुतिश्च कदापि न कार्या। किन्तु स्वानंदसौख्यजनकस्य सुगुरोः अस्य शिष्यस्य च सुखदा सुसेवा सदा कार्या। तात्पर्यमेतत् स्वयं विषयाणामभिलाषी लोभादिकषायवशित्वेनानेकारम्भ-संरंभभारेणाकुलः कामक्रोधादिभिर्विजितश्च पुरुषः स्वयं धर्ममार्गपराङ्मुखः सन् अन्यानपि स्वच्छन्दानुवर्तिनःशिष्यान् नानादुःखसमीकीर्णे संसारकानने परिभ्रमन्परिभ्रामयति अतः स्वहितमन्विच्छद्भिर्न कदापि तेषां कुगुरूणां तच्छिष्यानां च सेवा स्तुतिः प्रशंसादिकं वा कार्यम् । स्वात्मसुखाभिलाषिणस्संसारमार्गपराङ्मुखास्सन्ति सुगुरुवः, येषामस्तंगतो विषयाभिलाषः, गृहत्यागिनस्ते वसन्ति भीमकानने स्वात्मचिन्तनाय, निःपरिग्रहाः नग्नशरीराः निर्मानिनः क्रोधकामादिभिस्तु दूरत एव परिहृताः शीलेशाः पाणिपुटाहारिणः परमदयालवः परोपकारकरणव्यापाराः। तेषाम् सुगुरूणां तच्छिष्याणां तत्सेवकानां तु सेवा-स्तुतिः प्रशंसादिकम् वन्दनादिकञ्च सदैव स्वहितैषिभिः कार्यम् । एवञ्च करणे स्वात्मोत्थं परमनिर्वाणसुखं परिप्राप्नुवन्ति भक्ताः।४१।

पांचों इन्द्रियों की अभिलाषाओं के दास, आत्मबलहीन, लोभादिकषाय के वशीभूत अनेक आरम्भ और परिग्रह के भार से दबे हुए, काम-क्रोधादि दुर्गुणों के द्वारा पराजित अपने को गुरु माननेवाले अनेक पापी स्वयं संसार के दुःखों को भोगते हैं और अपने अनुयायी शिष्यों को भी संसार चक्र में परिभ्रमण कराते हैं। अतएव ऐसे कुगुरुओं की और उनके भक्तजनों की सेवा स्तुति प्रशंसा या वन्दनादिक कदापि नहीं करनी चाहिए। किन्तु स्वात्मसुख के अभिलाषी संसार के दुःखमय मार्ग से विमुख जो सुगुरु हैं जिनकी विषयाभिलाषा नष्ट हो चुकी है, जो गृहत्यागकर स्वात्मचिन्तन मात्र के लिए भयंकर वनों में निवास करते है, जो स्वयं ही परिग्रह से दूर, नग्नशरीरमात्र से भी मोह न रखनेवाले, मान से रहित, कामक्रोधादि दुर्गुणों से परित्यक्त, शील के भण्डार, गृहस्थ के द्वारा भक्तिपूर्वक दिए हुए रूखे-सूखे अन्न को अपने हस्तपुट में रखकर ही खड़े-खड़े एकबार निर्दोष आहार ग्रहण करनेवाले, परमदयालु, परोपकार करना ही जिनके जीवन का एकमात्र व्यापार है ऐसे परम वीतरागी महापुरुष 'सुगुरु' हैं। जो व्यक्ति संसार के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखों से भयभीत हैं, अनादिकाल की परम्परा द्वारा प्राप्त जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि अनिवार्य तथा विषयाभिलाषा, ईर्षा, द्वेष, दम्भ, कलह और वैर आदि स्वकृत महान् दुःखों से त्रस्त हैं और इनको दूर करना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि कुगुरु और उसके भक्तों का जो कि इन दुःखों में पगे हैं और इन दुःखों के मार्ग में ही चल रहे हैं संग त्यागकर सुगुरु और उनके भक्त शिष्यादिकों की संगति करें। "सुगुरु" परमदयालु हैं, प्राणिमात्र पर उनकी अनुपम दया है, वे अपनी सहजवृत्ति से प्राणियों के कल्याण की कामना करते हैं, वे उस कामना के बदले में तुमसे या किसी से कुछ भी नहीं चाहते। न वे धन चाहते हैं, न सेवा; न मान, न कीर्ति और न प्रशंसा। इस परोपकारवृत्ति पर कोई कृतघ्न यदि उन्हें गाली दे, मारे या बध-बन्धनादि उपसर्ग भी करे तो भी वे अपने चित्त में उद्विग्न नहीं होते, उस कृतघ्न पर क्रोधित नहीं होते, उसे शाप नहीं देते, उसे सद्बुद्धि आये ऐसी ही अभिलाषा रखते हैं। ऐसे परम सुगुरु की तथा उन जैसे ही उनके भक्तों की सेवा-स्तुति प्रशंसादि तथा अनुकरण सदा करनी चाहिए, जिससे स्वात्मकल्याण हो।४१।

इति षडनायतनस्वरूपम्।

सम्यक्त्व के २५ दोषों में मददोषका निरूपण।

प्रश्नः—भो! ज्ञानं प्राप्य किं कार्यं वद मे सिद्धये गुरो।

हे गुरु! ज्ञान प्राप्त करके स्वात्मसिद्धि के लिए और क्या कर्त्तव्य है ? कहिए—

(वसन्ततिलका)

विज्ञानदानत इतीह भवेद्विवेक-
स्तद्बोधतो निजपदे स्थितिरेव ते स्यात्।
ज्ञानादिदानमपि तत्र सदैव कार्यं
कार्यो मदो भयकरो भवदो न बद्ध्वा।।४२।।

विज्ञानदानत इत्यादिः— सुगमम्। भावस्त्वयम्-ज्ञानं तु स्वात्मधनम्। तल्लक्षणो जीवः। जीवमात्रे केवलज्ञानशक्तिर्विद्यते। ज्ञानावरणादिकर्मपराभूतत्वादेव मन्दज्ञानिनो दृश्यन्ते जीवाः, स्वस्वज्ञानावरणक्षयोपमविजृंभितज्ञानमात्राराधकास्सन्ति ते। स्वात्मावबोधकृतां विवेकिनां न कदापि ज्ञानादीनामहङ्कारो भवति। विज्ञानदानतस्तु तेषां विवेक एवोपजायते, विवेकस्तु तेषां स्वात्मपदे एव स्थितिर्भवति न तु मदादिषु दुर्गुणेषु। मदादयस्तु स्वात्मविकारास्सन्ति। प्राणिमात्रे यदापूर्णज्ञानशक्तिर्विद्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति जिनागमतो निश्चिन्वन्तस्तु सम्यग्दृष्टयः कथं मदयुक्ताः स्युः। हीनाधिकगुणेष्वेव मात्सर्यमदादीनां संभावना भवति न तु समगुणेषु प्राणिषु तत्संभावना जायते। जिनागमश्रद्धया विरहिता मिथ्यादृष्टयः हीनाधिकज्ञानं प्राप्नुवन्तः मदं कुर्वन्ति। विशिष्टज्ञानिभिः सदा ज्ञानदानं कार्यम्। दानतस्तु ज्ञानंस्य वृद्धिरेव भवति न कदापि हानिः स्यात् । दानाभावे तु विद्या लुप्यते, तस्माद् विद्यादानं स्वोपकार एव न परोपकारः। मत्तानां तु ज्ञानादिगुणः सदोषो भवति। सदोषस्तु संसारे परिभ्रामयति, दुःखञ्चोत्पादयति इति बुद्ध्या भवदो भवकरो मदः न कदाचिदपि कार्यः।४२।

ज्ञान आत्मा का लक्षण है। प्रत्येक जीव में केवल ज्ञान शक्ति है। संसार दशा में वह ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्म द्वारा लुप्त सा हो रहा है, अतः जिन जीवों को कर्म का जितना क्षयोपशम प्राप्त है उतना ही ज्ञान खुला हुआ है। कर्म का नाश करने पर पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है। जिनागम के श्रद्धानवाले सम्यग्दृष्टि जीवों को उक्त प्रकार का पूर्ण निश्चय रहता है, इसलिए स्वात्मबोध प्राप्त उन विवेकी पुरुषों को ज्ञानादि जन्य अहंकार नहीं उत्पन्न होता। उनकी बुद्धि दूसरों को ज्ञान दान देने की ओर ही प्रेरणा करती है। ज्ञान दान से विवेक उत्पन्न होता है और विवेक से वे स्वात्मपद में ही रमण करते हैं। मदादि या मात्सर्यादि दुर्गुणों में उनकी प्रवृत्ति नहीं जाती है।

यदि ज्ञानादि में हीनाधिकता हो तो मदादि उत्पन्न हों। जब सम्यग्दृष्टि जीवमात्र के परिपूर्ण ज्ञानरूपी धन है, ज्ञान जीव की सम्पत्ति है ऐसा दृढ़ निश्चय रखता है तो ईर्ष्या मात्सर्य और मद उत्पन्न होने का अवसर ही कहाँ है? यदि इतने पर भी जिनको मद उत्पन्न होता है तो समझना चाहिए कि उनको सम्यग्दर्शन नहीं है, जिनोदित तत्त्व पर श्रद्धा नहीं है। सभी जीव अपने को ज्ञानी और अन्य को अज्ञानी मानकर ज्ञान का गर्व करते हैं, क्योंकि कर्म के क्षयोपशम के अनुसार सांसारिक अवस्था में ज्ञान गुण की व्यक्ति में हीनाधिकता पाई जाती है। अतः अविवेकी मिथ्यादृष्टि मद करता है, विवेकी सम्यग्दृष्टि नहीं करता।

विवेकी सोचता है कि ज्ञानदान से ज्ञान की वृद्धि होती है। कदापि हानि नहीं होती। दान के अभाव में विद्या लुप्त हो जाती है, इसलिए विद्या देना परोपकार नहीं, स्वोपकार है। स्वोपकार करते हुए यदि परोपकार हो जाय तो इसमें अहंकार के लिए स्थान ही कहाँ है। फिर भी मिथ्यादृष्टि व्यर्थ ही अहंकार करते हैं। अहंकार ज्ञानादि गुणों का दूषण है। दूषण संसार परिभ्रमण का कारण है। संसार परिभ्रमण जन्म जरा रोगाक्रान्त होने से दुःखरूप है। इसलिए भयंकर संसार दुःखवर्द्धक ज्ञान का मद कदापि नहीं करना चाहिए।४२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः—किं पूजामदचिह्नं मे वदास्ति शान्तये गुरो!

हे गुरु! आठ मदों में पूजा का मद क्या वस्तु है? कृपया मेरे प्रश्न का समाधान कीजिए—

(वसन्ततिलका)

पूजादिदानकरणात् सुगुरोः प्रभोः स्यात्
पूजा सदा निजमतिर्विमलाऽपि कीर्त्तिः।
स्वानन्दशुद्धहृदयश्च कृतीति बुद्ध्वा
पूजामदं कुभवदं न करोति विज्ञः।।४३।।

पूजादिदानकरणादित्यादिः— पूजया तत्र आहारादिचतुर्विधदानेन च दातुरेव लोके पूजा भवति। सर्वत्र तस्य विमला कीर्तिर्भवति। निजमतिः तस्य मतिरपि सदा विमला निर्दोषा भवति। अतएव एवं विभावयेत् यत् पूज्यानां गुरुपादानां पूजया एव मम कल्याण स्यात्। सुगुरोः महानुपकारोऽस्ति यत् स मां कुमार्गात् परावृत्य सुमार्गे नियोजयति। सुमार्गचलनादेव स्वानन्दशुद्धहृदयः स्वानन्दरूपः शुद्धहृदयः कृती च भवामि। इति बुद्ध्या स विज्ञः कुभवदं संसारार्णवकारणभूतं पूजामदं कदाचिदपि न करोति ।४३।

सम्यक् वीतरागी, निर्मोही, विषयसंगविरक्त, सच्चे साधु की सेवा-विनय-पूजा तथा उनकी आहारादि दान से शुश्रुषा आदि से लोक में दाता की ही प्रतिष्ठा बढ़ती है। उसकी लोक में कीर्ति होती है तथा पवित्र भावनावाले साधुओं की सेवा से उसकी भावना भी पवित्र होती है। वह विचार करता है कि यदि संसार में मेरी कीर्ति हैं, प्रतिष्ठा है तो यह कोई अभिमान करने की बात नहीं है। सुगुरु सेवा करनेवाले दाता धर्माताओं की प्रशंसा सर्वत्र होती है। यह तो सुगुरु का मुझ पर महान् उपकार है जो मुझ जैसे अनादिकाल से भूले हुए पाथिक को दुख के गर्त्त से निकालकर कल्याण के सिंहासन पर बैठाया है। यदि मैं सुमार्ग पर चलने लगा तो इसमें घमंड करने योग्य क्या बात है। मैं कुमार्गगामी था अतः निन्दा का पात्र था, अब सुगुरु कृपा से निन्दा का पात्र नहीं रहा सो यह तो मेरा महान् उपकार हुआ। अब मैं व्यर्थ का घमण्ड कर क्यों नरकादि कुगति का पात्र बनूँ। इस तरह के विचारों से वह बुद्धिमान् अपनी प्रतिष्ठा का मद नहीं करता और समभाव रहकर अपना कल्याण करता है।४३।

प्रश्नः— उच्चकुलमदस्यास्ति किं चिह्नं? मे गुरो वद।

अहं कुलवानस्मि इति कुलमदस्य किं लक्षणमस्ति इति हे गुरो मे कथय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे पूज्य गुरुदेव! "कुलमद" क्या वस्तु है, उसके क्या चिह्न हैं? यह मुझे स्पष्ट बताइए –

(अनुष्टुप्)

भवेदुच्चकुले जन्म दानपूजादिपुण्यतः।
ज्ञात्वेति दानपूजादि कार्यमुच्चकुले यतः ।।४४।।
उच्चकुलमदः त्याज्यः कार्यं नोन्मत्तचेष्टितम् ।
वन्द्यः सर्वज्ञसन्देशस्तथा स्थाप्यो जनैर्हृदि ।।४५।।

भवेदित्यादिः– दानपूजादिपुण्यतः सत्पात्रेषु दानतः पूज्यानां पूजया च प्राणिनामुच्चकुले जन्म भवति इति ज्ञात्वा यतः उच्चकुले जन्म अस्ति अतः दानपूजादि नियमतः कार्यम् । यदि पूर्वजन्मकृतसत्पुण्येन भवतां उच्चकुले जन्म जातं चेत्र कुलमदः कर्त्तव्य इति यावत्। नास्त्यत्र कश्चित् एतज्जन्मप्रयासः। पूर्वपुण्यानुसारेणैव उच्चकुलेषु जन्म जातः, अत उच्चकुलमदः त्याज्यः। तथापि तत्करणं उन्मत्तचेष्टितं स्यात् । तच्च न कार्यम् । यतः सर्वज्ञसन्देशः भगवतो महावीरतीर्थंकरस्य सन्देशः वन्द्यस्तथा स्वहृदि जनैः स्थापनीयश्च ।४४।४५।

उत्तम पात्र मुनि आदि को चतुर्विध दान देना तथा उनकी योग्यरीति से पूजा, विनय, सेवा और शुश्रूषा आदि करने से पुण्य का उत्पादन होता है और इस पुण्योदय से जीव का उच्चलोक प्रतिष्ठित सदाचारी माननीय कुल में जन्म होता है। यह कुलीनता पूर्व पुण्य का ही फल है। इस जन्म का कोई प्रयत्न नहीं है। तब उच्च कुल में जन्म पाने का अभिमान कैसा। तो भी यदि कोई मूढ कुल का अभिमान करे तो यह उसकी उन्मत जैसी चेष्टा है। पागलों का प्रलाप है। इससे उसकी प्रतिष्ठा घटती ही है। अतः इस चेष्टा को परित्याग कर परम पूज्य वन्दनीय सर्वज्ञ परमात्मा अर्हन्त देव का हितकर सन्देश अपने अपने हृदयों में स्थापित करना चाहिए, क्योंकि जिनोपदेश ही हमें दुःख के मार्ग से विमुख कर सुख के स्थान में पहुँचाएगा।४४।४५।

प्रश्नः–धिक्कं जातिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो!

हे गुरो! जातिमदस्य किं लक्षणमस्ति इति तन्निराकरणसिद्धये मे कथय।

हे दयालो! जातिमद के निराकरण की सिद्धि के लिए कृपाकर जातिमद के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए–

(अनुष्टुप्)

देवशास्त्रगुरूणां ये सेवां कुर्वन्ति भक्तितः ।
लभन्ते श्रेष्ठजातिं ते सखं कौ मान्यतामपि ।।४६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात्वा जातिमदो नेति कार्यो मर्मविदारकः ।
श्रेष्ठजात्यां यतो जन्म स्यात्ते स्वर्मोक्षदा मतिः।।४७।।युग्मम् ।।

देवशास्त्रगुरूणामित्यादिः— सुगमम् । तात्पर्यमेतत्त्-मातृपक्षस्तु जातिः, पितृपक्षः कुलमिति निर्णयात् स्वमातुलस्य तत्सम्बंधात् तत्कुलस्य श्रेष्ठतायाः धनवत्तायाः विद्वत्तायाः प्रतिष्ठायाः बलवत्तायाः मदं न कुर्यात् । श्रेष्ठजातिषु तेषां प्राणिनां जन्म स्वत एव भवति ये भक्तितः सद्देवशास्त्रगुरूणां यथोचितां सेवां सविनयं कुर्वन्ति। लोके तेषां प्रतिष्ठापि संजायते। स्वजातेरूच्चतायाः मदेन तदहंकारेण लोकऽप्रतिष्ठा भवति हीनजातिषु जन्म च भवति। इति ज्ञात्वा अन्येषां मर्मच्छेदकानि जातिमदसूचकानि वचनानि न वक्तव्यानि। यदि एवं स्यात्तर्हि ते जन्मापि श्रेष्ठजात्यां स्यात् तथा स्वर्गेषु परम्परया मोक्षे च समुत्पादका बुद्धिस्ते स्यादेव नात्र संशयः।४६।४७।

मातृपक्ष यदि विशुद्ध हो तो वह विशुद्ध जातिवाला मनुष्य है और यदि मातृपक्ष अविशुद्ध है तो वह जातिहीन है। मातृपक्ष की उच्चता का, उसकी धनवत्ता, बलवत्ता, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान करना ही जाति सम्बन्धी मद है। उच्च जातिवाला होने पर भी मनुष्य को उस उच्चता का अहंकार न करना चाहिए। उच्च कुल या उच्च जाति में जन्म उन महापुरुषों को स्वतः प्राप्त होता है जो सद्देव, सद्धर्म तथा सद्गुरु की भक्ति और विनयपूर्वक यथोचित सेवा करते हैं। ऐसे सदाचारी जातिविशुद्ध पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे मर्मघातक वचन किसी से न कहे जिन वचनों से उसका जात्यभिमान प्रकट हो। अभिमानी पुरुष सदा पर का पराभव करता है और उससे ही दूसरे पुरुषों को मानसिक भयंकर दुःख होता है। इसलिए अभिमानी पुरुष हिंसक हो जाता है।

अभिमानी पुरुष को संसार के दूसरे मनुष्य उच्च न मानकर नीचा ही मानते हैं भले ही वह उच्च कुल या जाति का हो। अतः उच्चजाति का होकर भी वह लोक व्यवहार में जनता की निगाह में नीचा माना जाता है। इससे संक्लेश परिणामों में वृद्धि होती है और संक्लेश परिणाम पापबंधन का हेतु है तथा पाप से कुगति परिभ्रमण, करना होता है। अतः जो भव्य पुरुष स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को भी प्रदान करनेवाली धर्मबुद्धि को उत्पन्न करना चाहता है उसे चाहिए कि भूल कर भी जातिसम्बन्धी अहंकार न करे और न दूसरों को पराभूत करने का प्रयत्न करे। हीनजाति के मनुष्यों के साथ भी सद्व्यवहार रखे। उन्हें हीन समझकर उनका अनादर न करे। उनके सुधार के लिए केवल सदाचार का उपदेश करे। ऐसा करने वाले व्यक्तियों का ही श्रेष्ठ जाति में जन्म होता है। मद करनेवाले का जन्म तो नीच जाति में ही होता है।४६।४७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः—चिह्नं बलमदस्यास्ति ब्रूहि मे शान्तये गुरो।

हे गुरो! बलमदस्य कानि चिह्नानि इति मे शान्तिलाभाय कथय।

हे श्रेष्ठ! बल का मद कैसा होता है उसका क्या फल है, मुझे शान्तिलाभार्थ उसका स्वरूप प्रतिपादन कीजिए—

(वसन्ततिलका)

दीनात्परक्षणत एव सुपुण्यतोऽपि,
स्वर्मोक्षसाधकतमं लभते बलं ना।
ज्ञात्वेति दीनजनरक्षणमेव कार्यं
दुःखप्रदो बलमदो न कदापि कार्यः।।४८।।

दीनात्मेत्यादिः— लोके बलवतामुपयोगिता दीनातिरक्षणे एव मन्यते जनैः। तदुत्तमकार्यकरणादेव सुपुण्यतः समुत्पन्नपुण्यतः ना पुरुषः स्वर्गमोक्षसाधकं बलं लभते। इति ज्ञात्वा दीनजनरक्षणं दीनाश्च ते जनाश्च तेषां रक्षणं विपत्तिदूरीकरणं रूग्णावस्थायां शारीरिकसेवाकरणं अन्यैर्बलवद्भिः पीडिते सति तत्साहाय्यकरणमेव कार्यम् । अहं बलवानस्मि को नाम मत्समक्षे स्थातुं समर्थोस्ति ? अन्यैस्तु निर्बलैर्मत्सेवैव करणीया अन्यथा तेषां विनाश एव समुपस्थितो भविष्यति इति बलमदेन अन्यतिरस्करणं न्यायातिक्रमेण तेषामधिकारहापनं दुःखप्रदमस्ति इति ज्ञात्वा कदापि बलमदो न कार्यः।४८।

बलवान् पुरुषों के बल की उपयोगिता दीन, निर्बल और त्रस्त लोगों के रक्षण में ही संसार में मानी जाती है। इस परमोत्तम कार्य के द्वारा उत्पन्न श्रेष्ठ पुण्य के द्वारा ही उत्तम गति के साधन प्राप्त होते हैं और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह सामान्य कर्त्तव्य है कि अपनी शक्ति का उपयोग सदा उन प्राणियों के रक्षण में करे जिनका जीवन ही एक मात्र धन है। उनकी विपत्तियों का दूर करना, रूग्णावस्था में उनकी शारीरिक सेवा करना, दूसरे बलवानों के द्वारा सताए जानेवाले निर्बलों की सहायता करना इत्यादि अनेक सदुपायों से उनकी रक्षा करनी चाहिए।

मैं बलवान् हूँ, मेरे सामने कौन ठहर सकता है, निर्बलों को मेरी सेवा करनी होगी, नहीं तो वे तकलीफ में डाल दिए जाँयगे। उनका विनाश कर दूँगा। इत्यादि कुभावों के द्वारा अपनी शक्ति का अनुचित अहंकार कर दूसरों का तिरस्कार करना, न्याय मार्ग का उल्लंघन कर उनके अधिकार छीनना, उनपर अपनी सत्ता जमाना, अपना प्रभुत्व स्थापन करना, यह सब "बलमद" है। बलमदवाला पुरुष अन्याय के मार्ग पर जाता है, हिंसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है, पराया धन हड़प जाता है, मिथ्या भाषण द्वारा स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों पर झूठा दोषारोपण करता है, पराई बहू-बेटियों पर खोटी निगाह करता है और अपने घमण्ड में चूर होकर तरह-तरह के अन्याय करते हुए भी नहीं डरता।

उसकी ये सब बातें उसे पारमार्थिक हानि तो पहुँचाती ही हैं पर लौकिक हानि भी पहुँचाती हैं। वह लोक में निंद्य होता है, पापी गिना जाता है, आततायी और अत्याचारी माना जाता है, सभी लोग उसके पराभव की कांक्षा करते हैं और उसके पराभूत होने पर आनंद मानते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अनिष्टकारक महान् दुःखदायी इस "शक्तिमद" को कभी पास न आने दे। 'शक्ति' की प्राप्ति को दीनों के उद्धार में व व्रत संयम के पालन में लगावे, जिससे कि उसका इस लोक और परलोक में कल्याण हो।४८।

प्रश्नः—चिह्नमृद्धिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो।
धनमदस्य यच्चिह्नमस्ति तत् मे कार्यसिद्ध्यर्थं हे गुरो! कथय।
धन का मद क्या है, यह हे गुरो! मेरे कार्य की सिद्धि के लिए कृपया कहें—

(वसन्ततिलका)

ऋद्धिः सुविस्मयकरी व्रतदानधर्माज्
ज्ञात्वेति शान्तिसुखदा भवतीह भव्य।
ऋद्धेर्विहाय कुमदं व्रतदानधर्मं
भक्त्या सदा कुरु यतश्च तवेष्टसिद्धिः।।४९।।

ऋद्धीत्यादिः— हे भव्य! इह लोके व्रतदानधर्मात् व्रतानाम्परिपालनात् सुपात्रदानात् दयादाक्षिण्यादिधर्मादेव सुविस्मयकरी लोकविस्मयकरी शांतिसुखदा शान्तिप्रदा सुखप्रदा च ऋद्धिः धनादिवैभवं भवति संप्राप्यते। इति ज्ञात्वा ऋद्धेः कुमदं कुत्सितो मदः कुमदः, यथा-ऐश्वर्यमत्तानां पुरुषाणां विचित्रा स्थितिर्भवति, न ते गणयन्ति देवशास्त्रगुरूनपि, तेषामपि निरादरस्तैः क्रियते का कथान्येषाम्। अहमेव देवस्थानरक्षकोऽस्मि, मम गृहे यदि धनमस्ति तर्हि अनेके देवालयाः अनेकाश्च देवमूर्त्तयो निर्मापिता भविष्यन्ति, यद्यविनयादरक्षणाच्च शास्त्राणि कृमिकीटैर्भक्षितानि तर्हि का नो हानिः? अन्यान्यपि धनप्रदानेन विद्वद्भिः लेखकैश्च लेख्यानि भविष्यन्ति, मुनिसंघस्याहमेव संचालकोऽस्मि, धनाभावे कीदृशी गतिः स्याद् मुनीनाम्, सर्वोऽपि धर्मो मदधीन एव, मम दानादेव जिनालयेषु जिनपूजा भवति, अनेके विद्वांसः पठनं पाठनं च कुर्वन्ति, रुग्णाः दीनजनाः औषधानि प्राप्नुवन्ति चतुर्विधसंघस्य आहारादिकं संपद्यते। इत्यादि प्रकारेण धनमदः हिंसादिपञ्चमहापातकानामपि कारको ऋद्धिमद एव, सोऽभिमानी स्वधनबलेन महाहिंसामपि गोपयति। महदप्यसत्यं सत्ये समारोपयति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विविधप्रकारादानप्रदानजालेषु दीनान् धनहीनान् पाशयित्वा कुसीदेन कुसीदस्यापि कुसीदेन च तान् निर्धनीकरोति। चौरयित्वा स्वबलेन अन्यधनं महाजनः स्वात्मानं लोके साधुकारत्वेन ज्ञापयति। परवनितादिकमपि धनबलादाहृत्य शीलवानस्मि इति ज्ञापयति। न किञ्चित् गरीयः पापमस्ति यत्तेन न क्रियते। तस्मात् सर्वप्रकारेण तं (ऋद्धेः कुमदम्) विहाय भक्त्या व्रतदानधर्मसम्यग्व्रतानां परिपालनं जिनपूजाकरणं शास्त्रसेवाकरणं ज्ञानार्जनं गुरुपादसेवाकरणं सुपात्रेषु दानं कुरु। यतः यत्करणादेव तव इष्टसिद्धिः स्वात्मकल्याणं भवति इति विज्ञेयम् ।४९।

हे भव्य पुरुषों! व्रत पालन, सुपात्रदान, दया और उदारता आदि गुणों के द्वारा ही जीवन में शान्ति और सुख की दाता सामग्री प्राप्त होती है। केवल व्यापारादि के उद्योग या पुरुषार्थ से धनादि की प्राप्ति नहीं होती। इस निश्चित सत्य को जो लोग नहीं जानते ऐसे मूर्ख ही अपने वैभव का अभिमान करते हैं।

ऐश्वर्य से उन्मत्त पुरुषों की स्थिति बहुत विचित्र होती है। वे देव, शास्त्र और गुरु जैसे परम उद्धारकों की भी अवहेलना करते हैं। जब वे परम हितकारक देव, शास्त्र और गुरु की भी अवहेलना करते है तब अन्य पुरुषों की क्या कथा कहनी है। धनोन्मत्त पुरुष ऐसा मानता है कि मैं मन्दिरों का निर्माता हूँ, मैं देव स्थानों का व तीर्थस्थानों का रक्षक हूँ। यदि मेरे पास धन है तो बहुत से मन्दिर और बहुत-सी मूर्तियाँ बन सकती हैं। मन्दिरों की पूजा-प्रतिष्ठा, रथयात्रा महाभिषेक आदि सम्पूर्ण सत्कार्य करना मेरे बाएँ हाथ का खेल है।

शास्त्र भण्डारों में यदि चूहे घुसते हैं, यदि कृमि-कीट आदि शास्त्रों को नष्ट करते हैं तो हानि क्या है? और लिखा लिये जायँगे। धन पाने पर बहुत से पंडित और लेखक अनेक शास्त्र रचकर तैयार कर रख देंगे। मैं मुनिसंघों का संचालक हूँ। यदि मैं धन न खर्च करूँ तो मुनियों की क्या दशा होगी? मेरे धन से ही बड़े-बड़े विद्यालय विश्वविद्यालय चल रहे हैं। पैसे के लिए ही तो बड़े-बड़े विद्वान् पठन-पाठनं करते हैं।

इस प्रकार धन या वैभव तथा अधिकार का अभिमान मनुष्य को धरती पर पैर नहीं रखने देता। वह चाहता है कि मैं सबके ऊपर चलूँ। वह समझता है कि सारा संसार मेरा मुँह देखता है। सबकी दृष्टि चाहे वह गृहस्थ हो व साधु, दीन हो या श्रीमान्, बलवान् हो या निर्बल, पंडित हो या मूर्ख, उद्योगी हो या निरुद्योगी, राजा हो या रंक, पापी हो या धर्मात्मा, मेरे धन की ओर है। मैं इन सबसे बड़ा हूँ। सब मेरा मान करते हैं। मेरा निरादर कोई नहीं कर सकता। मेरा निरादर करनेवालों की खैरियत नहीं है। उसका जीवन दुष्कर हो जायगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐश्वर्यमत्त व्यक्ति पांच महापातकों से भी नहीं डरता। वह महान् से महान् हिंसा, स्त्रीघात, बालघात, पुरुषघात, प्रतिघात तथा मुनिघात जैसी हिंसा को भी धन के बल से छिपा लेता है। बड़े-बड़े असत्य को भी सत्य स्थापित कर देता है। अनेक प्रकार के लेन-देन के जालों में दीन दुर्बल मनुष्यरूपी मछलियों को फांस कर ब्याज और महाब्याज से उन्हें निर्धन बनाकर उनका सर्वस्व हरण कर लेता है। कर-बल-छल से अन्य जनों का धनापहरण कर स्वयं महाजन और साहूकार अपने को प्रकट करता है। धन के बलपर दूसरों की कन्याओं का या वनिताओं का अपहरण कर उनका शील नष्ट करके भी स्वयं शीलवान् बनकर समाज में प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयत्न करता है। संसार में ऐसा कोई महान् से महान् पातक नहीं जिसे धनमत्त पुरुष न कर सकता हो। यदि अन्य पाप मात्र पाप है तो धनमत्तता पापों का पिता है, पापों की खनि है, पापों की जननी है।

अतः सब प्रकार के प्रयत्नों से अनर्थोत्पादक अहित कारक इस मद का त्यागकर धन का सदुपयोग भक्ति सहित विनयसहित जिनपूजा में लगाना शास्त्रों का उद्धार करना सुपात्रों को दान देना ज्ञानार्जन के कार्य में लगाना रोगियों की सेवा में खर्च करना ही परम श्रेयस्कर है और इससे ही धनप्राप्ति की सफलता है। ऐसा करनेवाला निरहंकारी पुरुष ही स्वात्मकल्याण कर सकता है यह जानना चाहिए।४९।

प्रश्नः—शरीरमदचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।
किं तत् शरीरमदचिह्नमस्ति? हे गुरो कृपया ब्रूहि।
हे गुरो! शरीरमद का क्या स्वरूप है? कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

अन्नौषधादिसुखहेतुविशेषदानाद्
देहं व्रतादिकरणे लभते समर्थम्।
ज्ञात्वेति कायकुमदो भवदो न कार्यः
स्वात्मान्यशुद्धिकरणे सततं स योज्यः।।५०।।

अन्नौषधादित्यादि— संसारपरिभ्रमणरूपासु चतुर्गतिषु मध्ये मानवदेह एव संयमयोग्य इति कथयन्त्याचार्याः। अन्नौषधादिसुखहेतुविशेषदानाद् अन्नौषधादीनां सुखहेतुः सुखकरं यद् विशेषदानं तस्मात् व्रतादिकरणे मोक्षसाधनभूतव्रतोपवासादिविधाने समर्थं देहं शरीरं लभते इति ज्ञात्वा भवदः कायकुमदः संसारपरिभ्रमणरूपदुखस्य बीजभूतः कायमदः कदापि न कार्यः। किन्तु स्वात्मान्यशुद्धिकरणे स्वात्मशुद्धये परोपकृतये च सततं स देहः योज्यः।५०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि संसार परिभ्रमणरूप चारों ही गतियों में मनुष्य देह श्रेष्ठ मानी गई है, पर वह जिस कारण से श्रेष्ठ है वह कारण है श्रेष्ठसंयम। इसकी प्राप्ति अन्य किसी भी गति में नहीं होती। तिर्यञ्चों में क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् किसी को देशसंयम होने की सम्भावना रहती है तथापि परिपूर्ण संयम कभी नहीं होता। उसे प्राप्त करने की एकमात्र सामर्थ्य मानव देह में है और वह भी उच्चकुलीन पुरुष पर्यायाश्रित देह में।

यदि मानव देह की उत्कृष्टता के उक्त कारण को छोड़कर शरीर के स्वरूपपर विचार किया जाय तो यह देह महान् अपवित्र है। जिस देह का बीज मल है अर्थात् जो पुरुष के और स्त्रियों के रजवीर्य रूपी मल से ही बनता है तथा मल को उत्पादन करना ही जिसका एकमात्र कार्य है। नवद्वार जिसके सदा मलप्रवाही हैं। उस शरीर को सुन्दर मानना ही मूर्खता है; फिर सुन्दर मानकर उसका घमण्ड करना तो महान् मूढ़ता है।

मोही जन ही ऐसे घृणित शरीर को सुन्दर मानते तथा उसमें रमण करते हैं। विवेकी पुरुष उसमें कभी रमण नहीं करते। मिथ्यात्व के उदय से ही जीव हाड़ मांस चर्बी रक्त पीप आदि महान् दुर्गन्धित और अस्पृश्य पदार्थों के योग से बने इस शरीर को सजाते हैं और उसे सुन्दर मानते हैं। उसके लिए अच्छे-अच्छे पदार्थों की उपमा देकर अपने ज्ञाता हृदय को भी धोखा देकर अपना अकल्याण करते हैं।

सम्यग्दृष्टि पुरुष जिनके हृदय से भ्रम दूर हो गया है वे वस्तु के ठीक-ठीक स्वरूप को जानते हैं। वे कभी भ्रम में नहीं पड़ते, वे झूठी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के जाल में पड़कर अपना वस्तुतत्त्व का ज्ञान गंदला नहीं करते। जब कि वे शरीर के वास्तविक रूप का ज्ञान रखते हैं तब ऐसी स्थिति में वे शरीर का मद भी कभी नहीं करते। वे जानते हैं कि यह मद संसार परिभ्रमण का मूल है। वे शरीर की उपयोगिता संयम के परिपालन में मानकर संयमधारण करते हैं। तपस्या के द्वारा इन्द्रिय विषय और कषायों का निग्रह कर वे आत्मशुद्धि के मार्ग में बढ़ते हैं तथा इस प्रकार स्वपरोपकार करते हुए अपना काल-यापन करते हैं। यह कर्त्तव्य प्रत्येक मानव के लिए अनुकरणीय है।५०।

प्रश्नः—किं लक्षणं वद गुरो च तपोमदस्य।
हे गुरो! तपोमदस्य किं चिह्नमस्ति? कथय।
हे गुरो! तपमद कैसा होता है उसका क्या चिह्न है? कृपा कर कहें—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(उपजातिः)

इच्छानिरोधस्तपसः सुचिह्नं
ज्ञात्वेति चोक्तं सुखदं सुशान्त्यै।
मोक्षस्य चेच्छापि भवस्य बन्धो
वद प्रभो! चान्यकथास्ति का कौ।।५१।।

इच्छानिरोध इत्यादिः— संसारपरिभ्रमणदुःखवारणाय तपः कुर्वन्ति तपस्विनः। इच्छानिरोधः पञ्चेन्द्रियाणां विषयेषु स्वेच्छाया रोधनमेव तपसः चिह्नं लक्षणमस्ति इति ज्ञात्वा सुशान्त्यै संसारदुःखशान्त्यर्थं तपः सुखदं उक्तम्। एवं सत्यपि "वयं तपस्विनः स्मः, को नाम वर्तते एवं दुष्करं तपः कर्तुं समर्थो मदन्यः" इत्येवंप्रकारेण तपसो मदो न कार्यः। इच्छा एव दुःखं वर्त्तते। इच्छारहितानां तु दुःखस्य मात्रापि न स्यात्। संसारमार्गेऽपि दृश्यते यत् अल्पेच्छावान् पुरुषः स्वेच्छां स्वल्पप्रयत्नेन साधयति सुखी च भवति। नैकेच्छावतां पुरुषाणां तु नैकविधप्रयत्नेनापि नेच्छाशान्तिर्भवति अतः स न स्वल्पयत्नेन सुखी भवति। अतएव सिद्धमेतत् यत् इच्छाया उत्पत्तिः एव दुःखोत्पत्तिः कौ पृथिव्यां अन्यकथा कास्ति दूरमास्ताम्, मोक्षस्यापि इच्छा भवस्य बन्धो बन्धहेतुः। अत इच्छानिरोधः कार्यः इति तात्पर्यम्।५१।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा को स्वेच्छा से रोकना यह तप का सामान्य लक्षण है। संसार परिभ्रमण के गहन दुःखों से छूटने की अभिलाषा से तपस्वी पुरुष तप की आराधना करते हैं। उक्त अभिप्राय की पूर्ति के लिए तप करना श्रेयस्कर है। ऐसे तपस्वियों में अनेक ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें अपने द्वारा की जानेवाली उग्र तपस्या का गर्व उत्पन्न हो जाता है। वे यह कहने लगते हैं कि-हम तपस्वी हैं मेरे जैसा दुष्कर तप करने में मेरे सिवाय और कौन समर्थ है। किन्तु इस प्रकार का तपस्या का मद कभी नहीं करना चाहिए।

इच्छामात्र ही दुःख है। जो इच्छा रहित हैं उनके दुःख का लेश भी नहीं है। यह बात संसार प्रसिद्ध है कि अल्प इच्छावाला पुरुष स्वल्प प्रयत्न से अपनी इच्छा की पूर्ति करके सुखी हो जाता है और अनेक इच्छाओं वाला व्यक्ति अनेक प्रयत्नों से भी अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर पाता और दुःखी होता है। वह अपना शान्तिमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। इससे यह सिद्ध है कि इच्छा का उत्पन्न होना दुःख का ही उत्पन्न होना है।

मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा यद्यपि प्रशस्त इच्छा है। उसका अर्थ संसार के विषय भोगों की इच्छा से विमुक्त होना ही है, तथापि जब तक अन्य इच्छाओं के निरोध की तरह मोक्ष की भी अभिलाषा का निरोधकर एकमात्र दृष्टि आत्मविशुद्धि की ओर नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाती तब तक मोक्ष भी दूर है। मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो वह मुझे कब मिले ऐसी चिन्ता करने वाला अपना समय व्यर्थ ही चिन्ता में खोता है। चिन्ता करने से कोई वस्तु नहीं मिलती, उसके लिए किए जानेवाले प्रयत्न में संलग्न होने से ही उक्त उद्देश्य की पूर्ति होती है। कर्तव्यविमूढ़ केवल चिन्ता में संलग्न तपस्वी अनेक वर्षों की तपस्या करने पर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता है। जब मोक्षाभिलाषा ही मोक्ष प्राप्ति में बाधक है तब अन्य पदार्थों की अभिलाषाएँ कितनी अधिक बाधक होंगी यह सहज ही समझ में आ जाता है।

सारांश यह कि मोक्षाभिलाषी को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाए गए प्रयत्नों में ही संलग्न रहना चाहिए। कर्तव्यशील व्यक्ति ही स्वोद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। कर्त्तव्य रहित चिन्तामात्र करनेवाला चिन्ताशील व्यक्ति केवल चिन्ता का पात्र होता है और अल्प प्रयत्नों को बड़ा प्रयत्न माननेवाला अथवा महान् प्रयत्न को भी अपने गर्व की वस्तु माननेवाला व्यक्ति पथ से च्युत हो जाता है और वह कभी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं होता। अतः तपस्या का भी मद करना हेय है।५१।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

मिथः क्लेशकरं प्रोक्तं हीत्यष्टमदलक्षणम् ।
ज्ञात्वेति तान् मदांस्त्यक्त्वा भवेयुर्निर्मदाः सदा ।।५२।।

मिथ इत्यादिः— इति एवंप्रकारेण मिथः क्लेशकरं अष्टमदलक्षणं प्रोक्तम् । अष्टावाश्रित्य गर्वकरणं अष्टानां इति स्वरूपं ज्ञात्वा मदान् त्यक्त्वा सदा निर्मदा भवेयुः।५२।

ऊपर कहे हुए परस्पर क्लेशकर आठों मदों का स्वरूप भली भाँति समझ कर धर्मात्मा पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे इनसे अपने को सदा दूर रखें और किसी भी प्रकार का मद न करें। अभिमानी स्वल्पोन्नति में संतोषी हो जाता और अपने अल्प गुणों को भी महान् गुण मान बैठता है। उसके इस भ्रम से उसकी उन्नति रुक जाती है। वह अपनी उन्नति का स्वयं बाधक बन जाता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष का मूल है। किन्तु इन मदों से उसकी जड़ पर ही कुठाराघात होता है और सम्यक्त्व सदोष हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषों को इन मदों से दूर रहकर अपना सम्यक्त्व निर्मल बनाना चाहिए।५२।

इस प्रकार आठ मदों के स्वरूप का विचार किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि सप्त भय रहित होता है

प्रश्नः—इहलोकभयस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।

सप्तभयेषु सर्वप्रथमं इहलोकसंबंधिनो भयस्य स्वरूपनिरूपणार्थं पृच्छति शिष्यः।

भय सात प्रकार के होते हैं। उनका वर्णन इस प्रकरण में क्रम से किया है। इनमें से सर्वप्रथम इस लोक संबंधी भय है। इसका क्या स्वरूप है ऐसा शिष्य श्रीगुरु से प्रश्न करता है—

(अनुष्टुप्)

स्वीयाज्ञानाद्यवस्थायां यत्किञ्चिद्धि कृतं मया ।
तदेव भुज्यते काले भावो यस्येति जायते ।।५३।।
तस्येहलोकभीतिर्न जायते तत्त्ववेदिनः ।
सम्यग्दृष्टेस्तु जीवस्याऽचिन्त्योऽस्ति महिमा सदा ।।५४।।युग्मम्।।

अज्ञानादित्यादिः— सुगमम्। तात्पर्यमेतत् इहलोकसंबंधिनां जीवरक्षोपायभूतानां पदार्थानां अर्जनं तेषां सञ्चयञ्च कुर्वन्ति जनाः। एतत्कृते प्रयत्ने कृते सति यदि पौरुषं विफलं स्यात् तदा नानाचिन्ताभिर्भीतास्ते निरुत्साहाः म्लानाश्च भवन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु जानाति यत् सर्वमेतत् मम कर्मफलमस्ति। निजार्जितं कर्म विहाय कश्चिदपि मे हानिं वृद्धिं वा कर्तुमसमर्थोऽस्ति। यत् किल स्वाज्ञानावस्थायां मयापराधः कृतः तत्फलमेव भुज्यते मयाऽधुना। एवंविचारयतस्तस्य स्वल्पमपि भयोत्पादनं न भवति। तत्त्वस्वरूपबोधकस्य तस्य महान् महिमा अस्ति।५३।५४।

लोक में अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिए अनेक पदार्थों का अर्जन और सञ्चय तथा उनका रक्षण लोग करते हैं। उनके प्रयत्न करने में कदाचित् पौरुष विफल हो जाय तो अनेक चिन्ताएँ उन्हें आ घेरती हैं और वे जीवन रक्षा के अभाव से भयभीत हो उत्साह रहित होकर म्लानचित्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्ववेदी है। वस्तु के स्वरूप का उसे परिज्ञान है। संपत्ति और विपत्ति दोनों अवस्थाओं में वह समभावी रहता है। न संपत्ति से फूल उठता है और न विपत्ति में चिन्तातुर होता है। वह जानता है कि मैने पूर्व में अच्छे या बुरे जो भी कर्म किए हैं उसके फलस्वरूप ही यह सम्पत्ति या विपत्ति है। अपने कर्मोदय के सिवाय अन्य कोई मेरी हानि या वृद्धि करने में समर्थ नहीं है। मैंने अपनी अज्ञानावस्था में जो अपराध किए हैं उनका ही कटुक फल मैं इस समय भोग रहा हूँ। इस प्रकार के तात्त्विक विचार से उसका चित्त सदा निर्भय रहता है। उसके चित्त में भय की रेखा का कभी उदय नहीं होता। यह सब उस महान् तत्त्वबोध की ही अचिन्त्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महिमा है कि जिससे वह सम्यग्दृष्टि विपत्ति में भी सुखी और निर्भय तथा साहसी बना रहता है।५३।५४।

प्रश्नः—परलोकभयस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरो! सप्तभयेषु परलोकसंबंधिनो भयस्य किं स्वरूपमस्ति इति मे कथय।

हे गुरुदेव ! सात भयों में दूसरा परलोक सम्बंधी भय है उसका क्या स्वरूप है और उसका त्याग सम्यग्दृष्टि किस प्रकार करता है कृपया कहें। श्रीगुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

भवेऽस्मिन् यत् कृतं किञ्चित् परस्मिन् भोक्ष्यते मया ।
स एव तत्त्वतः श्रीदो भावो यस्येति वर्तते ।।५५।।
परलोकभयं तस्य न स्याद्विज्ञानचक्षुषः ।
शुद्धचिद्रूपमूर्त्तेः कौ ह्यगाधा महिमा मतः ।।५६।।

भवेऽस्मिन्नित्यादिः— सुगमम् । तात्पर्यमेतत्-परलोकस्य भयं न कर्त्तव्यम्। मिथ्यादृष्टयः खलु एवं विचारयन्ति यत् परलोकोऽस्ति न वा? यदि नास्ति तदा मम नाश एव स्यात् । यद्यस्ति तर्हि किं भविष्यति परत्र। कस्मिन् जन्मनि गमिष्यामि? कीदृशी तत्र दशा भविष्यति? एवं चिन्तापरम्परया सीदन्ति भीताश्च भवन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु एवं निश्चिनोति यत् तदेव प्राप्यते परत्र यदत्र जन्मनि मयारभ्यते। तत् परमपरं वा किञ्चिदपि स्यात्। इच्छामि चेत् सुखं परत्र कर्त्तव्यं तथा सुचरितं मया। नास्ति भयस्य किञ्चिदपि कारणं परलोके। परलोकस्य निर्माणमस्मदधीनं वर्तते न तु पराधीनमस्ति। तदा कथं शोच्योऽहम्? स्वाधीनोऽहं स्वभाग्यनिर्माणाय। कस्मात् तर्हि भीतिः स्यात्। शुद्धचैतन्यतत्त्वमालोकयतस्तस्य ज्ञाननेत्रस्य महान् महिमा इति।५५।५६।

मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा विचार करते हैं कि यथार्थ में परलोक है भी या नहीं। यदि नहीं हो तो मेरा नाश ही हो जायगा। यदि परलोक है तो मेरा परलोक में क्या होगा। किसी योनि में जाऊँगा, मेरी वहाँ कैसी दशा होगी? इस प्रकार की विषम चिन्ताओं से वह दुःखी तथा भयभीत होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ठीक इसके विपरीत यह निश्चय करता है कि परलोक में वह होगा जैसा हम इस लोक में करेंगे। यदि हम परलोक में सुख चाहते हैं तो हमें इस लोक में सदाचार से रहना चाहिए। परलोक में भय का कोई भी कारण नहीं है। परलोक का निर्माण हमारे ही अधीन है, पराधीन नहीं है। तब मैं क्यों व्यर्थ चिन्ता करूँ। मैं अपने भाग्य का निर्माता हूँ। फिर भय किस बात का? शुद्ध चैतन्य तत्त्व का अवलोकन करनेवाले उस ज्ञाननेत्र पुरुष की बहुत बड़ी महिमा है। वह कभी परलोक सम्बन्धी भीति को पास नहीं आने देता है।५५।५६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः—वेदनाभयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव ! वेदनाभयस्य कानि चिह्नानि सन्ति इति कथय।

हे गुरुदेव ! तृतीय वेदना भय के क्या लक्षण हैं उनका स्वरूप बताइए—

(अनुष्टुप्)

यदि पुण्यं कृतं तर्हि कथं रोगी वाम्यहम्।
भवत्येव सदा पापी रोगी दीनोऽतिचञ्चलः।।५७।।
यस्येति तत्त्वतो भावस्तस्य तत्त्वार्थवेदिनः।
न वेदनाभयं स्यात् कौ सद्दृष्टेर्महिमाऽचलः।।५८।।

यदि पुण्यमित्यादिः— सुगमम्। भावार्थस्त्वयम्—संसारे खलु जीवानां वेदनातो भवति भयम्। माभूत् कश्चिद्रोगः मम। किं करिष्यामि रोगादिसन्निपाते जलोदरादौ क्षयादिके वा समुपस्थिते। कीदृशी महती वेदना तदा भविष्यति। कथमतिमात्रया सीदन्ति रोगिणः। न तेषां किञ्चिदपि सुखं सांसारिकं वैषयिकं वा। व्यर्थमेव तेषां यौवनं जीवितञ्च। इत्येवं प्रकारेण वेदयतस्तस्य मिथ्यादृष्टेः सदा नानाभयानि क्लेशयन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु सदा निर्भयो निरहंकारो भवति। यदि पूर्वजन्मनि मया पुण्यकार्याणि कृतानि, रोगिणां दरिद्राणां विकलाङ्गानां असहायानां दीनानां सेवया तदुपयुक्तसाहाय्येन यदि मया पुण्यानि सञ्चितानि तदा न स्यात् मम शरीरे कश्चिद्रोगः। नाहं कदाचिदपि असहायी भविष्यामि। पापिनस्तु स्वकर्मविपाकवशादेव लोके रोगिणोऽतिदीनाः चञ्चलचित्ताश्च भवन्ति। यस्यैवं निश्चयो वर्तते दृढहृदयस्य तस्य विमलदृष्टेः कथं स्यात् पृथिव्यां किंचिदपि वेदनाभयम्? यथार्थतस्तु सम्यक्त्वस्य अति महिमा वर्तते येनासौ सदा निर्भयो विचरति लोके।५७।५८।

संसार में प्रायः सभी साधारण प्राणियों के मन में इस प्रकार का अनागत भय बना रहता है कि मुझे कोई रोग न हो जाय। यदि मुझे जलोदर, क्षय और संग्रहणी आदि कोई भयंकर रोग हो गया तो मैं क्या करूँगा, कैसे अपने जीवन की रक्षा करूँगा? रोग अवस्था की उस महती वेदना को कैसे सहूँगा। देखो, विचारे इन रोगों के रोगी कितने दुःखी हैं, उनका यौवन और जीवन दोनों व्यर्थ हैं। वे जीवन से निराश पाले (हिमपात) से मारे हुए वृक्षों जैसा नीरस निष्फल जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी प्रकार जीवन मुझे भी भोगना पड़ेगा। इससे तो मरण अच्छा। ऐसे विचारों के द्वारा मिथ्यादृष्टि जनों के चित्त सदा क्लेशित, मोहित और भयभीत रहते हैं।

किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा निर्भय रहता है। वह देह में ममत्व तथा अहंकार नहीं करता। वह जानता है कि यदि पूर्व जन्म में मैंने पुण्यकार्य किए हैं, रोगी, दीन, दरिद्र, अङ्गहीन और असहायों की सेवा और उनके लिए उपयुक्त उचित सहायता की है तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मैंने अवश्य अनेक पुण्यो का सञ्चय किया है। ऐसी स्थिति में मैं कभी भी रोगी, दीन और दरिद्र नहीं हो सकता और न कभी असहाय रहूँगा। पाप सञ्चय करनेवाले पुरुष ही अपने दुष्कर्म के विपाकवश रोगी, दीन और चञ्चलचित्त होते हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्र का वचन है। यदि मैंने भी पूर्वजन्म में ऐसे पाप किए हैं तो मैं भी अवश्य ही रोगी और दुखी होऊँगा, फिर भी भय कैसा? पूर्वोपार्जित कर्म के फल भोगने में दीनता कैसी? ऐसा भय कायर पुरुष करते हैं। मुझ जैसा साहसी जिन वचन के दृढ़निश्चयी पुरुष को कायर बनना शोभास्पद नहीं है। ऐसा विचार करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष के कभी भी वेदना सम्बन्धी भय नहीं होता। सम्यक्त्व की ऐसी ही महिमा है।५७।५८।

प्रश्नः—मरणभयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! मरणभयं भवति मिथ्यादृशस्तस्य स्वरूपं कथय।

हे गुरुदेव! मरण भय क्या है और मिथ्यादृष्टि के उस मरणभय के कारण क्या परिणाम होते हैं। सम्यग्दृष्टि उस भय से कैसे विमुक्त रहता है, कृपाकर समझाइए। शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर सद्गुरु उत्तर देते हैं:—

(उपजातिः)

यावत्प्रमोहो भुवि तावदेव जन्मापि मृत्युश्च भवेन्नरस्य।
वा यस्य जन्मास्ति च तस्य मृत्युः प्रियः सखा मे नववस्तुदाता ।।५९।।
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णो मृत्योर्भयं तस्य भवेन्न दुष्टम्।
चिद्रूपमूर्त्तेस्सुखशान्तिभोक्तुरहो ह्यचिन्त्यो महिमा त्रिलोके ।।६०।।
- युग्मम्।।

यावदित्यादिः— भावोऽयम् शरीरपरिग्रह एव जन्म। शरीरविनाश एव मृत्युः। शरीरं तु जीवात्मनस्सर्वथा पृथक् विभिन्नलक्षणकमस्ति। नास्ति जीवस्य जन्म मृत्युर्वा इत्येवं तत्त्वे सुनिश्चितेऽपि मिथ्यात्वोदयवशात्खलु संसारिणः प्राणिनः शरीरजन्मनि स्वजन्म तस्य विनाशे स्वविनाशं परिशीलयन्ति। एवं विपरीतबोधात्तेषां शरीरगलनादेव स्वमृत्योर्भयम् समुत्पद्यते। यथार्थतस्तु भेदविज्ञानिनः न कश्चिन्मोहः स्यात् शरीरे। स निश्चिनोति यत् वर्तमानशरीरस्य विनाशेऽपि जन्मान्तरे पुनरपि शरीरोत्पादनं भविष्यत्येव। यावत् खलु विधिपराधीनोऽहं तावत् नानाजन्ममरणसंकुले संसारे परिभ्रमणं स्यादेव। यदि जीर्णं जरया मम शरीरं तदा तु शरीरमेव मम महद्दुःखकारणमस्ति। मृत्युस्तु मम सखा वर्तते यज्जीर्णशरीरादुत्थाप्य नवशरीरं प्रवेशयति। कथं तस्मात् भयं स्यात् । इत्येवं विवेकपूर्णो भावो यस्य विद्यते तस्य शान्तमूर्तेः स्वचित्चमत्कारमात्रस्य विवेकिनः न कदापि मृत्युतो भयं भवति। ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु सर्वत्र निर्भयः। तस्य अचिन्त्यो महिमा लोकेऽस्ति।५९।६०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर का प्राप्त होना ही जन्म है और उसका विनाश ही मरण है। जीवात्मा शरीर से बिल्कुल पृथक् लक्षणवाली वस्तु है। न तो जीव का कभी जन्म होता है और न मृत्यु ही। ऐसा तत्त्व निश्चित होनेपर भी मिथ्यात्व के उदय के वश संसारी प्राणी शरीर जन्म में स्वजन्म और शरीर के विनाश में अपना विनाश मान लेते हैं। उनकी ऐसी मिथ्या मान्यता ही उनके दुःख का मूल है। इस मिथ्याभावभासना से उन्हें मृत्यु का महान् भय उपस्थित होता है।

भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष को शरीर में ऐसा कोई मोह नहीं होता। उसे यह निश्चय है कि इस जन्म में इस शरीर का नाश हो जाने पर भी इस अमर आत्मा को जन्मान्तर लेना पड़ेगा और वहाँ नवीन शरीर अवश्य प्राप्त होगा। जब तक मेरा जीव कर्म से पराधीन है तब तक ऐसी अनेक योनियों में जन्म मरण करने होंगे।

मेरा यह जरा से जीर्ण शरीर छूटता है तो छूटने दो अब तो यह महारोगों का घर दुःख का निदान है, इससे छुड़ानेवाली और नवीन शरीर प्रदान करनेवाली मृत्यु मेरे साथ मित्रता का ही कार्य कर रही है। तब मृत्युसखा से भय कैसा? ऐसा विवेकपूर्ण भाव जिस शान्तिमूर्ति विवेकी पुरुष के हो उस चैतन्य तत्त्व के दर्शी महापुरुष को मृत्यु का भय अपने सन्मार्ग से कभी विचलित नहीं कर सकता। वह तीनों लोकों में निर्भय होकर विचरता है। सम्यक्त्व की यह अचिन्त्य महिमा है।६०।

प्रश्नः—अरक्षाभयचिह्नं मे किमस्ति वद सिद्धये।

हे गुरो! अरक्षाभयस्य किं स्वरूपमस्ति तन्मे कथय यतः स्यात् मे सिद्धिः।

हे गुरो! अरक्षाभय का स्वरूप कृपाकर बताइए जिसके परित्याग से मैं आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकूँ। आचार्य उत्तर देते हैं—

(उपजातिः)

स्वात्मात्मना स्वात्मनि स्वात्मनो वा यथार्थतः कौ क्रियते स्वरक्षा ।
पुण्येन रक्षा व्यवहारदृष्ट्या पापेन कस्यापि विलोकिता न ।।६१।।
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णोऽरक्षाभयं तस्य भवेन्न चित्ते ।
निजात्मरक्षां हि निजात्मनैव प्रकुर्वतो ज्ञानदिवाकरस्य।।६२।।युग्मम्।।

स्वात्मेत्यादिः— सुगमम् । तात्पर्यमेतत् सप्तभयेषु एकमस्ति अरक्षाभयमिति। नास्ति मम रक्षकः कश्चित्, कथं मे रक्षा स्यात् इति चिन्तया नाना पापानि कुर्वन्ति मिथ्यात्वबुद्धयः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वशरीररक्षणार्थं शस्त्राणि धारयन्ति। चौरतः स्वधनरक्षणार्थं गर्भगृहादिषु धनं निक्षिपन्ति। स्वरक्षार्थं मिथ्यापि वदन्ति। इत्यनेन प्रकारेण स्वात्मानं रक्षयितुं मिथ्यामार्गमवलम्बन्ते ते। यथार्थतस्तु धनादिकं पुद्गलद्रव्यमस्ति न तु जीवद्रव्येण तस्य कश्चित् सम्बन्धः। तथापि मोहजन्यभ्रमबुद्धया धनादिभिरेव स्वरक्षामामनन्ति। आत्मनस्तु धनं ज्ञानादिगुणा एव, तत्रैव तस्याधिकारोऽस्ति। एवं प्रकारेणात्मनस्तत्त्वं जानन्नेव स विज्ञानधनः स्वात्मानं क्रोधकामादिविकारतः रक्षति। स तु स्वस्य आत्मनः स्वात्मनि एव स्वात्मप्रयत्नेन रक्षां करोतीति तात्पर्यम्। नान्यो जीवः नान्यत्पुद्गलादिकं द्रव्यं वा तस्य रक्षां कर्तुं समर्थमस्ति। व्यवहारनयेनापि स्वकृतपुण्यकर्मणा विपत्तितो रक्षा भवति। पापं कुर्वतां भवत्यन्ते विनाश एव। अतिदुःखान्युत्पादयन्ति पापानि। इत्येवंप्रकारेण निजात्मरक्षां कुर्वतस्तस्य विज्ञानदिनकरस्य विवेकेन परिपूर्णः परिणामो भवत्यतः तस्य मनसि कदाचिदपि न स्यादरक्षाभयं क्वचित्।६१।६२।

सात प्रकार के भयों में 'अरक्षा भय' भी एक है। मिथ्यात्व के द्वारा जिनकी बुद्धि मोहित है वे सदा ऐसी चिन्ताओं में निमग्न रहते हैं कि संसार में कोई मेरा रक्षक नहीं है। मेरी रक्षा कैसे हो? इस अरक्षा की चिन्ता को दूर करने के लिए वे अनेक पाप करते हैं। शरीर रक्षा के लिए शस्त्र रखते हैं। चोर आदि से रक्षा करने के लिए अपना धनादिक द्रव्य जमीन के भीतर गर्भगृह आदि बनाकर वहाँ छिपाते हैं। अनेक अपराधों को करते हुए भी अपराधों के दुष्फलों से बचने के लिए लोक के सामने मिथ्यावाद करते हैं। उचितानुचित प्रकार से अनेक प्रकार के परिग्रहण का सञ्चय करते हैं। इस प्रकार आत्मरक्षार्थ मिथ्यामार्ग का अवलम्बन करते हैं।

निश्चयनय से विचार कीजिए तो धनादिक परद्रव्य हैं—पुद्गल द्रव्य हैं। जीवद्रव्य की रक्षा से उनका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। केवल मोहजन्य बुद्धि के भ्रमवश धनादि से लोक स्वात्मरक्षा मानता है। आत्मा का सच्चा धन ज्ञानादि गुण हैं। उनमें ही जीव का स्वाधिकार है। विज्ञान का धनी आत्मा आत्मतत्त्व के बाधक क्रोध व कामादि विकारों से स्वात्मा की रक्षा करता है। वह अपनी आत्मा की यथार्थ रक्षा अपने ही सत्प्रयत्न से अपने ही भीतर करता है। वह जानता है कि मेरे सिवाय अन्य कोई जीव या अन्य कोई पुद्गलादि द्रव्य मेरी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है।

व्यवहारनय से भी विचार किया जाय तो जीव के सत्प्रयत्नों द्वारा अर्जित पुण्यकर्म ही विपत्ति से रक्षा कर सकता है। पाप से तो केवल हानि ही है। पापी पुरुष तत्काल प्रसन्न भले ही हों पर अन्त में वे अपने को महान् दुःखों में फँसा हुआ पाते हैं।

उक्त प्रकार से ज्ञानरूपी सूर्य के द्वारा जिनका विवेक पूर्णरीत्या जागृत हो गया है; वे सम्यग्दृष्टि ही स्वात्मरक्षा करने में समर्थ हैं। ऐसे महापुरुषों के कदाचित् और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्वचित् अरक्षा का भय उत्पन्न नहीं होता। वे साहसी सदा प्रसन्नचित और निर्भय हो स्वात्मकल्याण के मार्ग पर बढ़ते जाते हैं।६१।६२।

प्रश्नः—अगुप्तिभयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो! अगुप्तिभयस्य किं चिह्नं विद्यते इति मे कथय।

हे गुरुदेव! अगुप्ति भय के स्वरूप का भी प्रतिपादन कीजिए जिसे त्यागकर सम्यग्दृष्टि मुक्ति के पात्र होते हैं:—

(अनुष्टुप्)

यावन्मे वर्तते पुण्यं चौराद्याः केऽपि मद्धनम् ।
न हरन्ति गजाश्वादि पतितं यत्र कुत्रचित्।।६३।।
स्वात्मास्ति तत्त्वतो गुप्तः शुद्धचिद्रूपनायकः।
यस्येति बोधदा बुद्धिस्तस्यागुप्तिभयं कुतः।।६४।।युग्मम्।।

यावदित्यादिः— सुगमम् । भावस्त्वयम्-व्यवहारनयतस्तु एवं विचार्य यत् यावन्मे पुण्योदयः स्यात् न तावत् काचिन्मे हानिः स्यात्। यत्र कुत्रापि स्थापितं निहितं पतितं विस्मृतं वा मद्धनं गजादिकं अश्वादिकं सुवर्णादिकं वा न केचित् चौराः राजादयो वा हर्तुं समर्थाः भवन्ति। निश्चयनयतस्तु शुद्धचैतन्यज्ञानधनो जीवः सदा गुप्त एव न तस्य हानादिकं कर्तुं परद्रव्यादिकं समर्थमस्ति। इत्येवंप्रकारेण यस्य बोधदायिनी बुद्धिरस्ति तस्य कुतोऽपि अगुप्तिभयं न स्यात् । ६३।६४।

व्यवहार नय से यह विचार करना चाहिए कि जब किसी भी जीव को पुण्यकर्म का तीव्रोदय है तब तक उसकी हानि करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। मेरा धनादिक हाथी, घोड़ा आदि द्रव्य या अन्य व्यवहारोपयोगी भोगोपभोग की सामग्री चाहे वह कहीं भी रखी हो, भूली हुई हो, पराधीन हो पर उसे न चोर ले जा सकते हैं न राजादिक ही छीन सकते हैं। प्रत्युत वे सब मेरे सहायक ही होंगे, विरोधक नहीं। हाँ, पुण्यक्षीण होने पर कितना भी उपाय करूँ, कितना भी अधिक भोगोपभोग को गुप्त रखूँ किन्तु मैं उन्हें बचाने में असफल रहूँगा। निश्चयनय की दृष्टि से विचारिए तो आत्मा शुद्धज्ञान धनवाला है, अनन्तगुणों का भण्डार है। वे गुण आत्मद्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो सकते। कर्म का आवरण भले ही हो, पर वे कर्म मेरे आत्मगुणों का नाश करने में समर्थ नहीं हैं। जैसे मदिरा पुरुष को मोहित कर उसे अपने गृह धनादि से दूर कर सकती है, पर उन्हें नष्ट नहीं कर सकती वैसे ही मोह मदिरा जीव को भ्रम में डाले है जिससे जीव आत्मधन को भूलकर परद्रव्य पुद्गलादिक में ही स्वस्वरूप देखता है, पर वह आत्मा के परमधन गुणों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का विनाश नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं रक्षित है उसे रक्षक की आवश्यकता नहीं है, ऐसी बोधदायिनी जिसकी बुद्धि है उस सम्यक्त्वी के कभी भी अगुप्ति भय नहीं हो सकता।६३।६४।

प्रश्नः—अकस्माद् भयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो ! अकस्माद् भयचिह्नं किं तत्स्वरूपमपि मे कथय।

हे गुरुदेव! अकस्माद् भय का स्वरूप क्या है? वह भी कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

मत्पुण्यविशेषश्चेन्न पतेत्किञ्चिन्ममोपरि ।
वा स्वचतुष्टये केऽपि न प्रविशन्ति वस्तुतः ।।६५।।
परचतुष्टये नापि प्रविशामि परात्मके ।
यस्येति बोधको भावस्तस्याकस्माद्भयं कुतः ।।६६।।युग्मम्।।

मत्पुण्यमित्यादिः— किमायाति काचिद्विपत्तिर्ममोपरि? आकाशात् वज्रपातो भविष्यति चेत् किकुर्मो वयम्? अकस्मात् रोगादि-केसमायाते किस्यात् ? निरपराधोऽप्यहं केनचिद्राजकीयेनापराधेन न लिप्ये? इत्येवं प्रकारेण अकस्मादापत्तेराशङ्क्या भीतित्वम् 'अकस्माद् भयम्' कथ्यते। समुत्पद्यते च मोहिनां तत् ।

सम्यग्दृष्टिस्तु विचारयति यदि मत्पुण्यविशेषश्चेत् मम पुण्योदयो वर्तते तर्हि न ममोपरि अकस्मात् किञ्चित् वज्रादिकं रोगादिकम् विपत्त्यादिकं वा पतेत् । यदि पुण्योदयो न स्यात् तर्हि किं भीत्या तदा स्यात् ? कर्मफलं स्वार्जितन्तु भोक्तव्यमेव। वा अथवा स्वचतुष्टये स्वात्मद्रव्ये स्वात्मप्रदेशरूपे स्वक्षेत्रे स्वात्मपर्यायरूपे स्वकाले स्वचैतन्यस्वरूपके स्वभावे वस्तुतः न केऽपि परपदार्थाः प्रविशन्ति, अतत्स्वभावत्वात्तेषाम् । अहमपि परात्मके परचतुष्टये मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपेषु पुद्गलजीवधर्माधर्मकालाकाशादि-रूपेषु तेषां स्वप्रदेशस्वरूपेषु क्षेत्रेषु तत्परिवर्तनपरिणामरूपेषु कालेषु स्वभिन्नभिन्नलक्षणाक्रान्तत्वात् भिन्नरूपेषु स्वभावेषु एतत्परचतुष्टयरूपेषु चेतनाचेतनात्मकेषु न कदापि प्रविशामि। यस्य विवेकिनः इति एवंविधो बोधकः भावः विद्यते तस्य अकस्माद्भयं कुतः स्यात् । ६५।६६।

यदि मेरे पुण्य का प्रबल उदय है तो कोई विपदा मेरे ऊपर नहीं आ सकती। न तो अन्य मेरे द्रव्यादि चतुष्टय में प्रवेश कर सकते हैं और न मैं अन्य किसी के द्रव्यादि चतुष्टय में प्रवेश कर सकता हूँ। ऐसे विचारपूर्ण जिसके परिणाम होते हैं, उसे अकस्माद् भय कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ— मिथ्यात्व से जिनकी बुद्धि मोहित है उनके विचार सदा मिथ्या विचारों में घूमते रहते हैं। वे बिना कारण भी सोचा करते हैं कि मेरे ऊपर कोई विपत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अचानक न आ जाय? आकाश से बिजली अमुक जगह गिरी है ऐसा सुना है, कहीं मेरे ऊपर बिजली गिर पड़े तो क्या होगा? अमुक पुरुष रोग के कारण बहुत कष्ट में हैं। कहीं मेरे ऐसा रोग हो गया तो क्या होगा? मैं क्या करूँगा? अनेक राजबन्दीगृह में बहुत बड़े-बड़े कष्ट उठाते हैं, मारे जाते हैं, पीटे जाते हैं। मैं तो निरपराध हूँ। पर यदि मुझ पर ही कोई मिथ्या राजकीय अपराध लगा दे तो मेरी क्या दशा होगी। इत्यादि प्रकार से अकस्मात् भय के कारणों की शङ्काकर मिथ्यादृष्टि जन दुःखित होते हैं।

किन्तु वस्तुतत्त्व के वेत्ता पुरुष ऐसी शंका या भय नहीं करते। सद्बुद्धिवाले व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि मेरे यदि पुण्योदय विशेष है तो इनमें से कोई भी विपत्तियाँ मुझपर कदापि नहीं आ सकतीं। यदि कदाचित् मेरा पुण्य क्षीण होगा और पापोदय प्रबल होगा तो मैं केवल भय करके भी तो नहीं बच सकता। स्वार्जित कर्म पुण्य हो या पाप उसका फल भोगना अनिवार्य है, तब उससे भय कैसा? यदि मैं कर्मोदय का फल नहीं भोगना चाहता तो मुझे भविष्य के लिए सावधान हो जाना चाहिए। मुझे उचित यह है कि मैं ऐसे कर्म अब न करूँ जिनसे भविष्य में दुःख या अशान्ति का भाजन बनना पड़े।

मैं अपने आत्मा का स्वामी हूँ। मेरे ज्ञान दर्शन सुख क्षमा सन्तोष आदि पवित्र गुण हैं। संसार में कर्मोदय के कारण मेरे नरनारकादि पर्यायें होती हैं। तथापि शुद्ध विज्ञानमय स्वानन्दमय परणति ही मेरी परणति है। मेरा आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अमूर्तिक है, पुद्गलादि परपदार्थों से सर्वथा भिन्न है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव का धनी है। पुद्गलादि अचेतन द्रव्य और अन्य जीवादि सचेतन द्रव्यों से, उनके प्रदेशों से, उनकी परणतियों से और उनके स्वतन्त्र गुणों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। वे सब परचतुष्टय न मेरे हैं और न मैं उनका हूँ। न वे मुझमें प्रवेश कर सकते हैं, और न मैं उनमें प्रवेश कर सकता हूँ। न वे मेरा बिगाड़ कर सकते हैं और न मैं उनका बिगाड़ कर सकता हूँ। ऐसा वस्तु स्वरूप होते हुए भी मैं पर द्रव्यों के अनायास निमित्त मिलने पर या मिलने की व्यर्थ की आशंका पर भयभीत होकर अकस्मात् भय का पात्र बनकर अपने चैतन्यस्वरूप से विहीन होकर दुःखी बन जाऊँ तो यह मेरा बहुत बड़ा अज्ञान होगा।

ऐसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार करने पर सम्यग्दृष्टि के किसी भी प्रकार के भय का सञ्चार नहीं होता। वह स्वात्मस्वरूप में दृढ़ होकर अपने को सब प्रकार से सुरक्षित मानता है। वह जानता है कि जब मेरा आत्मा अखण्ड, अच्छेद्य और अभेद्य है तब किसी पदार्थ से भय कैसा? वह ज्ञानवान् होकर सदा निर्भय विचरण करता है। ६५।६६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहारः

(अनुष्टुप्)

इति सप्तभयादीनां स्वरूपं कथितं मया।
सर्वेषां धीमता शान्त्यै कुन्थुसागरसूरिणा।।६७।।

इतीत्यादिः— इत्येवं उक्तप्रकारेण धीमता बुद्धिमता श्रीकुन्थुसागरसूरिणा आचार्यवर्येण कुन्थुसागरेण सप्तभयादीनां स्वरूपं तत्परिहारोपायश्च निरूपितः। यतस्स्यात् सर्वेषामपि जीवानां शान्तिलाभः। सम्यक्त्वप्राप्तिश्च स्यात् ।६७।

ऊपर लिखे प्रकार से बुद्धि वैभवशाली श्री १०८ आचार्यवर्य कुन्थुसागर महाराज ने जीवों के शान्ति लाभ के लिए तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अथवा सम्यक्त्व के निर्मल बनाने के लिए सप्त भय आदि का स्वरूप तथा उनसे दूर रहने के सदुपायों का वर्णन किया।६७।

इति भयसप्तकनिरूपणम्।

संवेगादि-अष्टगुणनिरूपणम्

(अनुष्टुप्)

संवेगाद्यष्टधर्माश्च श्राद्धानां सन्ति कीदृशाः।
वद तेषां स्वरूपं मे तेषु वृत्तिर्भवेद्यथा।।

प्रश्नः—हे गुरो! संवेगादीनां अष्टानां धर्माणां स्वरूपं कथय यतस्तेषु मम वृत्तिर्भवेत् ।

हे गुरुदेव! सम्यक्त्वी के संवेग और निर्वेद आदिक अष्ट गुण होते हैं उनका क्या स्वरूप है कृपाकर कहिए ताकि उनके पालने में मेरी प्रवृत्ति हो—

संवेगका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वधर्मे सुखदे प्रीतिरधर्मे दुःखदेऽरुचिः।
भावो यस्येति स्यात्तस्य संवेगः सुखदो गुणः।।६८।।

स्वधर्म इत्यादिः— सुखदे स्वधर्मे स्वानन्दसुखस्वरूपे आत्मधर्मे क्षमादौ यदा प्रीतिरुत्पद्यते। तथा दुःखदे दुःखदायिनि अधर्मे तद्विपरीते अनात्मधर्मेऽरुचिः संजायते। यस्य जीवस्य इति भावः स्यात्तस्य सुखदः संवेगो नाम प्रथमो गुणः स्यात् ।।६८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्गति परिभ्रमण ही संसार है। संसार रूप इस परिभ्रमण में यह जीव अनेक भाँति के दुःख उठाता है। यह संसार वृक्ष कर्ममूलक है। कर्मोदय से ही जीव चतुर्गति में परिभ्रमण करता है। इस दुःख मूलक संसार से उद्वेग उत्पन्न होना अर्थात् अरुचि उत्पन्न होना यही संवेगनामा गुण है। जिस बुद्धिमान् को संसारोत्पादक अधर्म में अरुचि होती है उसके दया, क्षमा, निरहंकार, सरलता, अपरिग्रहत्व और ब्रह्मचर्य आदि पवित्र गुणों में स्वयं प्रीति उत्पन्न होती है। ये दोनों ही प्रकार संवेग गुण के रूपान्तर हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि सप्तभय रहित होता है तथापि वह संसार के दुःखों से भयभीत होता है। इन दोनों भयों में महान् अन्तर है। सप्त भय पर पदार्थ के निमित्त जन्य भ्रमवश मोहोदय से होते हैं, पर यह संवेग जनित भय स्वपदार्थ के यथार्थ बोध होने से तथा परपरणतिस्वरूप अपनी अज्ञानता पर खेद होने से पर के मोह के अभाव में होता है। इस प्रकार दोनों में महान् अन्तर है। सप्त भय त्याज्य हैं। उनका अस्तित्व मिथ्यात्व के अस्तित्त्व का सूचक है, किन्तु संसारपरिभ्रमण से भीरुता मोक्षसुख प्राप्ति के प्रति उत्साह और साहस प्रदान करता है। अतः वह भीरुता भी वीरता है। यही संवेग नामा प्रथम गुण है।६८।

निर्वेग गुण का स्वरूप

(इन्द्रवज्रा)

संसारदेहे विषये विरक्तो यः शुद्धचिद्रूपसुखेऽनुरक्तः।
स्वानन्दमूर्त्तेः सुमतेः कृपाब्धेः स्यात्तस्य निर्वेगगुणः पवित्रः।।६९।।

संसारेत्यादिः— भावस्त्वयम्-संसाराद् भीतितानिमित्तेन संवेगेन स जीवः संसारात् विषयसुखाच्च यदा विरक्तो भवति तथा निर्विकारस्वरूपे चैतन्यसुखे चानुरक्तो भवति तदा परमानन्दस्वरूपस्य तस्य दयामूर्त्तेर्निर्वेगनाम्नः पवित्रगुणस्य प्राप्तिर्भवति। स एव निर्वेगगुण इत्यर्थः।६९।

प्रथम संवेग का स्वरूप बताया था कि संसार से भीरुता का नाम संवेग है। इस भीरुता का फल जीव की संसार, देह और विषयभोगों से विरक्ति है। जो पुरुष संसार की असारता, अनित्यता, और अशरणता को देखकर उससे विरक्त होता है, घृणास्पद देह के यथार्थ स्वरूप का चिन्तवन कर और कामिनियों की सुन्दरता को मल से भरे हुए सुवर्ण के घड़े की तरह समझकर काम भोगादिकों से अरुचि करने लगता है तथा पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों के सुखों को अन्त में नीरस देखकर उनकी अभिलाषा से चित्तवृत्ति को हटाता है वही सम्यक् विचारवान् अपने परमानन्दस्वरूप, निरंजन, निर्विकार, कर्म कालिमारहित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति अनुरागी हो जाता है। उस दयासागर आनन्दमूर्ति बुद्धिमान् की यह प्रवृत्ति ही निर्वेग नामा गुण है जो सम्यक्त्व का साधक है।६९।

उपशम गुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

क्रोधादेर्दुःखदस्यास्ति मन्दता यस्य सौम्यता।
स्यादुपशमगुणस्तस्य मिथः श्रीदः सुखप्रदः।।७०।।

क्रोधेत्यादिः— उपशमः शान्तिरित्यर्थः। यदा यस्य दुःखदस्य अनन्तदुःखोत्पादकस्य क्रोधादेः मन्दता भवति तथा सौम्यता सौम्यत्वमायाति परिणामे तदा तस्य सुखप्रदः श्रीदः कल्याणकारी च परिणाम एवोपशमगुणः स्यात्। ७०।

क्रोधादि परिणाम आत्मा को सदा दुःखदाता है। क्रोधी स्वहिंसक है और परहिंसक है। क्रोध से हिंसा तो होती ही है पर अन्य भी लोभ, भीरुत्व और अहंकार आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। ये सब दुर्गुण अनात्म स्वरूप होने से अनन्त दुःख के प्रदाता हैं। जब जीव अपने सत्यप्रयत्नों द्वारा इन क्रोधादि परिणामों की मन्दता करता है तब उसके आत्मा में जो सन्तोष व शान्ति होती हैं उसे ही उपशम गुण कहते हैं। इस गुण से मनुष्य की प्रकृति में सौम्यता आ जाती है। दृष्टि बदल जाती है। यह उपशम गुण आत्मा को अनेक दुःखों से बचाता है और कल्याण के मार्ग को प्रकट करता है। इस गुण की प्राप्ति के बिना जीव को सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं हो सकता। मिथ्यात्व का उपशम हो जानेपर भी यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया या लोभ इनमें से किसी का उदय हो तो सम्यक्त्व का नाश हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'उपशम' सम्यक्त्वी का प्रधान गुण है।७०।

स्वनिन्दा नामक गुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

विद्यमाने गुणे श्रेष्ठे स्वात्मनि सुखदे सदा।
स्वनिन्दां कुरुते तस्य स्यात् स्वनिन्दागुणः प्रियः।।७१।।

विद्यमाने इत्यादिः- संसारावस्थायां सर्वेऽपि मनुजा गुणदोषभाजस्सन्ति। कश्चित् सर्वथा गुणरहितोऽपि न तथा सर्वथा दोषरहितोऽपि न। सम्यग्दृष्टेरपि स्वात्मनि दोषाः सन्ति गुणा अपि। स्वात्मनि सुखदे श्रेष्ठ गुणे विद्यमानेऽपि यो न तत्र दृष्टि ददाति, किन्तु स्वल्पमपि विद्यमानं दोषं दूरीकर्तुं यतते अतस्स दोषनिमित्तेन स्वनिन्दामेव कुरुते। तस्य सद्दृष्टेः स स्वनिन्दानामा गुणः स्यात् ।७१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसमें गुण या दोष न हों। किसी में गुण अधिक हैं तो दोष भी कोई न कोई पाया जाता है और किसी में यदि दोष बाहुल्य है तो एक-दो गुण भी उसमें पाए जाते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा में उक्त नियमानुसार दोष भी हैं तथा सम्यक्त्वादि अनेक गुण भी हैं। ऐसा होने पर भी सम्यग्दृष्टि अपने में विद्यमान अनेक श्रेष्ठ गुणों की ओर लक्ष्य नहीं करता, किन्तु यदि उसमें स्वल्प भी दोष है तो उसे दूर करने के लिए स्वनिन्दा करता हुआ उस दोष को दूर करने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि का यह स्वनिन्दाकरण भी एक गुण है जो सम्यक्त्व में उज्ज्वलता लाता है।

विशेषार्थ— उन्नति का एक मात्र साधन यही है कि कोई भी व्यक्ति सदा स्वदोषों का निरीक्षण करे तथा उसे दूर करने का प्रयत्न करे। जब तक उक्त दोष दूर न हो, या दूर करने में अपनी दुर्बलता हो तो उसे आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है। आत्मग्लानि होने से आत्मनिन्दा स्वतः होती है और इस निन्दा को न सह सकने के कारण वह उक्त दोष से अपने को मुक्त कर लेता है अर्थात् दोष रहित बन जाता है।

जो मनुष्य अपने दोष का निरीक्षण नहीं करते किन्तु अपने में होनेवाले थोड़े से भी गुण को देखकर फूले नहीं समाते और उसके निमित्त से स्वात्म प्रशंसा करते हैं उनकी उन्नति रुक जाती है। स्वात्मप्रशंसा को ही अपनी कीर्ति का प्रसार समझकर हर्षोन्मत्त होने लगते हैं और वे थोड़े गुणों को अधिक बनाकर अथवा गुण न होने पर भी अपने को गुणवान् बनाकर मिथ्या भाषण कर कीर्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। वे इस लोभ का संवरण नहीं कर सकते। 'लोभ से पाप उत्पन्न होता है' इस उक्ति के अनुसार कीर्तिलोलुपी मिथ्याभाषण, विश्वासघात, मायाचारी और कपट व्यवहार आदि पापों को स्वीकार कर अपने में रहनेवाले पूर्व के थोड़े से भी गुणों को नष्ट कर डालते हैं और इस प्रकार उनकी उन्नति का अध्याय समाप्त होकर अधःपात का अध्याय प्रारम्भ हो जाता है।

स्वात्मप्रशंसा करनेवाले परनिन्दा भी अवश्य करते हैं। बिना ऐसा किए उनका स्वात्मकीर्तन का स्वांग नहीं जमता है। अतः दिन दिन वे दुर्गुणों के पात्र होकर नीच गोत्र का बंधकर संसार परिभ्रमण के पात्र बनते हैं। सम्यग्दृष्टि ठीक इसके विपरीत स्वदोषनिन्दा, परगुण प्रशंसा, स्वदोषवारण, परगुणग्रहण, स्वगुण कथन में उपेक्षा और परदोष कथन में भी उपेक्षा भाव इन गुणों के कारण सर्वदोष से दूर होकर अनेक गुणों के पात्र होते हैं। यह सब उनके "स्वात्मनिन्दा" नामक गुण का श्रेष्ठतम कार्य है। इसलिए आत्महितैषी को यह गुण सदा अपनाना चाहिए।७१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गर्हा-गुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

धनादिकारणाद् गर्वः स्याच्चित्ते यदि दुःखदः।
तन्निन्दाकरणं नूनं श्रीदो गर्हागुणः प्रियः।।७२।।

धनादीत्यादिः— कदाचित् कर्मोदयात् धनादिकारणाद् धनप्राप्तिनिमित्तेन गुणप्राप्तिनिमित्तेन-लोकप्रतिष्ठाप्राप्तिनिमित्तेन राज्याधिकारनिमित्तेन वा चित्ते यदि दुःखदः गर्वः गर्वोत्पत्तिः स्यात् तदा सद्दृष्टेस्तत्कालमेव नूनं निश्चयेन तन्निन्दाकरणं श्रीदः कल्याणप्रदः प्रियश्च गर्हानामा गुणः स्यात् ।७२।

सम्यग्दृष्टि पुरुष को भी कदाचित् कर्मोदयवशात् धन की प्राप्ति होने से, अनेक गुणों की प्राप्ति हो जाने से, कीर्ति फैल जाने से, राज्य सम्बन्धी अधिकार बल से और अनेक विद्याओं में अपने को पारङ्गत देख करके गर्व आ सकता है। सुन्दरशरीर, यौवनावस्था, अनेक प्रकार की भोगोपभोग सामग्री की प्राप्ति, सुपुत्र का होना, आज्ञाकारी पुत्र का होना, रूपवती सुलक्षण पतिव्रता भार्या का पाना और अनेक प्रकार से सामाजिक या राजकीय सम्मान की प्राप्ति का होना इत्यादि अनेक कारण हैं जिनका गर्व मनुष्य को उत्पन्न होता है। उक्त प्रकार से गर्वोन्नत मनुष्यों के मध्य में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को भी कदाचिद् ये सब दुर्गुण उत्पन्न हो सकते हैं तथपि वह सदा आत्महित में सतर्क रहता है। अतः कभी गर्व उत्पन्न भी हो जाय तो तत्काल अपने गर्व की निन्दा करता है। यह परनिमित्तजन्य हो जानेवाले गर्व को दूर करने की प्रक्रिया ही सम्यग्दृष्टि का 'गर्हा' नामक विशिष्ट गुण है।

विशेषार्थ— सम्यग्दृष्टि सदा अपनी दृष्टि को आत्मगुणों की प्राप्ति की ओर रखता है। संसारिक वस्तुओं का भोग करते हुए भी वह उनको आत्मा के भोग योग्य नहीं मानता। यह संसार जिसमें केवल पुद्गल नृत्य करता है उसका संसार नहीं है। उसका संसार तो चैतन्यमय लोक है। वह उसमें ही रमण करना चाहता है। यद्यपि इस जड़ात्मक संसार से वह उद्विग्न है तथापि कर्मोदयवशात् उसे परित्याग करने में अपने को असमर्थ पाता है। उसकी अवस्था उस मनुष्य के समान है जो अचेतावस्था में बाँधकर जंगल में डाल दिया गया है। और चेतावस्था में आकर भी अपनी पराधीनता को देखकर, जानकर और उसके छूटने की अभिलाषा रखकर भी अपने को छुड़ा नहीं पाता। अतएव वहीं छटपटाता रहता है। धन, संपत्ति, वैभव और कुटुंब आदि परवस्तुओं में रमना नहीं चाहता, पर कर्मोदय के अधीन होने से इनका भोग करने के लिए लाचार होता है। ऐसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में कदाचित् उसे उपर्युक्त लौकिक लाभों के निमित्त से और पुण्योदय की प्रबलता में प्राप्त भोगोपभोगों के निमित्त से अभिमान उत्पन्न हो जाय तो वह तत्काल आत्मग्लानि से दुःखी हो स्वात्मनिन्दा करता है।

उसकी यह 'गर्हा' उसे प्रिय है। वह उसे ही अपने आत्मा के लिए कल्याणदायिनी मानता है। इस गुण के निमित्त से उसे तत्काल आत्मस्वरूप का और पररूप का बोध होता है और वह आत्महित में सावधान होकर अपनी भूल को दूर कर लेता है।७२।

अनुकम्पा गुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वान्योपरिदयादृष्टिकरणमेव तत्त्वतः।
ह्यनुकम्पागुणो ज्ञेयः सर्वसौख्यप्रदर्शकः।।७३।।

स्वान्येत्यादिः— भावस्त्वयम्-दुःखितान् प्राणिनो विलोक्य तद्दुःखापाकरणार्थं यत् चिन्तनं तत् अनुकम्पाशब्देन कथ्यते। सद्दृष्टिः गहनदुःखपरिपूरिते संसारे परिभ्रमतां जीवानामुपरि सानुकम्पया बुद्ध्या दुःखदूरीकरणार्थं तदुद्धारार्थं च यतते। स्वमपि दुःखमूलाद्रागादिपरिणामाच्च दूरीकरोति। एतदेव सद्दृष्टेः अनुकम्पागुणः।७३।

दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख को दूर करने की इच्छा या चिन्ता को अथवा प्रयत्न को अनुकम्पा या दया कहते हैं। सद्दृष्टि पुरुष सतत दयालु होता है। केवल व्यावहारिक दुःखों से परिपीड़ित पुरुषों पर ही वह दया नहीं करता बल्कि व्यवहारदृष्ट्या जो विषयान्ध पुरुष अपने को सुखी मानते हैं उनकी उस अनर्थ परम्परा को उत्पन्न करनेवाली विषयान्धता को भी दूर कर उन्हें आत्मिक सच्चे सुख की प्राप्ति होवे ऐसा प्रयत्न करता है। स्वयं अपने को भी दुःख का मूल राग, द्वेष, काम और क्रोधादि विकृत परिणामों से बचाता है। उसका यह सत्प्रयत्न ही अपने व अन्य पर की गई दया दृष्टि है जो सर्वप्रकार सुख प्रदायिनी है। इसे ही अनुकम्पानामा सम्यक्त्व का गुण कहते हैं।७३।

आस्तिक्यगुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

देवे शास्त्रे गुरौ यस्य बन्धे मोक्षे शुभेऽशुभे।
श्रद्धास्ति शर्मदा तस्याऽस्तिक्यनामा भवेद् गुणः।।७४।।

देवे इत्यादिः— देवे सर्वसत्त्वहितङ्करे रागद्वेषकामक्रोधादिरहिते विज्ञानघनस्वरूपे अर्हत्परमेष्ठिनि शास्त्रे तदुपदुष्टे परस्परविरोधरहिते दयामयसद्धर्मप्रकाशके शास्त्रे गुरौ तत्प्रतिपादितसन्मार्गावलम्बिनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुखदुःखसमे गुरौ तथा शुभेऽशुभे बन्धे मोक्षे अर्हत्प्रतिपादिते सद्धर्मे च यस्य शर्मदा श्रद्धाऽस्ति तस्य आस्तिक्यनामा गुणोऽस्ति।

'आस्तिको लभते मोक्षं नास्तिको नरकं ध्रुवम्' इत्यादि लौकिकोक्त्या आस्तिकानामेव कल्याणं स्यान्न नास्तिकानामिति श्रद्धा धार्मिकाणामस्ति। किन्तु कोऽसौ आस्तिकः कश्च नास्तिकः इत्यस्मिन् विषयेऽस्ति महान् विवाद इति। वेदानुयायिनस्तु वदन्ति यत् "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेदाः प्रमाणमिति यस्य श्रद्धा स आस्तिकः तदन्यो नास्तिकः।

शब्दशास्त्रेण तु 'अस्ति' इति मतिर्यस्यासौ आस्तिक इति सिद्ध्यति। किमस्ति इति प्रश्ने सति सत्यमुत्तरमेतत् यत् सर्वप्रथमं तावत् स्वात्मनोऽस्तित्वमेव ग्राह्यम्। स्वास्तित्वाभावे अन्यस्य कस्याप्यस्तित्वं को विजानीयात् । ज्ञाता द्रष्टा अनुभाविता खलु अहमेवास्मि तथाहमेव शुद्धो निर्विकल्पो निरञ्जनः इत्येवंप्रकारेण आत्मनस्स्वरूपास्तित्वे मतिरस्ति यस्य स एव 'आस्तिक' इति आत्मनोऽस्तित्वे सिद्धे स खलु नित्योऽनित्यो वा शरीराद्व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा बद्धोऽबद्धो वा इत्यादयः प्रश्नाः तस्य मनसि सञ्जायन्ते। तदा तस्य अधिगतात्मतत्त्वेन केवलज्ञानविभूषितेन च परमर्षिणा यदात्मनः बंधावस्थामुक्तावस्थयोः तत्कारणानां च आश्रवसंवरनिर्जरादीनां स्वरूपं प्रतिपादितं तेषामस्तित्वे श्रद्धा भवति। इत्येवंप्रकारेण सुनिश्चितमेतत् यत् आत्मनो वा तत्पर्यायाणां परलोकादीनां वा तत्कारणभूते शुभेऽशुभे वा कर्मणि तद्वियोगरूपे मोक्षस्यास्तित्वे यस्य 'अस्ति' इति मतिरस्ति स एव आस्तिकः। सम्यग्दृष्टिस्तु परमास्तिकोऽस्ति। तस्यैव परमश्रावकस्य परमगुणः आस्तिक्यमिति कथ्यते।७४।

आस्तिकपने के भाव को आस्तिक्य गुण कहते हैं। प्राणिमात्र के हितकारक, राग द्वेष काम क्रोधादि विकारों से रहित व ज्ञानधनस्वरूप अर्हन्तपरमेष्ठी में, उनके द्वारा उपदिष्ट पारस्परिक विरोधभाव रहित दयामय सद्धर्म प्रकाशक शास्त्र में, शास्त्र प्रतिपादित सन्मार्ग का अवलम्बन करनेवाले तथा सुख-दुःख में मित्र-शत्रु में, संयोग और वियोग में और भवन-श्मशान में, हर्ष-विषाद से रहित समताभाव के समुपासक गुरु में और सर्वज्ञ प्रतिपादित सद्धर्म में तथा शुभाशुभरूप बन्ध-मोक्ष में जिसकी सुखदायिनी परम श्रद्धा है वही आस्तिक है। उसका यह सर्वोत्कृष्ट गुण ही 'आस्तिक्य' नामा गुण है।

"आस्तिक नियम से मोक्ष का तथा नास्तिक नरक का अधिकारी है" ऐसी लोकोक्ति को सुनकर अनेक धर्मात्माओं का यह विश्वास है कि आस्तिकों का कल्याण होगा, नास्तिकों का नहीं। पर कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक है, यह तो सबसे बड़ा विवादास्पद प्रश्न है। वेदानुयायी लोग "वेदनिन्दक नास्तिक है" ऐसा कहते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्ति की श्रद्धा में वेदों की प्रामाणिकता है वही आस्तिक है और अन्य सब नास्तिक हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरणशास्त्र से यदि आस्तिक शब्दा का विचार किया जाय तो यह अर्थ होता है कि 'अस्ति' ऐसी जिसकी मति है वह आस्तिक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाला आस्तिक माना जाय? इसका न्यायसंगत उत्तर है कि सर्व प्रथम जिसे अपना स्वयं का अस्तित्व स्वीकार हो वह आस्तिक है। अनेक मत ऐसे हैं जो स्वात्मा का ही अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। जहाँ आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार नहीं है वहाँ बन्ध और मोक्ष, पुण्य और पाप, लोक और परलोक, सदाचार और असदाचार, हिंसा और अहिंसा तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता। "मूलं नास्ति कुतः शाखा" अर्थात् जिस वृक्ष में जड़ का ही अभाव है उसकी शाखा, प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल की आशा करना मूर्खता की बात है। इसी प्रकार स्वात्मसत्ता के अभाव में उसके सम्बन्ध की सारी चिन्ताएँ व्यर्थ हैं।

जितने मत-मतान्तर, सिद्धान्त व सम्प्रदाय संसार में प्रचलित हैं वे सब शान्तिलाभ, सुखप्राप्ति व मुक्तिप्राप्ति के लिए या वस्तुतत्त्व-जगद्रहस्य के प्रतिपादन के लिए हैं। उनका उद्देश्य उक्त उद्देश्यों में से एक न एक अवश्य है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही होता है कि शान्ति, सुख व मुक्ति कौन प्राप्त करेगा? वस्तु का तत्त्व और जगत् का रहस्य कौन समझेगा? इन सब सैद्धान्तिक रचनाओं का करनेवाला कौन है और किसके लिए ये सब रचनाएँ हुई हैं? तो इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर आयेगा कि आत्मा के लिए अर्थात् जीव के लिए।

इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के स्वीकार कर लेने के साथ ही यह प्रश्न तत्काल उपस्थित हो जाता है कि वह कहाँ से आता है, कैसे पैदा होता है, कहाँ जाता है, क्या देह ही स्वात्मा है या देह से पृथक् कोई स्वात्मा है, आत्मा कैसा है; वह किस लक्षण, चिह्न, गुण या स्वभाववाला है। उसकी लम्बाई; चौड़ाई आकार-प्रकार और रूप-रंग क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते है। इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करने पर यह सहज ही समझ में आ जाता है कि देह से पृथक् कोई आत्मतत्त्व है जो स्थायी है तथा जिसके लिए कल्याण का उपदेश सभी सिद्धान्तकार देते हैं। यदि वह शरीरमात्र होता तो अग्नि में भस्म हो जाता। फिर पुण्य-पाप आदि कर्त्तव्यों का उपदेश व्यर्थ हो जाता। जो लोग देहमात्र ही आत्मा मानते हैं वे लोक-परलोक, पुण्य-पाप और आत्मा-परमात्मा यह सब कुछ नहीं मानते। उनके मत में सदाचार और अनाचार की कोई व्याख्या नहीं बन सकती। मूलभूत आत्मा के अभाव में उसके लिए कुछ भी प्रतिपादन करना असम्भव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। ऐसी स्थिति में सभी पदार्थों का अस्तित्व समाप्त होता है। यही नास्तिकत्व है। ऐसी मान्यता वाले नास्तिक हैं। न कि वेदनिन्दक नास्तिक हैं। किसी की निन्दा या प्रशंसा से कोई आस्तिक या नास्तिक नहीं हो सकता बल्कि उस मूलभूत स्वात्मा के तथा उसके स्वरूप की प्राप्ति के सदुपायों को स्वीकार न करना ही नास्तिकत्व की ठीक व्याख्या है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने स्वात्मा का अस्तित्व तो मानता ही है, साथ ही उसका द्रव्यदृष्टि से नित्य शाश्वत स्वरूप भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। उसका यह विश्वास है कि आत्मा अमर है, निर्विकार है, शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, ज्ञान-दर्शन चैतन्य स्वरूप है। वह देह में स्थित है, देह ही आत्मा नहीं है। उसे स्वात्मापराधजनित कर्म लगे हुए हैं, जिनसे उसकी अवस्था शुद्ध रूप में नहीं है, किन्तु वह कर्मजनित विकारों को दूरकर शुद्ध हो सकता है। वह केवल अपने अपराध से स्वयं बद्ध है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे बाँधने या छोड़नेवाला नहीं है। जिन आत्माओं ने अपने विकारों पर विजय पा ली है वे देहधारण की परम्परा के कष्ट से छूट जाते हैं और वे ही आत्मा 'परमात्मा' कहलाते हैं। वह मानता है कि एक शाश्वत सुख-दुःख का दाता अपना शासन दण्ड चलानेवाला कोई 'परमात्मा' नहीं है, जो मुझे पराधीन कर सके। अपने बनाने और बिगाड़ने में मैं स्वतन्त्र हूँ। मैंने अब तक अपने को अपनी भूल से बिगाड़ा है, परमात्मा ने मुझे नहीं बिगाड़ा। मैं अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर निरपराध हो स्वयं परमात्मा बन सकता हूँ। मुझे कोई दूसरा-ईश्वर परमात्मा बनानेवाला नहीं है।

इस प्रकार सद्दृष्टि पुरुष को अपने आत्मा के अस्तित्व का पूर्ण बोध है। उसकी बद्धावस्था का, बद्धावस्था के कारणों का और बद्धावस्था में कारण होनेवाली अपनी स्वरूप हानि का पूर्ण ज्ञान है। आत्मा विचार करता है कि वह किससे बँधा है। उसे बाँधनेवाले कर्म क्या है? वे कैसे आगए? कैसे बँध गए? उन्हें कैसे रोका जा सकता है? पूर्वबद्ध कर्म कैसे मुझसे दूर हो सकते हैं? वह अवस्था कब होगी जब मैं सर्व कर्मों पर व तन्निमित्तजन्य काम-क्रोधादि विकारों पर विजय पाकर नित्य शाश्वत अपने चिदानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होऊँगा। वस्तुतः मेरे विकार ही मेरा संसार है, जिसका नाश करना है, यही मोक्ष है।

इन प्रश्नों के उत्तर स्वरूप क्रमशः उसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों का सम्पूर्ण बोध है और उन सबका बोध जिनसे प्राप्त हुआ है उन परमवीतरागी परमात्मपने को प्राप्त अर्हत्परमेष्ठी में, उनके प्रतिपादित उपदेश स्वरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रों में तथा उस परिशुद्ध मार्ग का सत्यार्थ रूप से अवलम्बन कर स्वात्मशोधक साधुओं में उसे परिपूर्ण श्रद्धा है। इस प्रकार इस जगत् के रहस्यभूत सब तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करने रूप 'आस्तिक्य' गुण को सद्दृष्टि प्राप्त होता है।७४।

वात्सल्य गुण का स्वरूप

(अनुष्टुप्)

यः स्वात्मवत् सदा प्रीतिं करोति धार्मिकैः समम् ।
तस्य वात्सल्यधर्मः स्यात्सर्वप्राणिहितङ्करः ।।७५।।

यः स्वात्मवदित्यादिः— यः पुरुषः धार्मिकाणामुपरि प्रीतिं विधत्ते। तेषां विपत्तिनिवारणे सदा सन्नद्धो भवति। तेषां धर्मपरिपालने साहाय्यं करोति। तथा सदा स्वात्मवत् तेषामात्मसमुद्धरणे समुन्नतौ च प्रयत्नशीलो भवति, स एव वात्सल्यगुणवानस्ति।७५।

प्रीति का प्रकर्ष इस जगत् में माता का पुत्र में होता है। यद्यपि पिता-पुत्र का, भाई-भाई का और पति-पत्नी का भी स्नेह सम्बन्ध होता है, किन्तु इन सब में प्रीति का भाव कुछ न कुछ स्वार्थमूलक है। पिता पुत्र के प्रति प्रेम करता है क्योंकि उसे यह भरोसा है कि यह हमारे कुल का नाम जागृत करेगा तथा वृद्धावस्था में मेरा सहायक होगा। यदि उसे पुत्र से इन दोनों बातों की कोई आशा न रह जाय तो वह उसे अपने घर से पृथक् कर देता है। भाई-भाई अर्थ के लिए लड़ते हैं। अर्थ के निमित्त से भाई-बहिन में भी खटपट हो जाती है। पति-पत्नी का स्नेह तो केवल पारस्परिक विषय पूर्ति के साधन होने से ही प्रारम्भ होता है। मध्यकाल में वह जीवन निर्वाह के लिए परस्पर साधन भूत होने से टिकता है और अन्त में सन्तान मोह ही उस स्नेह को टिकाता है। उक्त स्वार्थों के अभाव में वह कच्ची लकड़ी की तरह पद-पद पर चटकता है। यदि लोकलज्जा के भय की चिन्ता न हो तो वह बिलकुल ही टूट सकता है। पुत्र भी माता को तब तक अधिक स्नेह करता है जब तक माता दुग्धपान कराती है। भोजन का साधन अन्नादि हो जाने पर स्नेह की मात्रा घटने लगती है। अवस्था बड़ी होने पर वह अपने स्वार्थ के लिए माता का अनादर भी करता है तथा आज्ञा के बहिर्मुख हो जाता है। विवाहित हो जाने पर वह विषयान्ध पत्नी का दास हो माता को बिल्कुल भूल जाता है और माता के भोजन का खर्च भी उसे भार रूप मालूम होने लगता है। वह स्वयं माता का अनादर करने लगता है। इतना ही नहीं, बल्कि पत्नी द्वारा भी माता का निरादर होने पर उसकी उपेक्षा करता है तथा माता को ही दोष देने को प्रस्तुत रहता है। इन सब बातों के विचार से यह ध्रुव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्य है कि सांसारिक स्नेह बन्धन केवल स्वार्थजन्य बन्धन है। पारस्परिक स्वार्थ के लिए शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। अपरिचितों में भी घनिष्ट परिचय हो जाता है। इतना होते हुए भी माता का अपने वत्स पर स्नेह का बन्धन निःस्वार्थ होता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियों में यह नियम देखा जाता है। 'पुत्र कुपुत्र हो जाता है पर माता कुमाता नहीं होती' ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है। माता गर्भ समय से ही बालक की सुविधा का ध्यान रखती है। गर्भभार को वहन करते हुए भी प्रसन्नमुख रहती है। गरम, तीखा, चटपटा और अनिष्टकारक भोजन केवल इस लिए नहीं खाती कि वह गर्भस्थ बालक को हानिकारक होगा। पुत्रोत्पत्ति के बाद जब तक वह दुग्धपान करता है तब तक शीतकारक, उष्णकारक और गरिष्ठ भोजन केवल इस विचार से नहीं करती कि बालक को शीत या उष्णता का विकार हो जायगा। दुग्धपान छूट जाने पर भी उसकी सदा परिचर्या करती रहती है, उसके सुख-दुःख का ध्यान रखती है। यदि घर में धन भी न हो, दरिद्रता हो तो भी स्वयं मजदूरी करके धनोपार्जन करती है और स्वयं एक बार रूखा सूखा वासी अन्न खाकर भी बालक को उत्तम भोजन कराती है। बालक दुष्ट प्रकृति का भी हो जाय, अनादर भी करे, आज्ञा भी न माने तथा गाँव भर का उपद्रव कर उलाहना लावे तो भी माता उसे स्नेह करती है। विवाहित होने पर यदि पुत्र और पुत्रवधू दोनों निरादर करें, भोजन को भी तंग करें तो भी माता नित्य प्रातः सायं अपने पुत्र की, पुत्र के सुख के लिए पुत्रवधू की तथा उसके पुत्र-पुत्रियों की कुशलता और कल्याण की भावना पूर्वक परिचर्या करती रहती है।

वत्स के प्रति माता की इस निःस्वार्थ प्रीति ने इसीलिए अपना 'वात्सल्य' नाम पाया है। वात्सल्य शब्द के अर्थ में वे सब गुण छिपे हैं जो वत्स के प्रति माता की प्रीति में होते हैं या हो सकते हैं। कोई भी धर्मात्मा दूसरे धर्मात्मा के प्रति क्या व्यवहार रखे, कैसा बर्ताव करे इसके लिए आचार्यों ने सर्वत्र 'वात्सल्य' शब्द का ही उपयोग किया है। प्रीति के वाचक सैकड़ों शब्दों के रहते हुए उनमें से एक का भी प्रयोग नहीं किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी धर्मज्ञ सम्यग्दृष्टि दूसरे साधर्मी को देखकर इतना प्रसन्न हो जितना माता वत्स को देखकर होती है। उसके हित का और सुख-दुःख का उतना ही ख्याल रखे। उससे गलती भी हो जाय तो वह उसकी निन्दा नहीं करे और न दूसरों से की गई उसकी निन्दा को सहे। वह सदा उसके दोषों को दूर करने की सतत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेष्टा करे और सदा उसकी गुणोन्नति का ध्यान रखे। सारांश यह है कि उसे हर प्रकार से अपनाए जिससे धर्म की वृद्धि हो।

ग्रंथकार आचार्य ने 'वात्सल्य' का अर्थ यद्यपि 'प्रीति' किया है, किन्तु उस शब्द का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने वात्सल्य शब्द के पूर्णार्थ को व्यक्त करने के लिए उसे उपयुक्त नहीं माना। अतः यथार्थ अर्थ का सम्यग्बोध कराने के लिए 'स्वात्मवत्' ऐसा उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने हित का, अपने सुख-दुःख का अपनी समुन्नति का, अपनी कीर्ति रक्षा का, अपने शरीर की रक्षा का, अपने धर्म की रक्षा का, वृद्धि और अपने गुणों को उन्नति का सदा ध्यान रखता है उसी तरह उसे अपने सहधर्मी के लिए भी रखना चाहिए। यही सम्यग्दृष्टि का 'वात्सल्य' गुण है।

यद्यपि नीतिकार ने कहा है कि "संसृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः" अर्थात् संसार का कोई भी व्यवहार माया अर्थात् कपट से रहित नहीं होता। बिना कुछ न कुछ कपट व्यवहार के सांसारिक व्यवहार नहीं चलता। अनेक स्थलों में तो कपट व्यवहार 'सभ्यता' में शामिल है। मायाचारी सहित मिथ्याकीर्तन शिष्टता और नागरिकता की कोटि में गिना जाता है। यदि किसी आगत व्यक्ति का (भले ही उसमें वे गुण न हों) आप उत्तमोत्तम शब्दों द्वारा स्वागत न करें तो आप अशिष्ट, ग्रामीण और सभ्यता रहित व्यक्तियों की गणना में गिने जाँयगें जब कि उसका मिथ्याकीर्तन कर स्वागत करना, सभ्यता, शिष्टता और नागरिकता की मर्यादा में गिना जाता है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि उससे अर्थात् सहधर्मी से सभ्यता की रक्षार्थ शिष्ट व्यवहार नहीं करता बल्कि हितैषिता के नाते उससे समुचित स्नेहमय व्यवहार करता है। उसका यह सद्व्यवहार उसके 'वात्सल्य' गुण के कारण ही है।७५।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

श्रावकाणां प्रबोधार्थं विशेषाष्टगुणा मया।
प्रोक्तास्ते व्यवहारेऽपि मिथस्सत्प्रीतिकारकाः।।७६।

श्रावकाणामित्यादिः— प्रोक्तास्ते संवेगादयोऽष्टौ गुणाः यद्यपि सम्यग्दृष्टेर्भवन्त्येव। सम्यक्त्वे सति तेषामुत्पत्तिर्भवत्येव। यदि न स्यात्तर्हि सम्यक्त्वस्यैव हानिः स्यात्। सम्यक्त्वस्य फलानि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एव एतानि इत्यपि कथनं समञ्जसमेव प्रतिभाति। व्यवहारेऽपि सर्वसाधारणप्राणिषु यदि ते गुणाः स्युस्तदा तेषां परस्परं प्रीतिकारकाः स्युः।७६।

श्रावकों के प्रबोध के लिए संवेगादि अष्ट गुणों का वर्णन जो पहले किया गया है वे गुण सम्यग्दृष्टि जीव के अवश्य होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर वे अवश्य पाये जाते हैं। यदि वे न हों तो सम्यक्त्व की भी हीनता हो जाय। ये गुण सम्यक्त्वरूपी वृक्ष के फल हैं, ऐसा भी कहा जाय तो उचित ही है। अतएव व्यवहार से संसार के साधारण मनुष्यों द्वारा भी यदि ये गुण अपना लिए जाँय तो परस्पर एक दूसरे के लिए अत्यन्त प्रीतिकारक सिद्ध होंगे।

विशेषार्थ— विश्वशान्ति की यह महौषधि है। वर्तमान काल में जो विभिन्न राष्ट्रों में अशान्ति की धारा बह रही है। उससे पद-पद पर युद्ध की आशंका बनी रहती है, जिससे सभी राष्ट्र एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। इस भीति को दूर करने के लिए ये महागुण परम अमृत रसायन के समान हैं। यदि इनमें से एक 'संवेग' गुण को ही लोग अपना लें अर्थात् धर्म (कर्त्तव्य) से प्रीति और अधर्म से (अकर्त्तव्य) से अरुचि करने लगें तो पारस्परिक भीति दूर हो जाय। सभी विश्वशान्ति के इच्छुक हैं, फिर भी शान्ति नहीं है। उसका कारण क्या है? क्या विश्व के प्राणियों में अशान्ति को कोई विश्व के बाहर के प्राणी उत्पन्न करते हैं? उत्तर होगा नहीं। तब और क्या कारण है इस पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्रों पर जो अविश्वास की छाया है वह उसे अशान्ति की शंका पद-पद पर उत्पन्न करती है। अविश्वास निष्कारण नहीं है। अविश्वास साधार है। उसका आधार है 'लोभ'। प्रत्येक अपने राज्य की परिधि बढ़ाने की फिकर में है। दूसरे राष्ट्रों पर अपना शासन दण्ड चलाना चाहता है। वहाँ की सम्पत्ति का उपभोग अपने देश के लिए करना चाहता है। इतना ही नहीं, वहाँ के लोगों के परिश्रम का उपयोग अपने देशवासियों के सुख के लिए करना चाहता है। प्रजातन्त्र राज्य की प्रणाली यद्यपि देश की प्रजा की सुख सुविधा के लिए थी, राज्य के ऊपर कोई व्यक्ति अपना व्यक्तिगत शासन स्थापित न करे तथा व्यक्तिगत सुख के लिए वह प्रजाजनों के स्वार्थ की होली न खेले, इसलिए प्रजातन्त्र का प्रयोग किया गया था। पर आज प्रजातन्त्र इस शब्द का उपयोग उस प्रणाली के लिए किया जा रहा है जिसे सामूहिक एकदेशीय स्वार्थ कहना अधिक उपयुक्त होगा। एक देश अपना स्वार्थ दूसरे देशवासियों को कष्ट में डाल कर भी साधना चाहता है। राजतन्त्र पद्धति में एक व्यक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रजा को कष्ट होता था पर उस कष्ट की सीमा एक व्यक्ति के स्वार्थपूर्ति के बाद समाप्ति को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो जाती थी। परन्तु इस प्रजातन्त्र के नाम पर चलनेवाले इस सामूहिक स्वार्थ और लिप्सा की पूर्ति का अन्त बहुत दूर है। उसकी समाप्ति एक व्यक्ति की इच्छा पर नहीं बल्कि उस देश के जनसमूह की इच्छा पर अवलम्बित है। यह स्वार्थ का लम्बा संघर्ष है।

सरल शब्दों में यह निष्कर्ष निकला कि जब तक एक देश अपने कर्त्तव्य को समझकर अपने स्वार्थ साधन की सीमा अपने तक ही सीमित न रखेगा तब तक दूसरों से शान्ति प्राप्ति की अभिलाषा करना बिलकुल असंगत है। यदि दूसरों को सुखी बनाने के लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है इसका बोध सभी राष्ट्र कर लें तो विश्व में शान्ति हो सकती है। यही कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक संवेगनामा गुण है।

निर्वेद गुण—व्यक्तिगत विषयाभिलाषा की न्यूनता को कहते हैं। व्यक्ति यदि अपनी विषयाभिलाषा न्यून करने लगे तो सामूहिक रूप से भी राष्ट्र के व्यक्तिगत स्वार्थ, जिनके कारण एक दूसरे से संघर्ष होते हैं, कम हो जायँगे। उनका कम हो जाना ही संघर्ष का कम हो जाना है और संघर्ष की सम्भावनाओं का दूर होना ही विश्वशान्ति है।

क्रोधादि कषायों की शान्ति उपशमभाव है। आत्मदोषों का निरीक्षण कर अपने दोषों की निन्दा करना ही निन्दा है। सम्पत्ति, बल और वैभव की उन्मत्तता की इच्छा से दूर रहना गर्हा है। प्राणिमात्र पर दया-प्रेम करना अनुकम्पा है। पूर्व महापुरुषों की वाणी पर आस्था रखकर लोक-परलोक, पुण्य-पाप पर आस्था रखना व आत्मा के अस्तित्त्व का नित्यत्व पर श्रद्धा रखना आस्तिक्य है। प्रत्येक बन्धु को वत्सलता की दृष्टि से देखने रूप वात्सल्य है। ये सभी गुण समुदाय रूप में ही नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् एक-एक भी विश्वशान्ति स्थापित करने में पूरी तरह समर्थ हैं।७६।

इति संवेगाद्यष्टगुणनिरूपणम् ।

प्रश्नः—सम्यक्त्वस्यातिचाराः के वद मे सिद्धये प्रभो।

हे प्रभो! सम्यक्त्वस्य कानि दूषणानि तान्यपि कथय यतः मे सम्यक्त्वं निर्मलं स्यात् —

हे भगवान् ! सम्यक्त्व के भूषणों का वर्णन तो हो चुका अब उसके दूषणों का भी वर्णन कीजिए ताकि उनको दूरकर हम सम्यक्त्व निर्मल बना सकें—

(अनुष्टुप्)

शङ्का कांक्षा विचिकित्सा प्रशंसा संस्तवस्तथा।
सद्दृष्टेरतिचारास्ते सम्यक्त्वं दूषयन्ति नु ।।७७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शङ्केत्यादिः— शंका कांक्षा विचिकित्सा कुदृष्टेः प्रशंसा तत्संस्तवश्च सद्दृष्टेः एते पञ्चातिचाराः सम्यक्त्वं दूषयन्ति मलिनीकुर्वन्ति।७७।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

आस्तिक्य गुण के विरुद्ध आत्मा के अस्तित्व पर तथा परम वीतराग अर्हत्परमात्मा के वचनों पर सन्देह करना शंकातिचार है। इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा को ही जीवन में प्रमुख स्थान देना कांक्षा नाम दूसरा अतिचार है। धर्मात्मा श्रावक व साधु व्रती पुरुषों की तथा सर्व साधारण रोगी ग्लान पुरुषों की सेवा करने में घृणा करना विचिकित्सा नामा तृतीय अतिचार है। जो मिथ्यादृष्टि हैं, सद्धर्म से द्वेष रखते हैं, पाप से प्रीति रखते हैं, विषयान्ध हैं और कपटभेषी हैं अर्थात् धर्मात्मा का भेष रखकर दूसरों को ठगते हैं। इन सब कुलिंगियों और कुभेषियों की प्रशंसा करना यह प्रशंसा नामक चौथा अतिचार है तथा इन्हीं की स्तुति वन्दना करना संस्तत्व नाम का पांचवाँ अतिचार है।

विशेषार्थ— वस्तुतत्त्व का वेत्ता सम्यग्दृष्टि जीव सदा अपनी दृष्टि के सामने जगत् का सच्चा चित्र रखता है। वह उस जगद्रहस्य को जो ध्रुवसत्य है, जिसपर उसे दृढ़तम श्रद्धा है, कभी विस्मृत नहीं करता। सोते-जागते, खाते-पीते व व्यापार-व्यवसाय करते हुए, यहाँ तक कि विषयों का भोग भोगते हुए भी वह अपनी स्थिति को और जगत् की स्थिति को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलता। उसके हृदय में ये विचार सदा जागृत रहते हैं कि मैं सदा शाश्वत, विज्ञानस्वरूप, परम पवित्र और अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड आत्मा हूँ, मैं सदा अविनाशी हूँ, मेरे गुण रूपी धन का विनाश कभी नहीं हो सकता। मेरे गुण मेरे अपराध से मलिन हो रहे हैं, अतएव मुझे उन्हें निर्मल बनाना है। अर्थात् मुझे विभाव छोड़कर स्वभाव परिणति उत्पन्न करनी है।

पंचेन्द्रियों के विषयों में संलग्नता मेरा भोग नहीं है। मेरा भोग आत्मिक गुणों का भोग है जो अविनाशी है। ये इन्द्रियजनित भोग विनाशी हैं। इनका बोध इन्द्रियद्वार से होता है और इन्द्रियाँ शरीर का अंग हैं। शरीर आत्मस्वभाव से भिन्न जड़ पदार्थ है। जड़ की संगति से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। शरीर मल-मूत्र की योनि है। यह और इसकी उत्पत्ति का कारण दोनों अपवित्र हैं। अतः उससे प्रीति करना भी आत्मघातक है और उससे घृणा करना भी वस्तुस्वभाव से आंख मीच लेना है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है उसे ठीक रूप में समझ लेना ही आत्महित साधक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार के सभी प्राणी शरीरी हैं। पाप-पुण्य के उदय से ही रोगित्व-निरोगित्व, दुःख-सुख और सम्पत्ति-विपत्ति होती हैं। प्राणी के दुःख दूर करने में प्रयत्न करना यह महान् सेवाधर्म है। घृणा इसमें अत्यन्त बाधक है। शरीर तो सचमुच में अपवित्र है पर इससे मुझे घृणा क्यों हो, क्योंकि मेरा आत्मा उससे अपवित्र नहीं बन सकता। आत्मा तो परम पवित्र है, फिर शरीर स्पर्श से भय क्या? उलटे विचारों से मैं अपने महान् सेवा धर्म व वात्सल्य गुण से पृथक होता जाऊँगा। मुझे किसी पदार्थ से घृणा न होनी चाहिए। हाँ, वस्तु का स्वरूप अवश्य ही ठीक समझ लेना चाहिए और अपवित्रता को न अपनाते हुए पवित्र बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो मिथ्यावेषी हैं, कपटी हैं व मायाचारी से दूसरों को ठगते हैं वे धर्ममार्ग के कण्टक हैं। उनकी प्रशंसा या स्तुति करने से लोगों में उनके दुर्गुणों के प्रति प्रीति हो जायगी, अतः कभी भी मिथ्या प्रशंसा या मिथ्या गुण कीर्तन नहीं करना चाहिए। पूर्वोक्त सद्विचारों से सम्यक्त्वी का सम्यक्त्व गुण निरतिचार रहता है और वह ज्ञान और चारित्र के मार्ग में बढ़ने को समर्थ होता है।७७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभा नामक व्याख्या में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयोऽध्यायः

प्रश्नः— व्यसनानि कति सन्ति तच्चिह्नं कीदृशं वद।
अथ व्यसनचिह्नं ते ब्रवीमि सुखतः शृणु।।

हे गुरुदेव! व्यसन कितने हैं? उनका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य! व्यसनों का स्वरूप मैं कहता हूँ तुम सावधानी से सुनो—

(अनुष्टुप्)

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या स्तेयमाखेटकं तथा ।
परस्त्रीसङ्गमश्चैव सप्तैव व्यसनानि तु ।।क्षेपकम्)।।

द्यूतमित्यादिः— तात्पर्यमेतत्-एतानि सप्तव्यसनानि-द्यूतक्रीडनं मांसभक्षणं सुरापानं वेश्यासङ्गमः स्तेयं नाम परद्रव्यापहरणं आखेटकं नाम पशूनां पक्षिणां मारणं मांसार्थं कौतुकार्थं वा परवनितानामासेवनं इति। धर्ममार्गात्पुरुषान् व्यस्यति भ्रंशयति तद् व्यसनं इति व्युत्पत्तेः। एकवारं मांसादिसेवनं तु पापं पुनः-पुनः पापकरणं तदासक्तिश्च व्यसनं इति व्याख्यानात्। सततमेव पापानामिच्छा वर्तते यस्य चित्ते तस्य मनसि धर्मो न दत्तं पदमपि। इत्येवं सुनिश्चितं यत् व्यसनानि प्राणिनो धर्ममार्गात् दूरीकुर्वन्ति तस्माद्धेयानि व्यसनानि स्वहितमिच्छता।

व्यसन सात हैं-जुआ खेलना, मांस खाना, मद्य पीना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, शिकार करना और परस्त्री सेवन करना।

विशेषार्थ— रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, घर-मकान आदि द्रव्य की या हारजीत की बाजी लगाकर क्रीड़ा करना द्यूत क्रीड़ा है। माँस का खाना, मद्य का पीना, वेश्या सङ्गम करना, चोरी अर्थात् पराए द्रव्य का अपहरण करना, पशु-पक्षी या मनुष्यों का मांस लोलुपता से, कौतुक से या अन्य विषयलिप्सा से खाना, दूसरों की गृहीत पत्नी जो सस्वामिक हो या अस्वामिक हो उसका सेवन करना, ये सात व्यसन हैं।

किसी भी बुरे काम की आदत पड़ जाने को व्यसन कहते हैं। जिसे किए बिना चित्त को चैन ही न पड़े वह व्यसन है। उक्त कार्यों को प्रमादवश या अन्य किसी कारणवश एकबार सेवन करना पाप है और उनको बार-बार सेवन करना या उनकी आसक्ति का बना रहना व्यसन है। व्यसन शब्द का अर्थ ग्रन्थान्तरों में यह किया गया है कि जो प्राणी को धर्ममार्ग से भ्रष्ट करे या धर्ममार्ग में जाने न दे अर्थात् उससे दूर रखे वह व्यसन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसके हृदय में पाप का निवास स्थान है भला वहाँ धर्म का पैर कैसे जम सकता है। व्यसनी पुरुष का संसार व्यसनमय है। पापवासना उसके हृदय में सदा जागृत रहती है। परस्त्री पर, चाहे वह सती हो या असती हो, स्त्री हो या माता हो या बहिन हो, परद्रव्य पर; चाहे वह किसी का हो भले ही वह देवद्रव्य हो, उसकी कुदृष्टि रहती है।

व्यसनी का खाना-पीना, उठना-बैठना, भले पुरुषों की सङ्गति व उनका उपदेश, देवस्थान व देवपूजा, शास्त्रश्रवण और धार्मिक उत्सव आदि कल्याणकारी एक भी कार्य में चित्त नहीं लगता। सोते-जागते, खाते-पीते, देवध्यान-देवपूजन करते और शास्त्रश्रवण करते हुए भी उसका चित्त सदा अपने व्यसन में रहता है। एकमात्र उसी का ध्यान रहता है, अतएव व्यसन स्वहितैषी के लिए सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

प्रथम द्यूतव्यसन का लक्षण

(अनुष्टुप्)

द्यूतमेव जनानां स्याच्छत्रुः सर्वापहारकः ।
स्थानं दुष्कर्मणां नूनं मूढानां विपदां सखा ।।७८।।
ज्ञात्वेति च्छर्दिवद् द्यूतं त्यक्त्वा चात्यन्तदुःखदम् ।
सन्तो निर्व्यसनाः सन्तु शुद्धचिद्रूपनायकाः ।।७९।।

द्यूतमित्यादिः- भावस्त्वयम्, द्यूतमेव जनानां सर्वापहारकः शत्रुरस्ति। यथा शत्रुः सर्वाणि द्रव्याण्यपहरति तथा द्यूतं लौकिकदृष्ट्या सर्वधनापहारकं कीर्तेरपहारकं स्वास्थ्यनाशकं आजीविकाविघातकं अविश्वासोत्पादकं चास्ति। पारमार्थिकदृष्ट्या तु अनेकपापानां जनकं दयादाक्षिण्यादिसद्धर्माणा-मपहारकमस्ति। तद्वद् दुष्कर्मणामनेकव्यसनानां स्थानं तथा विपत्तीनां सखा। एतज्ज्ञात्वा वान्तिवत् दुखदं द्यूतं दूरत एव परिहर्तव्यम् । शुद्धचैतन्यरूपे स्वरूपे स्थित्वा व्यसनैर्यथा मुक्तिः स्यात् तथा वर्त्तितव्यम् ।७८।७९।

जुआ मनुष्यों का सर्वापहरण करनेवाला शत्रु है। शत्रु तो केवल बाह्य द्रव्य सुवर्ण-चांदी और गृह आदि का अपहरण कर सकता है, परन्तु द्यूत द्रव्य का अपहरण तो करता ही है, साथ ही कीर्ति का भी अपहरण करता है, स्वास्थ्य का भी नाशक है, आजीविका को भी नष्ट कर देता है और अविश्वास को उत्पन्न कर देता है। ऐसा जानकर छर्दि के समान द्यूत का त्याग कर शुद्ध चिद्रूप का स्वामी सज्जन पुरुष द्यूत व्यसन से दूर रहे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ— मोक्षमार्गी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पाँचों महापुरुष अपनी गार्हस्थिक अवस्था में इसी एक द्यूत के कारण राज्य रहित हुए वन-वन मारे-मारे फिरे। राजा होकर भी पराई चाकरी करनी पड़ी। द्रौपदी जैसी पतिव्रता स्त्री को जुए के दाव पर लगा बैठे। बुद्धि का दिवाला निकल गया। भरी सभा में अपनी वधू द्रौपदी का अपमान सहा। वह भी ऐसा अपमान जिसे एक नीच से नीच व पापी से पापी भी सहने में लज्जित होगा। स्त्री के सर्वस्व सतीत्व के साथ जुए में जीतनेवाले नीचों ने खिलवाड़ किया। उसे सभा में नग्न करना चाहा किन्तु उसके सतीत्व के प्रभाव से देवों ने उसकी लज्जा रखी। पर जीतने और हारनेवाले दोनों जुआड़ियों ने अपनी निर्लज्जता की पराकाष्ठा इस घटना में दिखा दी। यह कथा पाण्डव पुराण में प्रसिद्ध है।

कथाओं में राजा नल का दूसरा पौराणिक उदाहरण है। जिन्होंने जुए में राजपाट सब हार दिया और पत्नी सहित वन-वन फिरे, चिड़ियों को मारकर पेट भरा तथा अनेक पाप किए। अपनी धोती जो एक मात्र लज्जा का शेष साधन थी वह चिड़ियों को फँसाने के लिए फेंक दी। पर चिड़िया धोती लेकर उड़ गई और राजा नंगा रह गया। तब अपनी स्त्री की आधी साड़ी पहिनकर लज्जा ढाँकी। इतना होने पर भी वह कायर अपनी पत्नी को जंगल में छोड़कर वन-वन मारा मारा फिरा। ऐसी दुर्दशा बड़े-बड़े राजाओं की हुई तो साधारण मनुष्यों की क्या गिनती है।

शास्त्रों में पाण्डवों की और लौकिक कथाओं में नल की अपकीर्ति आज तक चली आ रही है और हजारों लाखों वर्षों तक बल्कि असंख्य वर्षों तक चलेगी।

जुआ खेलनेवाले रात्रि-दिन का भेद नहीं जानते। उन्हें अपने व्यसन के कारण यह पता ही नहीं चलता कि कब रात हो गई, कब प्रातःकाल हुआ। भोजन, पान, शयन, देवदर्शन, स्वाध्याय और सज्जनसङ्गति आदि सत्कार्यों के लिए उन्हें यथोचित अवकाश ही नहीं मिलता। इसका यह फल होता है कि उनका शारीरिक स्वास्थ्य अनियमित आहार-विहार तथा दुःसङ्गति के कारण विकृत हो जाता है। वे अपनी आजीविका के साधनों को खो बैठते हैं। यदि वे व्यापारी है तो जुए के कारण व्यापार को समय नहीं मिल पाता। वह नष्ट हो जाता है। यदि शिल्पकार हैं तो काम कौन करे? समय कहाँ है व्यसनी को। कृषिकर्त्ता का कृषिका समय निकल जाता है। यदि समय पर खेती हो भी गई तो जब तक ये जुआ खेलते हैं तब तक खेती बिना देख रेख के चोरों और जंगली जानवरों द्वारा चौपट हो जाती है। ऐसे व्यसनी को कोई भी मालिक नौकर नहीं रखता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। कोई कर्ज पैसा नहीं देता है। कोई उधार सौदा नहीं देता है। इस प्रकार आजीविका नष्ट हो जाती है। उसका विश्वास जनता से एकदम उठ जाता है। कोई उसकी संगति नहीं करना चाहता। पास बैठाना नहीं चाहता। यदि पड़ोस में चोरी हो जाय तो उस पर एक बार सन्देह जरूर चला जाता है। जुए में हार जाना ही अधिक सम्भव होता है। जुआरी प्रायः अन्त में निर्धन ही हो जाते हैं।

निर्धनता का कारण स्पष्ट है। वह गणित शास्त्र से प्रमाणित हो जाता है। कल्पना कीजिए की ४ व्यक्ति पाँच सौ पाँच रुपया लेकर जुआ खेलने बैठे। इनमें एक व्यक्ति ने प्रथम बार २००) जीत लिया, वह प्रसन्न हुआ और तत्काल २५) मिठाई खाने सिगरेट पीने आदि आमोद-प्रमोद में खर्च करा दिए। देखनेवाले अनेक व्यक्ति वहाँ रहते हैं जो प्रत्येक जुआरी के सम्बन्धी या जान पहिचान के होते हैं। वे उस प्रसन्नता के फलस्वरूप उससे पारितोषिक माँगते हैं। वह मुफ्त के बिना परिश्रम पाए हुए रुपयों में से २५)-५०) रुपया बाँट भी देता है। दूसरी बार दूसरा व्यक्ति २००) ३००) जीत जाता है। तो वह भी २५) ४०) आमोद-प्रमोद में खर्च कर देता है और लगनेवाले लोगों में बाँट देता हैं। यह रुपया जो आमोद-प्रमोद में चला जाता है या लोग ले जाते हैं जुए की मूल पूँजी जो २०००) थी उसमें से घटता जाता है। १०-५ बार इसी प्रकार कभी कोई कभी कोई दाव लगाकर जीता और ५०) रुपया जुए के बाहर उक्त प्रकार से खर्च में चले गए। ४-६ घण्टे यदि जुआ चलता रहा तो २५-३० बार हारजीत का प्रसंग सहज ही आ जाता है और प्रतिवार ५०) खर्च के हिसाब से ३० बार में १५००) खतम हो जाता है। बाकी ५००) रह गया सो किसी के पास १००) होंगे, किसी के पास २००) होंगे, किसी के पास ३००) होंगे तो कोई एक सर्व धन से रहित हो गया होगा। यथार्थ दृष्टि से सब लोग हारे। ऐसा होने पर भी ईर्ष्यावश वे यह समझते रहते हैं कि हम इससे अच्छे हैं हमारे पास तो इतना बचा। यह तो निर्धन हो गया। इस प्रकार ईर्ष्याजन्य परिणामों से सन्तुष्ट होकर चले आते हैं।

इतना होने पर भी वे शान्त नहीं बैठ सकते। पुनः दुबारा घर से रुपया लेकर, घर में न हो तो जेवर गिरवी रखकर या बेचकर और यदि जेवर न हो तो जहाँ से उधार मिल सकता है वहाँ से उधार लेकर, घर-मकान गिरवी रखकर भी रुपया लाते हैं और एक के चार बनाने की अभिलाषा से पुनः जुआ खेलते हैं। परिणाम उसका भी पहिले जैसा ही होता है और अन्त में वे फिर अपनी पूँजी को कमकर बैठते हैं या निर्धन हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं। तब निर्धनता के कारण चोरी की आदत उन्हें डालनी पड़ती है, क्योंकि इस प्रकार धनहीन, आजीविकाहीन और विश्वासहीन हुआ मनुष्य या तो भिक्षावृत्ति करने के लिए या चोरी करने के लिए मजबूर होता है। इसके सिवा उसके पास दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। इस प्रकार जुए की निर्धनता ने चोरी व्यसन का उपहार उसे प्रदान किया या निर्लज्जता प्रदान कर भिक्षा मँगवाई। राजा नल ने चिड़ियों का शिकार कर पेट भरना प्रारम्भ किया अर्थात् उसे जुए की निर्धनता के फल स्वरूप आखेटक व्यसन लग गया।

दैवगत्या यदि कोई द्यूतक्रीड़ावाला अपनी पूँजी बचा ले और दूसरे की पूँजी भी जीत जाय। ५००) की जगह १५००) पैदा करले तो यह जीता हुआ द्रव्य उसे शान्ति से बैठने न देगा। या तो वह १५००) के ३०००) बनाने की फिकर में रहेगा और फिर भी जुआ खेलेगा और यदि खेलना कुछ समय को बन्द कर दिया तो बिना प्रयास के प्राप्त उस पर द्रव्य से अन्य व्यसनों का शिकार बन जायगा। मद्यपान, वेश्यागृहनिवास, उसकी संगति में मांस सेवन, वेश्या न मिलनेपर परस्त्रीरमण आदि समस्त व्यसन स्वतः एव उसे घेर लेंगे और इन व्यसनों में द्रव्य को नष्ट कर वह भी निर्धनता को प्राप्त होकर चोरी, भिक्षा और आखेटक से जीविका निर्वाह के लिए बाध्य होगा।

इस प्रकार व्यसनों का लग जाना और उनसे हर प्रकार की हानि उठाना एक द्यूत का फल है। इसे सातों ही व्यसनों का राजा कहा है। एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक साधु जंगल में चिड़ियाँ मार रहा था। उसे देखकर एक अन्य साधु ने उसे रोका और कहा कि भाई साधु होकर शिकार करते हो? साधु बोला कि सदा नहीं पर कभी-कभी मांस खाने की आदत पड़ गई है। जब इसके बिना रहा नहीं जाता तब शिकार कर लेता हूँ। दूसरे साधु को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि क्या भाई मांस भी खाते हो? तो बोला हाँ, वेश्या की संगति में यह आदत पड़ी है। दूसरे साधु ने सोचा कि यह वेश्या भी सेवन करता है। उसने पूछा कि भाई तुम वेश्या के यहाँ भी जाते हो और तुमने उसकी संगति में साधुपना छोड़ मांस खाना कैसे स्वीकार कर लिया। तब पहला साधु बोला कि भाई अपनी दशा क्या कहें? वेश्या ने मद्य पिलाया। वह बोली बिना इसे पिए भोग का आनन्द नहीं आता। सो मद्य पीकर जब मुझमें उन्मत्तता आई, भूख लगी और चित्त चैतन्य शून्य सा होने लगा तब जो उसने खिलाया सो खाया। होश-आने पर ज्ञात हुआ जो इसने मांस खिलाया है तब से आदत पड़ गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवागत साधु यह सुनकर बहुत व्यथित हुआ, बोला कि भाई वेश्या संगति से तू शराब भी पीने लगा, मांस भी खाने लगा और शिकार भी करने लगा। तुझे चार-चार व्यसन लग गए। भला यह तो बता कि साधु होकर पहिले वेश्या के यहाँ गया ही क्यों? तो वह बोला भाई क्या कहूँ? जब काम ने सताया और जब वन में अकेली दुकेली कोई स्त्री न मिली तो वेश्या के यहाँ जाना पड़ा। धन तो मेरे पास बहुत था, चोरी से मिल जाता था। जब कोई महाजन जंगल के रास्ते जाता तो उसे लूट लेता था। धन की कमी न थी। इससे वेश्या के यहाँ चला गया। दूसरे साधु ने सोचा कि यह दुष्ट चार ही व्यसन का व्यसनी नहीं है। परस्त्री गमन भी करता है और चोरी भी करता है। उसने उस पर करुणा कर पूछा कि भाई तेरी यह दुर्दशा कैसे हुई। ये दोनों दुर्व्यसन भी तुझे कैसे लग गए? तब प्रथम साधु बोला भाई क्या कहें? सच्ची बात यह है कि सबसे प्रथम मैंने जुआ खेलना प्रारम्भ किया था। उसमें पहिले तो बहुत धन मिला और उस धन ने मुझे मदोन्मत्त किया। मैंने सोचा बिना स्त्री के धन का क्या करूँ। फलस्वरूप मैंने एक स्त्री रख ली। कुछ समय बाद मैं जुए में हार गया सो सब धन चला गया। निर्धन होते ही वह स्त्री भाग गई। मैं उन्मत्त हो धन के लिए डाका डालने लगा और उस डाके में जो धन मिलता तो धन रख लेता और कोई स्त्री मिल जाती तो स्त्री रख लेता। इस तरह जुए ने मुझे स्त्री रखने तथा डाका डालने को बाध्य किया। अन्यायोपार्जित उस धन ने मुझे वेश्या घर तक पहुँचाया और वहाँ जाने पर मेरी जो दुर्दशा हुई वह आपके सामने है। सभी व्यसन अब मेरे साथी हैं। मैं इनमें घुल मिल गया हूँ। साधुता की जगह असाधुता आ गई है। केवल तन पर गेरुआ कपड़ा शेष है। सो ये भी लोगों के फँसाने का एक जालमात्र है, यथार्थ में साधुता नहीं है, साधुतावेश मात्र हैं।

इस कथा से यह सहज ही समझ में आ जाता है कि यह जुआ व्यसन सब व्यसनों का राजा है। यह सचमुच विपत्तियों का मित्र है। इसके वशीभूत मनुष्य अपनी सम्पूर्ण साधुता को तिलाञ्जलि देकर प्रत्येक प्रकार के दुर्गुणों को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह अपने द्वारा भुक्तभोजन यदि वमन के द्वारा मुख से गिर जाय तो उसे अत्यन्त घृणास्पद समझ कर लोग छोड़ देते हैं। उसमें सब प्रकार के मिष्टान्न, जो भी मैंने खाए थे मौजूद हैं ऐसा समझ कर कोई उसे पुनः नहीं ग्रहण करता। इसी प्रकार वमन की तरह जुए के द्रव्य को समझकर उसे घृणाकर जो द्यूत का त्याग करता है वह पवित्रात्मा सर्व व्यसनों से बच जाता है और उसमें सब प्रकार के सद्गुण उत्पन्न होते हैं। वह अपने शुद्ध चैतन्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन का धनी होकर अनन्त सुख का पात्र होता है और संसार बन्धन से छूट जाता है। अतएव द्यूत सर्व प्रयत्नों द्वारा छोड़ देने योग्य है।७८।७९।

प्रश्नः—का मांसभक्षणे हानिस्तद्बोधाय गुरो वद।

हे गुरुदेव! मांस भक्षण करने में क्या हानि है। इस विषय को समझाइए—

(अनुष्टुप्)

न मांसभक्षिणां चित्ते दयाधर्मो भवेत्किल।
हेयोपादेयबोधोऽपि न स्यात्सद्विश्वशान्तिदः।।८०।।
ज्ञात्वेति दुःखदं निन्द्यं त्यक्त्वा हि मांसभक्षणम् ।
कुर्वन्त्वात्महितं सन्तो धर्मज्ञा धर्मनायकाः।।८१।।

न मांसभक्षिणामित्यादिः— भावार्थस्त्वयम्, ये परमांसं भक्षयन्ति तेषां चित्ते दयाधर्मो किल न भवति। मांसस्योत्पत्तिस्तु प्राणिनां शरीरत एव भवति। न तु मांसं वृक्षात् प्राप्यते न भूमितस्समुद्भवति न चाकाशात्पतति। मांसार्थिनां परशरीरघातस्तु अत्यावश्यकोऽस्ति अन्यथा मांसप्राप्तिर्न स्यात्। दयावान्पुरुषस्तु परशरीरस्य रोममात्रमपि दुःखीकर्तुमसमर्थो भवति, कथं तर्हि परशरीरं घातयेत्सः? सर्वत्र जगति शान्तिप्रदं सम्यग्ज्ञानमस्ति। सम्यग्ज्ञानत एव हेयस्य उपादेयस्य चार्थस्य विवेको भवति। हेये हेयतया उपादेये च उपादेयतया यद्विवेकः स्यात् तेन विवेकेनैव विश्वेऽस्मिन् शान्तिर्भवितुमर्हति, नन्यथा। मांसाशिनस्तु न स विवेकः स्यात्। इत्येवं सम्यगवबुध्य यः निन्दनीयं दुःखप्रदं तन्मांसं न भक्षयति तस्यैवात्महितं सदा स्यात् ।

धर्मस्याधिष्ठातारः सज्जनाः धर्मस्वरूपबोधकाश्च आत्महितं कुर्वन्तु हेयोपादेयविवेकपूर्वकं। मांसभक्षणं तु त्याज्यमेव। सदा विचारणीयमेतत् यत् मांसभक्षणे हिंसामहापापस्य चरमसीमाऽस्ति। न केवलं तत्प्राणिन एव वधस्संजायते यस्य मांसं भुज्यते, अपि तु मांसे तज्जातीनां पञ्चेन्द्रियाणां जीवानां निगोतसंज्ञकानामपि शरीरे तेषामुत्पत्तिर्भवत्येव। पक्वमपि पचदपि अपचदपि अपक्वमपि मांसं निगोतानां सदैव योनिः। तद्भक्षणे तु तेषां नियता हिंसा संजायते।

न चान्नादिवत् प्राण्यङ्गत्वात् तद्भक्षणे का हानिरिति प्रश्न उपयुज्यते। त्रससंज्ञकानां प्राणिनां शरीरस्थितानामेव मांससंज्ञा चास्ति। तत्रैव निगोतानामुत्पत्तिस्संजायते न तु अन्नादिषु स्थावरसंज्ञकेषु, तेषामेकेन्द्रियत्वात्। तस्य शरीरस्य स एव स्वामी! तस्यैवैकस्यैकेन्द्रियस्य तत्र हिंसा भवति नान्यस्य। कन्दादिषु अनन्तकायिकेषु साधारणवनस्पतिषु तु अनन्तानामेकेन्द्रियाणां निगोदसंज्ञकानामुत्पत्तिः स्यात्। तद्भक्षणे तु तेषां मरणं नियतमस्ति। तस्मात्कारणात् सप्रतिष्ठितानां वनस्पतीनां भक्षणं त्याज्यमेव दयावद्भिः श्रावकैः। पक्वावस्थायान्तु वनस्पतीनां प्रासुकत्वं स्यादेव। तदा तच्छरीरं खलु निर्जीवमेव भवति। तद्भक्षणे न तदतिरिक्तानां प्राणिनां वधः स्यात् । न तत्र सततं मृतमांसवत्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवानामुत्पत्तिर्भवति। तस्मात् सिद्धं यन्नान्नादिभिस्समत्वं स्यान्मासादीनां कदाचित्। तन्मांसं परिहर्तव्यमेव स्वहितमिच्छता।८०।८१।

मांस भक्षण करना यह दूसरा व्यसन है जो प्राणी को धर्म मार्ग से भ्रष्टकर अधर्म के मार्ग में ले जाता है। जो लोग मांस भक्षण करते हैं वे दयावान नहीं होते। दया और हिंसा दोनों में परस्पर विरोध है। जैसे प्रकाश और अंधकार एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते, इसी प्रकार एक प्राणी में दया और हिंसा दोनों एक साथ निवास नहीं कर सकते। मांस भक्षण निश्चित हिंसा महापाप का रूप है अथवा उसकी चरम सीमा है।

प्राणिवध के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती। मांस वृक्षों में नहीं फलता, भूमि में उत्पन्न नहीं होता, आकाश से बरसता भी नहीं है, उसकी प्राप्ति प्राणी हिंसा से ही होती है। ऐसी स्थिति में दयावान् पुरुष भला किसी प्राणी की हिंसा मांसभक्षण के लिए कैसे करेगा? क्या कर्त्तव्य है। क्या नहीं । क्या कार्य हेय है, क्या उपादेय है, इस प्रकार विवेक जिसके हृदय में जागृत है वह दयावान् किसी भी प्राणी के एक रोम मात्र को भी दुःखी नहीं होने देता। पर शरीर का घात करना तो उसके लिए बहुत बड़ा पातक है।

मांस की उत्पत्ति में केवल उस प्राणी का ही वध नहीं है जिसका वह शरीर है बल्कि उसके मांस में उसी की जाति के अनन्त (निगोत[1]) संख्यक प्राणियों की सतत उत्पत्ति होती है और मांस भक्षण में उनका विनाश सुनिश्चित है। इस तरह माँस सेवी न केवल एक पंचेन्द्रिय का घातक है किन्तु उन असंख्य पंचेन्द्रियों का वह घातक हो जाता है जिन अनन्तानन्त निकोत जीवों के वहाँ अधिष्ठान हैं और जो उस मांस में सतत उत्पन्न होते रहते हैं 'इन जीवों की उत्पत्ति स्वयं मरे हुए प्राणी के मांस में भी होती है और मारे गए प्राणी के मांस में भी होती है तथा मांस की पकी हुई, पकती हुई, तथा कच्ची आदि सम्पूर्ण अवस्थाओं में भी होती है। अतएव मांसभक्षण में उनकी महान् हिंसा अवश्य होती है।

---

१. हमारे पूज्य पिताजी निगोद और निगोत या निकोत जीवों में बड़ा भेद है ऐसा कहते थे। इन्हें एकार्थ नहीं मानते थे। वे इनकी इस प्रकार व्याख्या करते थे कि साधारण वनस्पति को निगोद कहते हैं और निगोत या निकोत संज्ञा उन असंख्य जीवों की है जो त्रस हैं और जो त्रस जीवों के रक्त मांसादि संज्ञा प्राप्त शरीर में सतत होते रहते हैं। ये मृत शरीर में भी होते हैं पर निगोद मृत एकेन्द्रिय शरीर में नहीं होते केवल सजीवावस्था में होते हैं। सम्भवतः उन्हें यह बात गुरुवर्य्य पं० गोपालदासीजी से ज्ञात हुई थी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रसकायिक इन सब प्राणियों के शरीर में तज्जातीय असंख्य प्राणियों की तथा अनन्तानन्त निकोत जीवों की सदा उत्पत्ति होती है और सप्रतिष्ठित वनस्पति में वनस्पति जातीय अनन्त निगोद प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अतः मांस के समान सप्रतिष्ठित वनस्पति भी दयावान् पुरुष के लिए हेय है, केवल अप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके भक्षण में कवेल उस एक ही एकेन्द्रिय का घात होता है। कोई वनस्पति शरीर जीव द्वारा परित्यक्त हो जाने पर निर्जीव हो जाता है। उस मृत शरीर में निगोद जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। इस स्थिति को देखकर कोई मनुष्य कुतर्क द्वारा यह सिद्ध करना चाहे कि अन्नादिवत् मृतप्राणी के शरीर का मांस भी है तब अन्नादि की तरह उसके भक्षण में कोई दोष नहीं होना चाहिए। अथवा मांस की तरह अन्नादि भी न खाना चाहिए तो ये दोनों उक्तियाँ युक्तिशून्य हैं, सत्य के विरूद्ध हैं क्योंकि एकेन्द्रिय प्राणी के मृत शरीर में निगोदिया जीवों की उत्पत्ति नहीं होती ।

विश्व में शान्ति प्रदाता हेय को हेय और उपादेय को उपादेय बतानेवाला एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है। उक्त प्रकार का विवेक मांसभक्षी को उत्पन्न नहीं होता। अतः वह विश्व के लिए सदा खतरा बना रहता है। तब विश्वशान्ति कैसे हो। विश्वशान्ति के इच्छुक सम्पूर्ण मानव यदि शान्ति के मूल इस जीवदया रूप महामंत्र को जपकर मांसभक्षण परित्याग कर दें तो विश्वशान्ति होना अनिवार्य है। विश्व का संघर्ष विश्व के प्राणियों की कल्याण की भावना के बिना कैसे टाला जा सकता है और जो प्राणियों के मांस खाने से भी परहेज नहीं करता वह विश्व के उन प्राणियों की कल्याण कामना कैसे कर सकता है। दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

धर्मज्ञ और धर्म के नायक पुरुष जो आत्महित और विश्व का हित चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि अपने भीतर हेयोपादेय का विचार उत्पन्न करें और निन्दनीय दुःखदायी इस मांस सेवन के व्यसन का त्याग कर अपना और पराया हित करने के कार्यों में सतत सावधान रहें।८०।८१।

मद्यपान व्यसन के दोष

प्रश्नः—मद्यपानाद् भवेत् किं मे वदात्मशान्तये प्रभो।

हे प्रभो! मद्यपान से क्या हानि होगी? यह कृपा कर समझाइए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

चातुर्यं प्रवरा बुद्धिर्लज्जापि मद्यपायिनाम् ।
कुलजातिपवित्रत्वं नश्यति धर्मभावना ।।८२।।
स्वैराचाराः स्पृहा दुष्टा वर्धन्ते भवदुःखदाः ।
त्यक्त्वेति मद्यपानादि पिबन्तु स्वात्मनो रसम् ।।८३।। युग्मम् ।।

चातुर्यमित्यादि– तात्पर्यमेतत्-मोहश्चित्तभ्रमञ्जनयति तन्मद्यम्। मद्यपायिनां चित्तवृत्तिरेव दूषिता भवति। स्मृतिश्च लुप्यते। विस्मरणजनकत्वमेव मद्यस्य सौष्ठवं इति कथयन्ति मद्यपाः। यत्र स्वानुभूतकार्यस्यैव विस्मरणत्वं गुणस्तत्र प्राणिनि कुतः स्याच्चातुर्यम् । प्रवरा श्रेष्ठतमा आत्महितैषिणी हेयोपादेयविचारिणी निर्मला बुद्धिस्तत्र कथं तिष्ठेत्? सद्बुद्धेरुत्पत्तिस्तु दूरमास्ताम् सर्वसाधारणप्राणिषु पशुपक्षिषु कीटपतंगेष्वपि? भोजनपान-शयन-भोगादीनां व्यावहारिकदृष्ट्या यो विवेकः स्यात् न सोऽपि मद्यपे दृश्यते। विवेकस्याभावे तस्य निर्लज्जत्वमपि संजायते। विवेकशालिन एव लज्जा स्यात्। अविवेके कुतो लज्जा। निर्लज्जस्तु स वेश्यादिगमनं करोति। अभक्ष्यं भक्षयति। अमेध्यमपि सेवते। स्वमातर्यपि विषयसेवने प्रयतते। स्वायोग्यास्वपि वनितासु सन्तानोत्पत्तिं करोति। एवं स्वोत्कृष्टां जातिं कुलं च मलिनीकृत्य स्वैराचारी भवति। तस्य धर्मपालने भावना न कदाचित् स्यात्। दुःखप्रदायिन्यः हिंसापरिपूर्णाः कुत्सिता इच्छास्तु प्रवर्धन्ते। एवं मद्यस्य दोषान् परिज्ञाय तत् परित्यज्य ये चैतन्यरसपरिपूर्णानन्दस्वरूपस्य स्वात्मनो रसमेव पिबन्ति ते मद्यव्यसनविरक्ताः सन्तः स्वात्मसुखं अनुभवन्ति।८२।८३।

मद्यपान यह तीसरा व्यसन है। यह ऐसा कुव्यसन है जो आत्मा की बुद्धि पर सीधा कुठाराघात करता है। जैसे मस्तक विकृत हो जाने से बड़े बुद्धिमान् चतुर तत्त्वज्ञ पण्डित की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है इसी प्रकार मद्यपान से मनुष्य का चित्त विकृत हो जाता है और उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध शेष नहीं रहता। मद्यपायी लोग उत्तम मद्य उसे ही मानते हैं जो सुध-बुध भुला दे। जो मद्यप थोड़ा भी होश में रहता है मद्यप लोग उसके मद्य को हलके दर्जे का मानते हैं। जिस मद्य की उत्कृष्टता ही अज्ञान, विस्मरण या विवेकाभाव का प्रतीक है उसके सेवन करनेवाले मनुष्य में बुद्धि चातुर्य–विवेकशालिनी बुद्धि के सद्भाव की आशा करना स्वयं विकृत मस्तक का कार्य है। जैसे बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता वैसे ही मद्यपायी विवेकी नहीं हो सकता।

मद्यपायी को जब नशा उतरने पर होश आता है और उस समय उसे व्यावहारिक दृष्टि से कुछ बोध होने लगता है तब ही वह उस किञ्चिन्मात्र बुद्धि का नाश करने के लिए पुनः मद्यपान कर लेता है। होश में रहना उसे इष्ट ही नहीं, उसे तो अनिष्ट ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इष्ट है। जिसमें आत्मविस्मृति ही गुण है वहाँ चातुर्य और श्रेष्ठ बुद्धि की कल्पना या आशा करना मूर्खता है। सर्व साधारण पशु, पक्षी व कीट पतंगादि में भी खाने, पीने, सोने व विषय भोग करने का जो ज्ञान होता है उतना भी ज्ञान मद्यपायी को नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में मानवयोग्य बुद्धि की उसमें आशा कैसे की जा सकती है।

विवेक के अभाव में लज्जा चली जाती है। अविवेकी लज्जित क्यों होगा? कोई बुरा काम करनेवाले व्यक्ति को उसका विवेक जागृत होने पर ही लज्जा का अनुभव होता है, पर जिसे विवेक खोने के लिये ही मद्य पीना है उसे अपने दोष पर कभी लज्जा आयगी यह सोचा ही नहीं जा सकता। निर्लज्ज मनुष्य वेश्या सेवन, परधनापहरण, अभक्ष्य भक्षण, अपवित्र वस्तु सेवन, यहाँ तक कि स्वमाता से भी विषय सेवन जैसे निन्द्य कर्मों को करने में आगा पीछा नहीं देखता। व्यभिचारिणी स्त्रियों की संगति कर उनमें ही सन्तान उत्पन्न करता है और इस तरह अपनी जाति और कुल को कलंकित कर उसे अपवित्र बनाता है। आचार नामक वस्तु उसके लिए कुछ है ही नहीं। वह स्वैराचारी हो जाता है।

स्वैराचारी मनुष्य की धर्मभावना नष्ट हो जाती है। क्रूर और हिंसक भावनाएँ जागृत हो जाती हैं। उनकी मानसिक इच्छाएँ सदा दूषित रहती हैं। इच्छा न रहने पर भी वह अकृत्य को करता है, असेव्य को सेवन करता है। अगम्य में गमन करता है। वह अपनी सदिच्छाओं को पूरा करने के लिए स्वयं असमर्थ है। वह अपने आप में पराधीनता का अनुभव करता है। दुखी होता है और उस पराधीनता से छूटने की बार-बार इच्छा करता हुआ भी उससे अपने को छुड़ा नहीं पाता। जैसे पानी में बहनेवाले व्यक्ति को रीछ पकड़ ले तो उसे उससे पिण्ड छुड़ाना असम्भव सा जान पड़ता है। ऐसे ही नशे में बहनेवाले इस मद्यप को भी कहीं बचने का ठिकाना नहीं मालूम होता। वह दिन दिन घुलता है। परेशान होता है। इस दुःख से छूटना चाहता है पर अपनी असावधानी देख फिर आत्मविस्मृति के लिए मद्य ही पी लेता है और इस दुर्दशा से अन्त में मरण को प्राप्त हो दुर्गति का पात्र बनता है। ऐसा जानकर इस व्यसन का परिहार कर और स्वात्मानन्द रस का पान कर सुखी बनना चाहिए।८२।८३।

प्रश्नः—खेटक्रीडाफलं लोके किमस्तीति गुरो वद।

हे गुरो! खेटक्रीड़ा अर्थात् शिकार व्यसन का क्या फल है कृपाकर कहिए:—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

खेटक्रीडादिलुब्धानां क्रूरता मूढताऽगतिः ।
वर्द्धते पशुता दुष्टा सन्मार्गनाशिनी स्पृहा ।।८४।।
खेटक्रीडां भयाक्रान्तां ज्ञात्वेतिदुःखदां सदा ।
त्यक्त्वा स्वात्मपदे नित्यं रमन्तां स्वात्मशोधकाः ।।८५।।युग्मम्।।

खेटक्रीडेत्यादिः— तात्पर्यमेतत्, आखेटकं नाम व्यसनितया कौतुकार्थं वने-वने गत्वा पशूनां पक्षिणां वा वधः। एष व्यसनी खलु मांससेवनादिप्रयोजनतः हरिणादीन् पशून् पक्षिणश्च खड्गादिना वाणादिना अग्न्यायुधेन च मारयति। स्वशौर्यप्रकाशचार्थं सिंहादिक्रूरजन्तूनामपि वधं करोति तथा लोके कीर्तिसंपादनार्थं च स एतान् विनाशयति। एतदतिरिक्तं केवलं कौतुकार्थं परदुःखदायिनीं दुरिच्छां पूरयितुमपि परप्राणानपहरति। अस्मात्कुकृत्यतस्तु तस्य मनसि सन्मार्गलोपिनी असन्मार्गप्रवर्द्धिनी इच्छा वर्द्धते। पशूनां सम्पर्कात् पशुवद्दुष्टकार्यकरणात् तद्वदविवेकित्वेन च दुष्टा पशुता तस्य आयाति। क्रूरता वर्द्धते। कषायाणामतिमात्रया मूढता प्रसरति। अगतिश्च भवति स तद्विना। एतत्फलमपि महद्दुःखदमस्ति। अस्मिन्नेव जन्मनि स वनजन्तूनामाहारो भवति। मृत्वा च नरके पतति। अथवा तिर्यग्गतौ द्वीन्द्रियादिषु कीटयोनिषु गत्वा सोऽन्यैर्भक्ष्यते। इत्यनेन प्रकारेण अनेकानेकदुःखदां भयाक्रान्तां एनां वधक्रीडां ज्ञात्वा त्यजेयुरेतद्व्यसनम्। तथा स्वात्मशोधनतत्परास्सन्तः नित्यं स्वात्मपद एव रमन्ताम् ।८४।८५।

मांसादि सेवन करने का व्यसन जिन्हें पड़ गया है वे शिकार खेलने की आदत बना लेते हैं। कोई अपने शौर्य प्रकाशन की इच्छा से, कोई अपनी हिंसक समाज में कीर्ति सम्पादन की इच्छा से और कोई केवल अपना शौक पूरा करने के इरादे से अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूरा करने के इरादे से दूसरे प्राणियों का वध करते हैं। इस कुकृत्य को करते हुए उनमें दया के स्थान में कौतूहल जागृत होता है। क्रूरता जागती है। एक तड़पते हुए प्राणी को देखकर सज्जन को जहाँ करुणा उत्पन्न होती है वहाँ व्यसनी को आनन्द आता है। यह आसुरी आनन्द ही क्रूरता है। यही सन्मार्ग से भ्रष्ट करानेवाली महा मूढ़ता है। हिंसक जन्तुओं की तरह यह पशुता उसकी दिन-दिन बढ़ती जाती है। प्रकारान्तर से वह कुछ समय में नरतनधारी होने पर भी अपने परिणामों की जाति द्वारा पशु से भी भयंकर हिंसक और अविवेकी बन जाता है। इस कुकृत्य का फल परलोक में नरकादि गति की प्राप्ति है। ऐसे कुमानुष का मरण इस लोक में भी बहुधा वन जन्तुओं द्वारा ही होता है। यदि वह तिर्यग्गति में भी उत्पन्न हुआ तो स्वयं निर्बल होता है और दूसरे सबल प्राणियों का भोग्य बनता है जिनको उसने पूर्वजन्म में सताया था। द्वीन्द्रियादि जन्म में कीटादि होकर भी वह पक्षियों का आहार बनता है। इस प्रकार महान् भय और दुःख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को देनेवाले इस कुव्यसन का त्यागकर आत्मशोधकों को स्वात्मा में ही रमण करना चाहिए।८४।८५।

प्रश्नः—वेश्यासङ्गफलं किं मे वदास्ति सिद्धये गुरो।

हे गुरुदेव! वेश्यासङ्ग का क्या फल है वह मेरे आत्महित की दृष्टि से कहिए—

(वसन्ततिलका)

वेश्यारतस्य शुचिता सुखदा न शान्तिः
बुद्धेर्बलं सुजनता नरताऽपि नश्येत्
ज्ञात्वेति धर्मरसिकैर्न हि तत्प्रसङ्गः
कार्यो यतः खलु भवेत् विमलः किलात्मा ।।८६।।

वेश्येत्यादिः— कामातुरो पुरुषः स्त्री च परस्त्रीं परपुरुषं च सेवते। या तु व्यभिचारिणी स्त्री अभर्तृका अपि पुरीषालयवत् नगरनिवासिभिर्विटपुरुषैः सेव्यते तथा यस्या जीवनमपि अनेनैव दुष्कर्मणा संपद्यते सा वेश्याशब्देन लोके प्रसिद्धाऽस्ति। वेश्यारतस्य शुचिता नश्यत्येव। सुखदायिनी शान्तिस्तु तत्र पदं न धत्ते। तद्व्यसनेन नरस्य बुद्धेर्बलमपि नश्यति। तस्य मानवताऽपि लुप्यते पशुता चायाति। इति ज्ञात्वा धर्मरसास्वादकैः कदापि तत्प्रसङ्गः न कार्यः। अतः तत्परित्यागेन आत्मा विमलः पापविरहितो भवेत्।८६।

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जो व्यभिचार द्वारा ही अपना उदर निर्वाह करती हैं, जो बिना पति की होते हुए नगर के अनेक विटपुरुषों द्वारा नगरपालिका के पुरीषालयों की भाँति सेवित होती हैं वे वेश्या शब्द के द्वारा व्यवहृत होती हैं। वेश्याव्यसनी मनुष्य बहुत दुःखी होता है। सबसे प्रथम तो वेश्या अपने ग्राहक से किञ्चिन्मात्र स्नेह न होते हुए भी अत्यन्त स्नेह का प्रदर्शन करती है जिससे वह व्यसनी जाल में मछली की तरह उसके जाल में फँस जाता है। वह उस जाल से अपने को फिर मुक्त नहीं कर पाता। वह अपना सर्वस्व धन, धर्म, वैभव, ज्ञान, विवेक, कीर्ति, दया, सद्व्यवहार और नागरिकता उस कुटिला के चरणों में चढ़ा देता है।

चारुदत्त की कथा तो शास्त्रों में प्रसिद्ध है, परन्तु वेश्याव्यसनी की बरबादी के अनेक लौकिक उदाहरण प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं। वेश्या अपने ग्राहक को मद्यपान के व्यसन में फँसाए बिना नहीं रहती। मद्यपान से उसे यह लाभ होता है कि मद्यप उसके नशे में अपना होशहवाश खो बैठता है। चित्तभ्रम होने से कभी अपने भले की बात सोच ही नहीं पाता। यदि वह मद्यपान न करे तो अधिक सम्भव है कि वह कभी अपनी बरबादी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपकीर्ति और धन की लूट आदि हानियों को देखकर सतर्क हो जाय और वेश्या की संगति छोड़ दे। इस भय से वेश्या उसे शराब पीने की बुरी आदत जरूर डाल देती है। जब वह मनुष्य शराब की बेहोशी में अनवरत व्यभिचार करते-करते शरीर से भी बेकाम हो जाता है, निर्धन हो जाता है तथा समाज, सज्जन गोष्ठी, परिवार और मित्र आदि सबसे वञ्चित हो दर-दर की भीख माँगने योग्य हो जाता है तब वह वेश्या उसे घर से इस प्रकार निकाल देती है जैसे किल्ली मृत पशु को रक्त विहीन देखकर छोड़ देती है।

घर के लोग हिस्सा बाँट कर पहिले से ही उसे अलग कर देते हैं ताकि वह अपने हिस्से का ही धन बरबाद करे सब घर का धन व आजीविका नष्ट न कर सके। वेश्या द्वारा परित्यक्त निर्धन व्यक्ति को कोई कुटुंबी आश्रय देने को तैयार नहीं होता। इतना ही नहीं, उस व्यभिचारी हीनाचारी मद्यपायी को समाज का भी कोई व्यक्ति पास बैठाने को तैयार नहीं होता। उससे लोग ऐसे बचते हैं जैसे छूत की बीमारी से बचा जाता है। कोई धनी उससे लेने-देन व्यापार का व्यवहार नहीं करना चाहता, क्योंकि वह जानता है कि इसके पास पैसा तो है ही नहीं साथ ही दुर्गुणी होने से यह विश्वास का पात्र भी नहीं रहा। व्यसनी होने से यह अधिक संभव है जो यह हमारे द्वारा प्रदत्त धन का उपयोग अपनी आजीविकार्थ न करके मद्यपान में ही करे या फिर किसी वेश्या को दे दे।

आजीविका के अभाव में या तो वह लज्जाविहीन हो दर-दर भिक्षाटन करता है या फिर चोरी या द्यूत द्वारा अपना कष्ट दूर करने का प्रयत्न करता है। वेश्या व्यसनी यदि चोरी या द्यूत क्रीड़ा द्वारा धनोपार्जन कर भी ले तो वह उसे वेश्या को ही देगा या मद्यपान करेगा। वेश्याओं के पास ऐसे ही अनेक चोर, उचक्के, डाकू, शराबी और मांसभक्षी पुरुष आते जाते रहते हैं जो उसकी दुःसंगति को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

वेश्या, कंचन और मद्य ये तीन यदि एक एक भी हो तो मनुष्य को सर्वथा अविवेकी, निर्दय, निर्लज्ज और पराधीन बना देते हैं। कदाचित् तीनों का योग हो जाय तब तो विनाश के लिए परम औषधि, जिसे महाविष भी कहा जा सकता है, तैयार हो गई ऐसा मान लेना चाहिए। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, सुख और शान्ति का अभिलाषी है उसे परिवार चाहिए, समाज चाहिए और सत्संगति चाहिए। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रहना चाहता। वह साधु भी हो जाय तो भी उसे वही साधु समाज अपने सुख शान्ति के लिए चाहिए। फिर संसारी गृहस्थ की तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बात ही क्या है? वह तो सबसे अलग अकेला रह ही नहीं सकता। पर यह वेश्याव्यसन ऐसा है जो यह उस प्राणी को संसार में इस जीवित अवस्था में ही सबसे विमुक्त कराकर अकेला कर देता है। मनुष्य परिवार मित्र व समाज से परित्यक्त हो बहुत त्रास पाता है और अन्त में चलते-चलते ऐसे मनुष्यों के संपर्क में पहुँच जाता है जो ऐसे ही त्रस्त हो सबसे विमुक्त हैं और अनेक पापों द्वारा अपना जीवन यापन करते हैं। ऐसी संगति ही सर्वनाश की निशानी है। आत्मकल्याण की कामना करनेवाले मनुष्यों को इस विनाशक व्यसन से सदा बचना चाहिए, और जिन कार्यों से अपना हित हो उनमें सावधान रहना चाहिए। व्यसनी मनुष्य का आत्मा दुर्गुणों का पात बन जाता है अतः अपने आत्मा की पवित्रता की रक्षा के हेतु इस महाव्यसन का दूर से ही परित्याग करना चाहिए।८६।

प्रश्नः—स्तेयफलं गुरो किं स्यात् वदास्ति शान्तये मुदा।

हे गुरुदेव! चोरी करने का क्या फल है कृपाकर शान्ति प्राप्ति के लिए मुझसे कहें—

(अनुष्टुप्)

स्ववित्तमपि मे नास्ति पुण्यलब्धं कथं परम् ।
ज्ञात्वेति तत्त्वतः स्तेयं न कुर्वन्त्यात्मवेदिनः ।।८७।
स्वपरज्ञानशून्या हि स्तेयं कुर्वन्ति पापिनः ।
ततः स्वानन्दतृप्तः सन् वसतु स्वात्ममन्दिरे ।।८८।।

स्ववित्तमित्यादिः— यल्लोके स्ववित्तमित्युच्यते तदपि यथार्थतः पुण्याल्लब्धमस्ति, तथापि तत्परमेव। स्वात्मस्वभावबहिर्भूतं न किञ्चन अपि मम। संपत्तिः विपत्तिश्च पुण्यपापयोः फलम्। तत्तत्सामग्री कर्मसंयोगजा। कर्म एव आत्मनः शत्रुः। तेनैव भ्रमति जीवः। इत्यात्मतत्त्ववेदिनः पुरुषाः स्वीयार्जितमपि पुण्यलब्धं धनं परित्यज्य धर्मसेवामङ्गीकुर्वन्ति कथं तैः परधनापहरणरूपं स्तेयं स्यात्। स्वपरविवेकरहिताः खलु पुमांसः पापिनः स्तेयं कुर्वन्ति ततः स्तेयादिकं विहाय स्वात्मानन्दभोगेषु तृप्तः सन् स्वात्मरूपे परमविश्रामस्थले मन्दिरे वसतु।८७/८८।

लोक में जो धन माना जाता है वह भी पुण्य कर्मोदय से प्राप्त होता है। बिना पुण्य के सातोत्पादक सामग्री का संयोग प्राप्त नहीं होता। धन यदि लौकिक सुख को उत्पन्न करता है तो पुण्य का फल है। यदि वह धन असाता और आकुलता प्राप्त कराता है तो पाप का फल है। एकान्त नहीं है जो यह धन-संपत्ति राज्य, परिवार, पुत्र, कलत्र सब पुण्य के फल हैं। यदि इनसे संसारी प्राणी साता का अनुभव करे तो ही ये पुण्य सामग्री हैं, अन्यथा असाता की उत्पादक हों तो ये सब पापोदय की सामग्री हैं। और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनसे विलग होना ही पुण्य का उदय है। सर्व साधारण मनुष्य धनादि से अपने को सुखी अनुभव करता है। इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर ही श्री आचार्य महाराज ने इसे पुण्य से प्राप्त होने वाली सामग्री लिखा है। जंगल में जब डाकू शस्त्र लेकर धन लूटने आते हैं उस समय यदि कोई धनी सामने आ जाता है तो वह शस्त्राघात से पीड़ित किया जाता है पर साथ में जो निर्धन है वह छोड़ दिया जाता है। ऐसे अवसर पर धन विपत्ति लानेवाला होने से पापोदय की निशानी हुई और निर्धनता पुण्य की सामग्री हुई। नगर में आग लग जाय तो धनी का धन महान् दुःखोत्पादक होने से पाप की सामग्री है और निर्धनता सुखोत्पादक होने से पुण्य की सामग्री है। मोक्षमार्ग साधन के लिए बाधक अनेक विकल्प जालों में फँसाने वाली अनिष्ट कारक विभव सामग्री पापरूप है और शीघ्र ही गार्हस्थिक जाल से विमुक्त करा देनेवाली इष्ट कारक निर्धनता पुण्य है।

सारांश यह है कि कोई भी सामग्री एकान्त रूप से पुण्य या पाप रूप नहीं है। जो संसारी प्राणी को इष्टकारक सुखसाधन हो जाय वह सब पुण्य का फल है और जो भी सामग्री अनिष्टकारक दुःख साधन रूप हो वह पाप का फल है। पुण्य से प्राप्त सामग्री को भी सम्यग्दृष्टि अपनी वस्तु नहीं मानता। वह जानता है कि यह सब स्वात्म स्वरूप व्यतिरिक्त पर पदार्थ हैं। मेरा तो केवल आत्मा है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्रात्मक रत्नत्रयस्वरूप धर्म ही मेरा वैभव है। ऐसे विवेकी मनुष्य के द्वारा परधनापहरण रूप निन्द्य स्तेयकर्म कैसे हो सकता है।

जिन मिथ्यामतियों को स्वपर का विवेक नहीं जागृत हुआ और जिन्होंने अभी तक आत्मतत्त्व को ही नहीं जाना वे अपने मनुष्य के जन्म को ही अपना जन्म मानते हैं, शरीर को ही अपना स्वरूप समझते हैं और कुटुम्ब परिजन को अपना स्नेहभाजन जानते हैं। उन्हें हितैषी समझकर उनसे मोह करते हैं। उनके संयोग में सुखी और वियोग में दुःखी होते हैं। धन, सम्पत्ति, मकान और राजविभव आदि जो जो सामग्री उन्हें उनके कर्मोदय से प्राप्त है उस सब में राग द्वेषमय प्रवृत्ति करते हैं। यह अज्ञान भाव जिसके हृदय में जमा है वे अविवेकी ही धनादि को सम्पूर्ण सुख का साधन मान उसमें मूर्च्छित होते हैं। वे उन पर पदार्थों में ऐसे तन्मय हैं जो उनके लाभ में अपना परम लाभ और उनकी हानि में अपनी परम हानि समझकर महान् दुःखी होते हैं। ऐसे ही मोही जीव उसकी प्राप्ति के लिए परधनापहरणरूप स्तेय पाप को अंगीकार कर लेते हैं। एक बार इस पाप को करनेवाला उसे बार-बार करता है। चोरी उसकी आदत में आ जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़ा से बड़ा भी वैभवशाली यदि इस व्यसन का शिकार हुआ तो वह सदा परधन पर गृद्ध की तरह दृष्टि रखता है। छटांक भर भी सौदा बेचेगा तो ४।। तोला देगा, सेर भर देगा तो १५।। छटांक तौलकर देगा। छटांक भर लेगा तो ५।। तोला तौल देगा, और सेर भर लेगा तो १६।। छटांक तौल लेगा। उस आधे तोला सामान को, चाहे वह कौड़ी कीमत का हो, पर उसे बिना लिए नहीं रह सकता। यह इस व्यसन की महिमा है। लाखों रुपयों का व्यसाय करने वाले धनी मानी इज्जतदार व्यक्ति भी एक पैसे की भाजी खरीदने में तौल से ज्यादा चार पत्ते भाजी चोरी से उठाकर अपने पल्ले में रखते हुए देखे जाते हैं। वे भले ही दस बीस हजार रुपया दान दे देते हैं, खर्च करते हैं, किन्तु चोरी का व्यसन (बुरी लत) होने से वे भाजी के चार पत्तों की चोरी छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

आत्मस्वरूप के बोध से विमुख व स्व-पर का भेद न जानने वाले मिथ्यादृष्टियों की ऐसी ही दशा है। वे बिना चोरी के जीवन निर्वाह नहीं करते। किन्तु स्व-परविवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा देन-लेन व व्यापार-व्यवहार में यह चिन्ता रखता है कि मेरे पास अन्याय से कोई पर वस्तु न आ जाय, किसी की एक कौड़ी भी मेरे पास न रह जाय। वह विवेकी कभी स्तेय को भी स्वप्न में भी पास नहीं आने देता। वह स्वात्मानन्द के भोग में तृप्त होकर ही जीवन यापन करता है। यही कारण है कि वह शीघ्र ही भवभ्रमण का विच्छेद कर शाश्वत मुक्ति सुख का पात्र हो जाता है।८७।८८।

प्रश्नः--परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं फलं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! परस्त्री सेवन का क्या फल है कृपाकर मुझसे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

रक्तोऽस्ति यः कोऽपि किलान्यनार्यां तस्यापमानोऽपि पदे-पदे स्यात्।
दुःखप्रदा वैरविरोधवृद्धिः ज्ञात्वेति कार्यो न च तत्प्रसङ्गः ।। ८९।।

रक्तोऽस्तीत्यादिः— यः खलु नरकीटकः परस्त्रीषु रमते तस्य पदे पदेऽपकीर्तिः स्यात्। स लोके अपमानपदमाप्नोति उपानद्भिश्च निहन्यते। स खलु पापी स्वयं चारित्रहीनो भवति परांश्चापि पापपङ्के निपातयति। परस्त्रीसङ्गमात् वैरञ्च भवति। तस्यानादिपरम्परया प्रवाहरूपेण समायातं कुलपावित्र्यं नश्यति। अनाचारपरम्पराया प्रवर्त्तको भूत्वा स नरके निपतति। आचारविरहितास्तु ये जनास्तेषां भाविनी कुलसन्ततिश्च धर्ममार्गपराङ्मुखी भूत्वा संसाराटव्यामेव भ्रमति चिरकालमिति ज्ञात्वा कदापि तत्प्रसंगः न कार्यः। स्वस्त्रीषु संतुष्य कुलाचारपावित्र्यं रक्षणीयम् ।।८९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो मनुष्य परस्त्री में रमण करता है या जो स्त्री पर पुरुष की इच्छा करती है उनका पतन अवश्यंभावी है। लोक में ये अपकीर्ति के भाजन बनते हैं। पद-पद पर उनका अपमान होता है। अनाचार की वृद्धि होती है। कुल और आचार की पवित्रता नष्ट होती है। यह पापी स्वयं तो गिरता ही है साथ ही परस्त्रियों को तथा अपनी संतान परम्परा को भी पापपंक में गिरा जाता है। व्यभिचारी माता-पिता की सन्तान हजारों वर्ष तक उनके नाम का स्मरण कर रोती है तथा उनके उस दुष्कृतपर थूकती है। वह इस जन्म में सर्वथा निरपराध और सदाचारिणी होते हुए भी पूर्व जन्म के पापोदय से ऐसे हीन पुरुषों की सन्तान हो कर पद-पद पर दुःखी और अपमानित होती है। उस अनर्थपरम्परा के उत्पादक होने से वह व्यक्ति अवश्य नरक का पात्र होता है।

जैसे हिंसा आदि अन्य पापों का सम्बन्ध उस व्यक्ति को ही हानि पहुँचानेवाला होता है वैसे व्यभिचार केवल उस व्यक्ति को ही हानि पहुँचाने वाला नहीं है, बल्कि उसकी सन्तान परम्परा को भी उससे हानि उठानी पड़ती है। कुल का पावित्र्य संतान की पवित्रता से है और संतान की पवित्रता माता-पिता के सदाचार पर है। असदाचारी माता-पिता अपने भावी कुल की अवनति और अपवित्रता के हेतु होते हैं।

व्यभिचार से परस्पर वैर भी बढ़ता है और विरोध भी होता है। सामाजिक पवित्रता और आत्मशान्ति नष्ट होती है। वेश्याव्यसनी की अपेक्षा यह परस्त्रीव्यसनी घोर पापी है। इसका कारण है कि यद्यपि वेश्याव्यसनी का पतन परस्त्री- व्यसनी की अपेक्षा अत्यधिक होता है तथापि उसका पतन उसके आत्मा तक ही सीमित है। वह समाज को गंदा नहीं करता। व्यक्तिगत हानि कर स्वयं को जरूर मिटा लेता है, किन्तु परस्त्री गमन करनेवाला समाज का कोढ़ है, जो उसे भी मिटा करके रहता है।

सारांश यह है कि वेश्याव्यसनी अपना व्यक्तिगत पूर्ण विनाश करता है और परस्त्री व्यसन वाला अपना विनाश तो करता ही है साथ ही अपने कुल पर कलंक लगाता है। अपनी संतान को व्यभिचार जात संतान बनाता है। समाज में अनाचार फैलाने का हेतु बनता है। अतः वह अत्यधिक पातक का भाजन होता है। उक्त व्यसन का परिपूर्ण स्वरूप विचार कर विवेकी पुरुषों को इससे सदा ही दूर रहना चाहिए।८९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

(उपजाति)

प्रोक्तं व्यथादं भवदं सदैवाविश्वासपात्रं व्यसनस्वरूपम् ।
त्याज्यानि बुद्ध्वा व्यसनानि सप्त यतो भवेत्ते हृदये प्रशान्तिः।।९०।।

प्रोक्तमित्यादिः— इत्येवप्रकारेण अनेकदुःखोत्पादकं सप्तव्यसनस्वरूपं नातिविस्तरेणात्र निरूपितम्। एतानि व्यसनानि अविश्वासस्य परमस्थानानि सन्ति। न कोऽपि प्रत्येति व्यसनिनः तस्मात्तत् स्वरूपं विचार्य व्यसनानां परित्याग एव कर्तव्यः। व्यसनपरित्यागादेव ते हृदये शान्तिर्भविष्यतीति आचार्याणामुपदेशोऽस्ति।९०।

उक्त प्रकार से सप्त व्यसनों के स्वरूप का संक्षेप में कथन किया। व्यसन कोई भी हो मनुष्य को कल्याणमार्ग से दूर फेंक देता है। लौकिक व्यवहार की दृष्टि से भी व्यसनी मनुष्य समाज का सदस्य बनने योग्य नहीं होता। वह स्वयं पतनशील होता है और उसकी दुःसंगति भी दूसरों को पतनशील बनाती है। ऐसा विचार करके ही समाज व्यसनी मनुष्यों को जाति से बहिर्मुख कर उसके साथ अपना खान-पान व लौकिक-धार्मिक व्यवहार आदि छोड़ देती है। यह परम्परा आज भी चालू है।

आजकल सुधार की दृष्टि से जाति बहिष्कार तथा धार्मिक स्थानों का बहिष्कार अनुचित माना जाता है। कहा जाता है कि इससे व्यक्ति की बहुत बड़ी हानि होती है। वह उठ नहीं सकता, उसका उत्थान नहीं हो सकता। यद्यपि उक्त तर्क संगत है, तदनुसार व्यक्ति के उत्थान के लिये नियमों में परिवर्तन करना आवश्यक है। तथापि यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि व्यक्ति को ध्यान में रखकर समाज के चरित्र की चिन्ता न करना भी बहुत बड़ी हानि है। समाज व बहुमत व्यक्ति को अपनाने के लिए प्रस्तुत है पर व्यक्ति के लाभ के लिए, वह भी केवल समाज में समान हक प्राप्त हो जाय इतने मात्र के लिए, समाज की पवित्रता का बलिदान करना लाभप्रद नहीं है। इस प्रकार स्वयं के लिये व समाज के लिए, अनेक व्यथाओं के पैदा करनेवाले व्यसनों का सब प्रकार से त्याग करना ही श्रेष्ठतम कल्याण का मार्ग है।९०।

इति व्यसनसप्तकनिरूपणम् ।

पाँच पापों का स्वरूप वर्णन

प्रश्नः—पञ्चपापस्वरूपं मे विद्यते कीदृशं वद।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच पाप कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है, कृपया कहिए—

(९१ इन्द्रवज्रा, ९२ उपजातिः)

लोभाभिमानात्परपीडनं स्याद्धिंसैव दुष्टाऽखिलविश्वहन्त्री ।
दुःखस्य मूलं किल सर्वजन्तोर्हिंसा न कस्यापि कदापि कार्या ।।९१।।
पूर्वोक्तहिंसा किल सर्वतः स्यात् त्याज्या मुनीनां गृहिणां च देशात्।
भव्यैरहिंसा हि यथोक्तरीत्या निजात्मशान्त्यै सुखदा सुपाल्या ।।९२।।

लोभाभिमानादित्यादिः— 'परप्राणपीडनं हिंसा' हिंसायाः स्वरूपं वितम्। सा च सांसारिकस्वार्थसिद्ध्यर्थं लोभावेशात् क्रियते जनैः पंचेन्द्रियाणां विषयसंप्राप्तये प्रयतमानस्य कस्यचित् कार्ये यदि कश्चिद्बाधकः स्यात् तदा स लोभात् बाधकस्य प्राणिनो वधं करोति पीडयति वा। मानी वा कश्चित् स्वस्याहंकारसंरक्षणार्थं च परान् पीडयति। तद्विषयक्रोधाद्यावेशादपि प्राणिनां महती हिंसा भवति इति दृश्यते पदे-पदे। सा हिंसा दुःखस्य मूलमस्ति सर्वप्राणिनाम्। यदि जगति हिंसायाः औचित्यं स्वीकृतं स्यात् तदा सा अखिलमपि विश्वं स्वरूपेण व्याप्नोति। अतएव अखिलविश्वहन्त्री सा हिंसा कस्यापि प्राणिनः न कदापि कार्या। अहिंसायाः परिपालनं द्विविधं भवति-सर्वतो हिंसापरित्यागरूपं मुनीनां व्रतम्, एकदेशहिंसापरित्यागरूपं तु गृहिणाम्। आत्महितैषिभिर्भव्यैः यथोक्तरीत्या स्वस्वपदानुसारेण पालनीयं तद्व्रतम्, यतो निजात्मनि सुखदायिनी शान्तिः सदा स्यात्। ९१।९२।

राग और द्वेष दोनों हिंसा के पर्यायवाची नाम हैं। लोभ के कारण सांसारिक स्वार्थ के लिए अर्थात् पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले किसी व्यक्ति के मार्ग में यदि कोई बाधक सिद्ध होता हो तो वह उसे विषय लोभ के कारण मार देता है; पीड़ित करता है या अनेक प्रकार से त्रास देता है। तथा अनेक मानी पुरुष अपने अहंकार के वश होकर हिंसा करते हुए देखे जाते हैं और क्रोधादि कषायों के कारण तो पद-पद में हिंसा होती है यह स्पष्ट ही है।

हिंसा दुःख का मूल है। यदि हिंसा उचित मान ली जाय तो वन में लगी हुई अग्नि की कणिका की तरह वह सम्पूर्ण जगत् का विनाश करने में समर्थ है। वह सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रलयकाल का दृश्य दिखा सकती है अतः उसका औचित्य बिलकुल नहीं किया जा सकता।

अहिंसा का पालन दो प्रकार से होता है—सम्पूर्ण हिंसा का त्याग और अल्प हिंसा का त्याग। हिंसा का जो सम्पूर्ण त्याग कर सकते हैं वे साधु या मुनि हैं और जो केवल त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग कर सकते हैं वे गृहस्थ हैं। अपनी अपनी शक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार और पद के अनुसार प्रत्येक आत्महितैषी को अहिंसा का पालन करना चाहिए जिससे संसार में सुख और शान्ति की वृद्धि हो।९१।९२।

प्रश्नः— हिंसायाः कति भेदाः कौ सन्ति मे भो गुरो! वद।
सर्वेषां सुखसिद्ध्यर्थं कथ्यन्ते क्रमतोऽद्य भोः।

हिंसा के कितने भेद हैं? हे गुरो! कृपा कर कहें। इस प्रश्न के उत्तर में श्री गुरु कहते हैं— हे भव्य! सबके सुख पूर्वक ज्ञान के लिए मैं क्रमशः कहता हूँ सुनो—

(उपजातिः)

कृष्यादिवृत्तौ विहिता प्रवृत्तिरुद्योगिहिंसा कथितात्महन्त्री ।
आरम्भिहिंसाऽखिलपञ्चसूनकार्ये प्रवृत्तिर्गृहिणां व्यथादा ।।९३।।
स्वर्मोक्षमार्गादिकरक्षणार्थं नरत्वधर्मादिकशिक्षणार्थं ।
जगद्धितार्थं क्रियते गृहस्थैर्विरोधिहिंसा कथिता मुनीन्द्रैः ।।९४।।
रागादिभावादथवा प्रमादाच्चित्ताक्षतृप्त्यै क्रियते जनैर्या ।
त्रासादिहिंसाखिलदुःखदात्री संकल्पिहिंसा भवबन्धिनी सा ।।९५।।
आदौ प्रगीता त्रिविधाऽपि हिंसाऽत्याज्याभवेन्मध्यमश्रावकैर्हि ।
रोगादिशान्त्यै कटुकौषधीव संकल्पिहिंसा न कदापि कार्या ।।९६।।

कृष्यादीत्यादिः— तात्पर्यमेतत् चतुर्विधा हिंसा भवति-(१) उद्योगिहिंसा (२) आरम्भिहिंसा (३) विरोधिहिंसा (४) सङ्कल्पिहिंसा च। स्वरूपज्ञासाम्-कृष्यादिना सेवया शिल्पेन वाणिज्येन लेखनादिकलया प्रजासंरक्षार्थं शस्त्रेण वा स्वाजीविकासम्पादनं उद्योगः स्यात्। उद्योगकरणे तु हिंसा भवत्येव। सा हिंसा गृहस्थधर्माराधकैः परिहर्तुमशक्या भवति सा **उद्योगिहिंसेति**। द्वितीया हिंसा किल गृहस्थारंभेषु कार्येषु भवति। भोजनार्थं अग्निप्रज्वालने जलादीनां संग्रहे वनस्पतिच्छेदने गृहसम्मार्जने अन्नादिशोधने वस्त्रप्रक्षालने स्नानादिकर्मणि रोगादीनामुपचारे बालानां परिपालने देवादिसत्कृतौ दानादिकार्ये दीनानामुद्धरणे गृहनिर्माणादिषु अवश्यंभाविषु गार्हस्थिककार्येषु जीवसंरक्षणोद्योगेऽपि हिंसा सञ्जायते सा **आरम्भिहिंसेति**। तृतीया तु विरोधिहिंसा कथ्यते, तत्स्वरूपञ्चैतत्स्वर्मोक्षप्रदायकेषु धर्मकार्येषु विघ्नकारकाणामेव रक्षा यदि धर्मः स्यात्तदा धर्मस्यैव लोपः स्यात्।अतस्तद्रक्षणार्थं दुर्जनानां मानवधर्मशिक्षणार्थं तथा जगद्धिताय शान्तिवर्धनार्थं या हिंसा भवति सा मुनीन्द्रैः **विरोधिहिंसा** कथिता। चतुर्थी हिंसा तु सर्वथा सर्वप्रयत्नेन परिहार्या। सा च स्यात् **सङ्कल्पिहिंसा**। तत्स्वरूपं यथा—चित्ताक्षतृप्त्यै मनोरञ्जनाय रागादिभावादथवा प्रमादात् मांसादिना रसनादीन्द्रियपरितृप्त्यर्थं च जनैर्या त्रसादिहिंसा क्रियते सा **संकल्पिहिंसा** कथ्यते। सा हिंसा संसारदुःखपरम्परायाः हेतुः। एषा कदापि न कार्या श्रावकैरपि किं पुनरन्यैः। एतदतिरिक्तास्तिस्रः रोगादिसम्पन्ने कटुकौषधीप्रयोगवत् त्याज्या अप्यपरिहार्याः सन्ति।९३।९४।९५।९६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा चार प्रकार से विभाजित की गई है-उद्योगी, आरम्भी, विरोधी और सङ्कल्पी। इन चारों का क्रमशः स्वरूप कहते हैं-१ **उद्योगीहिंसा**-खेती, सेवा, शिल्प कार्य, व्यापार और लेखनादि कला के करने में तथा धर्म, देश व प्रजा के संरक्षणार्थ शस्त्र ग्रहण आदि के द्वारा अपनी आजीविका करने में जो हिंसा होती है वह सब उद्योगी हिंसा है। गृहस्थ इसे त्यागने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि गृहस्थों के लिए आजीविका मुख्य प्रश्न है। गृहस्थ का धर्म सृष्टि का पालन, संरक्षण और धर्मात्माओं की सेवा करना है। यदि गृहस्थ निरुद्योगी हो जाय तो उक्त सभी कार्य नहीं हो सकते। गृहसम्बन्धी उद्यम न करनेवाला व्यक्ति या तो साधु हो सकता है, या दर-दर का भिखारी। सारांश यह है कि इस हिंसा का त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता। २-**आरम्भी हिंसा**-गृहस्थी के कार्यों में जैसे रसोई बनाना, पानी भरना, घर बनाना, घर की स्वच्छता, वस्त्रों की स्वच्छता, शरीर की स्वच्छता, साग सब्जी बनाना, जमीन खोदना, रोगी की परिचर्या करना, देवपूजा, गुरु का सम्मान, आहारादि दान, पशुपालन, गरीबों की रक्षा और बच्चों का परिपालन इत्यादि कार्यों में भी हिंसा होती है, किन्तु यह हिंसा गृहस्थ के लिए अपरिहार्य है। वह उसका परित्याग करने में असमर्थ है। यद्यपि व्यापार और आरंभ के कार्य गृहस्थ दयावान् होकर जीवों की हिंसा का बचाव करते हुए देखभाल कर ही करेगा, क्योंकि ऐसा करना उसका कर्त्तव्य है तो भी कुछ ऐसे जीव हैं जिनकी हिंसा बचाते-बचाते भी हो जाती है।

गृहस्थ का यह साधारण कर्त्तव्य है कि प्रत्येक कार्य करते समय जीवदया का ध्यान रखे। मार्ग में चले तो मार्ग को देखता हुआ चले और यह ध्यान रखे कि किसी जीवधारी पर मेरा पैर न पड़ जाय। किसी वस्तु को उठावे या रखे तब भी यह ध्यान रखे कि इनके नीचे कोई जन्तु न आ जाय। सोना बैठना, मल-मूत्र का त्याग करना, थूकना, वस्त्र प्रक्षालन और शरीर प्रक्षालन आदि जितने गार्हस्थिक आरंभ के कार्य बताए हैं उन सबमें वह जीव रक्षा का सतत ध्यान रखता है।

आजीविका के साधनभूत उद्योग-धंधों में भी वह यह ध्यान रखता है तथा ऐसे धंधों को छोड़कर वह अल्प सावद्य वाले धंधों को तलाश कर उन्हें स्वीकार करता है। भले ही उनमें आर्थिक लाभ न्यून हो पर वह अपनी लोभ वृत्ति को कमकर सन्तोषवृत्ति को स्वीकार करके अपना कर्त्तव्य परम धर्म 'जीवदया' का पालन करता है।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन षट् कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश भगवान् श्री ऋषभ देव ने युग के प्रारंभ में दिया था और जिन-जिन लोगों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की जैसे कर्मों के करने में प्रवृत्ति थी उनका वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों में विभाग किया था। जिन लोगों ने इन षट् कर्मों को छोड़कर पापोपहत वृत्तियाँ स्वीकार कर लीं। जैसे मछली मारना, पशु-पक्षियों का घात कर मांस बेचना, मांस खाना, मद्य बनाना, मद्य बेचना और उसका पान करना आदि के विषय में भगवान् मौन रहे और उनको शूद्रों की सबसे निम्न श्रेणी में सम्मिलित किया और इनका 'अकारु' नाम रखा। इनको किसी भी धार्मिक या सामाजिक व्यवहार के योग्य उन्होंने नहीं माना। इन सबका उल्लेख श्री आदिपुराण में हैं। सारांश यह निकला कि प्रत्यक्ष हिंसा स्वरूप कार्यों से या असदाचार के कार्यों से आजीविका करना अत्यन्त निन्द्य है। वह ऐसे उद्योग में या आरम्भ में सम्मिलित नहीं है जिसे श्रावक स्वीकार कर सके। जिन कार्यों में वह अपने प्रिय धर्म 'जीवदया' का पालन कर सकता है, उन कार्यों को ही आजीविका के लिए स्वीकार करता है और उनमें जो हिंसा बचाव करते हुए भी हो जाती है उसे वह त्याग नहीं सकता किन्तु इसके लिए वह दुःखी होता है और उसका प्रतिक्रमण द्वारा पाप विशोधन करता है। ३- **तीसरी हिंसा- विरोधी हिंसा** है। यह हिंसा भी गृहस्थ द्वारा अपरिहार्य है। पूर्वोक्त दोनों हिंसाओं की तरह इसे भी गृहस्थ त्यागने में असमर्थ है। जिस तरह उद्योग और आरम्भ में जीवदया का ध्यान रखते हुए भी हिंसा हो जाती है, ऐसे ही धर्म पालन के कार्य में, गृहस्थी के परिपालन में, बाल बच्चों के संरक्षण में और गार्हस्थिक कार्यों के लिए सञ्चित द्रव्यों के रक्षण में हिसा हो जाती है, क्योंकि किसी को भी सताने या कष्ट देने की इच्छा न रखते हुए भी क्वचित् कोई दुष्ट विघ्न उपस्थित कर देवे तो उससे बचना और विघ्न को दूर करना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा करते हुए सम्भव है विरोधी को पीड़ा हो जाय, उसका अंगभंग हो जाय या बाधा उपस्थित हो जाय तो गृहस्थ इसके लिए भी लाचार है। ऐसी हिंसा विरोधी हिंसा है।

विरोधीहिंसा यद्यपि बहुत बड़ी हिंसा है तथापि वह गृहस्थ के लिए अपरिहार्य है। सर्व साधारण प्रजाजन यद्यपि अपने ऊपर आनेवाली विपत्ति को दूर करने के लिए राज्याश्रय ग्रहण करता है और न्यायालय में उस अपराधी के लिए कारागृह में बन्द कराने या अन्य प्रकार का दण्ड दिलाने का प्रयत्न करता है तभी उक्त प्रकार से वह निर्विघ्न होकर अपना धर्म पालन कर सकता है। ऐसा होने पर भी जो सर्व साधारण प्रजाजनों के संरक्षक हैं, राजा हैं, या राज्याधिकारी हैं और सैनिक हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रजा का संरक्षण करें। शिष्ट अर्थात् सज्जन की सहायता और दुष्ट अर्थात् दुर्जन को दण्ड इन दोनों कार्यों के बिना कभी राज्य सञ्चालन नहीं हो सकता। राजा का यही एक प्रधान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्तव्य है। दुष्ट लोग प्रजा में अशान्ति उत्पन्न करें, उनकी खेती नष्ट करें, उनके पशु चुरा लें, उनका द्रव्य (धन) चुरा लें, उनकी स्त्री बच्चों का अपहरण करें, उनके धर्मस्थान ध्वंस करें, धर्मात्मा को सतावें, अहिंसकों पर अत्याचार करें, सदाचारी शान्त प्रजा को उद्विग्न करें तो राजा का और राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन दुष्ट आततायी लुटेरों का तथा ऐसा अन्याय करनेवाले दूसरे राष्ट्रों का सामना करें और उन्हें हर प्रकार से रोकें ताकि वे उक्त उपद्रव कर अशान्ति न पैदा कर सकें। इस रोक-थाम में अनेक उपाय काम में लाए जाते हैं पर उनमें जब सफलता नहीं मिलती और दुष्ट अपने मार्ग पर बढ़ते जाते हैं तब उनके रोध करने में उनकी हिंसा भी हो जाती है। यह हिंसा विरोधी हिंसा है। इसका परित्याग भी गृहस्थ कभी नहीं कर सकता। यह हिंसा सङ्कल्पी हिंसा कदापि नहीं है। सङ्कल्पी हिंसा में निरपराध जीवों का घात होता है जब कि विरोधी हिंसावाला एक चींटी को भी संकल्प पूर्वक नहीं मारता। जो निरपराध एक चींटी को भी नहीं मारता वह निरपराध अन्य प्राणियों को क्यों सतायगा? पर सापराधको वह दण्ड देता है और शान्त धर्मात्माओं की रक्षा करता है। ऐसा करने में यदि सापराध की मृत्यु भी हो जाय तो वह उसके लिए लाचार है।

विरोधी हिंसावाले जीव का लक्ष्य हिंसा नहीं है। बल्कि अन्य आततताइयों द्वारा फैलाई जानेवाली महान् हिंसा का प्रतिरोध उसका लक्ष्य है। यदि गृहस्थ विरोधी हिंसा से परहेज करे तो वह शान्ति से धर्म का परिपालन नहीं कर सकता। जिन दुष्टों को धर्म-कर्म का, न्यायान्याय का और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कुछ भी विचार नहीं है, दूसरों को सताकर उनका स्वत्वापहरण ही जिनका एकमात्र उद्देश्य है और जो दूसरों का घात करके भी अपनी विषयवासनाओं और जघन्य स्वार्थों को सिद्ध करना चाहते हैं वे न्यायवान् शान्त और धार्मिक प्रजा को पनपने नहीं दे सकते। उनकी प्रमुखता में सर्वत्र अशान्ति, कलह, लूट,फूट, मारपीट, अन्याय, असदाचार तथा हिंसा का ही प्रसार होगा और सर्वप्रजाजन दुःखी होंगे। इस महान् उपसर्ग को दूर करने के लिए, सुखशान्ति की वृद्धि के लिए, धर्ममार्ग को अक्षुण्ण रखने के लिए, अहिंसकों को प्रोत्साहित करने के लिए और सदाचारी की वृद्धि के लिए दुष्टों का निग्रह करना गृहस्थ का धर्म हो जाता है। उत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन होने से विरोधी-हिंसा गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य हो जाती है।

यदि गृहस्थ अपने पदानुकूल उक्त कर्तव्य को पूरा न कर सके तो उसे समस्त विषय वासनाओं का परित्याग कर देना चाहिए। उसे न स्त्रीपरिग्रह का अधिकार है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न संतानोत्पत्ति का अधिकार है। उसे समस्त आरंभ उद्योग छोड़कर वीतराग हो साधुपना स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि वह अपनी वासनाओं का त्याग नहीं कर सकता और दुष्ट के निग्रह में भी हाथ नहीं बटाता तो वह स्वयं अशान्ति का मूल है। उसे कोई भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि नहीं हो सकती। वह राष्ट्र के लिए भार है। प्रजा की अशान्ति का कारण है। देश की पराधीनता और भ्रष्टता का बीज है। वह स्वयं भ्रष्टाचारी है और भ्रष्टाचार का पोषक है। ऐसे लोग समय पड़ने पर शिष्ट का साथ न देकर दुष्ट के ही साथी बन जाते हैं, अतः ऐसे लोगों को भी सन्मार्ग पर लगाने का प्रयत्न करना राज्य का व राज्याधिकारी का कर्तव्य हो जाता है। उक्त कार्यों में हिंसा होना अनिवार्य है और वह ही विरोधी हिंसा है जिसका त्यागी गृहस्थ नहीं हो सकता।

गृहस्थ **चौथी सङ्कल्पी हिंसा** का अवश्य त्यागी होता है। मारने की इच्छा से ही किसी भी प्राणी को मारना सङ्कल्पी हिंसा है। इस सङ्कल्पी हिंसा की सीमा बहुत बड़ी है। सङ्कल्पी हिंसा से जीविका करना उद्योग या आरम्भ नहीं है। पूर्वोक्त सभी कार्यों में हिंसा हो जाना एक बात है जो गृहस्थ के लिए क्षम्य है, हिंसा के द्वारा उक्त कार्यों को साधना बिलकुल दूसरी बात है जो गृहस्थधर्म में अक्षम्य है। इसका खुलासा यह है कि मछली मारने का व्यवसाय, मद्य बनाने व बेचने का व्यवसाय, मांस बेचना, हड्डी व चमड़े का व्यवसाय, अंडे बेचना, मेढक और केचुओं का अचार बनाकर बेचना, वेश्यावृत्ति द्वारा धन पैदा करना, या अन्य प्रकार की व्यभिचार प्रवृत्ति द्वारा धन पैदा करना, डाका डालने का व्यवसाय, धोखा, विश्वासघात दूसरों को जाल में फँसाकर धनोपार्जन करना ये सब पापोपहत वृत्तियाँ हैं जो त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा हैं, या उनके कारण हैं, अथवा उसके अर्थ हैं। अतः सर्वथा परित्याज्य हैं।

अपनी विषयवासनाओं की पूर्ति के लिए दूसरों को सताना, न्यायमार्ग का उल्लंघन कर द्रव्य कमाना, ये सब संकल्पी हिंसा के रूपान्तर हैं। जब कि दूसरों की रक्षा के लिए, शान्ति के बढ़ाने के लिए, धर्मात्माओं की रक्षा के लिए और अहिंसा और सत्य को जीवित रखने के लिए हिंसा का हो जाना अपरित्याज्य है, कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति में जो हिंसा हो जाती है वह गृहस्थ धर्म के प्रतिकूल नहीं है, किन्तु त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा गृहस्थधर्म के लिए सर्वथा प्रतिकूल है।

संकल्पी हिंसा वह है जो हिंसा की जाती है, तथा विरोधी, उद्योगी और आरम्भी हिंसा वह है जो हिंसा उक्त कार्यों में गृहस्थ से हो जाती है, की नहीं जाती। जो की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाती है उसका त्याग शक्य है और जो हो जाती है उसका त्याग शक्य नहीं है। उसके भी त्याग की इच्छा रखनेवाले महापुरुष को गृहस्थ पद का त्याग करना होगा और अपनी विषय वासनाओं का परित्याग करना होगा। तब वह गृहस्थ मार्ग से दूर महापुरुष होगा और जगत् का उद्धारक होगा। ऐसे ही महापुरुषों ने गृहस्थों के लिए, जो सम्पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकते, उक्त प्रकार से धर्म का और कर्तव्य का निर्देश किया है।

जैसे रोगी कड़वी औषधि पीना नहीं चाहता पर उसे रोग से बचने के लिए पीनी पड़ती है, वैसे ही गृहस्थ आदि में वर्णित तीनों हिंसाओं से बचना चाहता है पर वह अपने पदस्थयोग्य निर्वाह के लिए उनसे बच नहीं पाता, फिर भी सतत बचने के प्रयत्न में रहता है और यथाशक्ति सोचसमझकर और देख-सुनकर ही प्रत्येक कार्य करता है।९३।९४।९५।९६।

(उपजातिः)

समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं हिंसाप्रभेदाः कथिताः क्रमेण ।
पूर्वोक्तभोदान् स्वपदानुसारं ज्ञात्वेति भक्त्या परिपालयन्तु ।।९७।।

समस्तेत्यादिः- इत्येवमुक्तप्रकारेण हिंसाप्रभेदा हिंसायाः भेदाः श्रीमदाचार्येण समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं विश्वकल्याणकामनया क्रमेण कथिता वर्णिताः। पूर्वोक्तभेदान् तेषां हिंसाभेदानां स्वरूपं ज्ञात्वा स्पष्टतया परिज्ञाय अहिंसाव्रतं स्वपदानुसारं स्वस्वपदानुसारेण भक्त्या परिपालयन्तु निरतिचारं यथा स्यात् तथा स्वपरकल्याणमिति।९७।

पूर्वोक्त श्लोकों द्वारा हिंसा का विस्तृत स्वरूप तथा उसके भेद प्रभेदो का प्रतिपादन श्रीमदाचार्य कुन्थुसागर महाराज ने श्रीभगवान् महावीर स्वामी द्वारा सदुपदिष्ट और आगम परम्परा द्वारा प्राप्त संक्षेप में किया है। इन हिंसा भेदों का स्वरूप समझ करके अहिंसा व्रत का परिपालन अपने-अपने पदानुसार साधु, ऐलक, क्षुल्लक, प्रतिमाधारी व साधारण गृहस्थ श्रावकों को करना चाहिए। निरतिचार, निर्दोष व्रत का परिपालन स्वपर कल्याणकारक है।९७।

प्रश्नः—सत्यव्रतस्वरूपं मे विद्यते किं गुरो वद।

हे गुरुदेव! अहिंसाव्रत के परिपालन के लिए हिंसा का स्वरूप और उसके भेदों का स्वरूप समझ लिया। अब सत्यव्रत के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वसन्ततिलका)

सत्यं मितं हितकरं सुखदं सुवाच्यं
श्रीदं वचः प्रियकरं मयमानमुक्तम् ।
वाच्यं न वैरजनकं हि मिथो व्यथादं
भ्रान्तिप्रदं विपदि वाऽपि तदेव सत्यम् ।।९८।।

सत्यमित्यादिः— अहिंसाव्रतपालकस्य वचनमपि परहितकारकं सत्यं भवितव्यम्। किं तत्सत्यमिति प्रश्ने सत्याह—यत् वचनं सर्वजीवानां सुखदं भवति कल्याणकारकं भवति, यच्च श्रवणे सति प्रियकरं स्यात् तत्सत्यम। यच्च मदमात्सर्यविश्वासघातादिदोषपरिमुक्तं तत्स्यात्सत्यम। यच्छ्रोतुः हितकरं स्यात् तत्सत्यमस्ति। यत्किल भ्रान्तिरहितं निर्भ्रान्तरूपेण तत्त्वस्वरूपप्रतिपादकं वचनमस्ति तत्सत्यमिति। यच्छ्रुत्वा श्रोत णां परस्परं वैरं कलहो वा न स्यात् तत्सत्यमिति। यन्न स्यात् कस्मैचिदपि व्यथाकारकं तत्स्यात्सत्यमिति। सत्याखिलाविणा परमितमेव वाच्यम्, अतिमौखर्येण वक्तव्ये तद्वचनमसत्यं भवति। यदि परिमितं हितकरं वचनमपि कस्यचित् अहितकरं स्यात् विपदि वा स्यात् तर्हि तस्य हिताय विपन्निवारणार्थं तद्विपरीतमपि वंचनं सत्यमेव इति सत्यस्वरूपं परिज्ञाय तदेव सुवाच्यम्।९८।

अहिंसा व्रत को परिपालन करनेवाला जिस प्रकार अपने मन को पवित्र रखकर अपने कर्त्तव्य को पालन करने के लिए निर्दोष कार्यों को ही करता है वैसे ही उसे सत्यभाषी भी होना चाहिए। सत्य क्या है? यह एक बड़ा प्रश्न है। इसकी अनेक व्याख्याएँ की जाती हैं। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से तो जैसा का तैसा कहना सत्य है। पर यह सत्य व्यवहार के लिए सर्वथा अनुकूल नहीं पड़ता। क्वचित् कदाचित् वह निन्द्य और कलह कारक हो जाता है। जैसे, किसी एक आँख वाले मनुष्य को काना, एक खराब पैरवाले को लंगड़ा, झगड़ा करने वाले को झगड़ालु, और असद् व्यवहार करनेवाले को बदमाश इत्यादि शब्दों का प्रयोग दार्शनिक दृष्टि से ज्यों का त्यों वर्णन है अतः सत्य है, तथापि श्रोता को दुःखदायक व्यथा उत्पन्न करनेवाला होने से वह कथन कलह या वैर करा देता है। लोक में भी ऐसा माना जाता है कि यह व्यक्ति जो ऐसा बोलता है बड़ा मूर्ख और उद्धत है। उसे बोलने की भी सभ्यता नहीं है।

धार्मिक दृष्टि से ज्यों का त्यों बोलना भी सत्य है और कहीं पर वह सत्य नहीं भी है। सत्य की व्याख्या धर्मशास्त्र में इस प्रकार की है। जो वचन जीवों को सुनने पर सुखदायक हो वह सत्य है। जो परिणाम में कल्याण कारक अर्थात् हितकर हो वह सत्य है। जो श्रोता को श्रवण करने पर प्रिय हो अप्रिय न हो वह सत्य है। जो वचन विनयपूर्वक दूसरे के सम्मान की रक्षा करनेवाला हो वह सत्य है। जो वचन अपने अहंकार का पूरक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न हो वह सत्य है। जो वचन सुननेवालों में वैर या कलह को पैदा न करे वह सत्य है। जिस वचन से श्रोताओं के हृदय को खेद न हो वह सत्य है। जिस वचन से श्रोता भ्रम में न पड़ जाय वह सत्य है। जो वचन निरर्थक अति प्रलाप से रहित परिमित शब्दों में हो वह सत्य है। जो वचन किसी को पाप में प्रवृत्त न कराकर धर्म मार्ग में लगावे वह सत्य है। जो वचन आगम परम्परा के अनुकूल हो वह सत्य है। जो वचन हिंसाकारक या हिंसोत्पादक न हो वह सत्य है। जो वचन किसी को मिथ्यामार्ग या कुमार्ग में न ले जाय वह सत्य है। जो वचन श्रोता को सद्धर्म में स्थापित करे वह सत्य है। उक्त प्रकार से सत्य के अनेक रूप बताए गए हैं। इतना होने पर भी जिस वचन से किसी को विपत्ति आ जाय, अकल्याणकारक हो, भ्रांतिदायक हो और कलह उत्पन्न करा दे तो वह ज्यों का त्यों होकर भी सत्यवचन न होकर अप्रशस्त और निन्द्यवचन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अतः सत्यासत्य का स्वरूप जानकर असत् वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।९८।

प्रश्नः—अचौर्यव्रतचिह्नं किं वर्त्तते मे गुरो वद।

हे गुरो! अचौर्य व्रत क्या है? कृपया उसका स्वरूप कहिए—

(इन्द्रवज्रा)

त्यक्तं वने वा पतितं श्मशाने कौ स्थापितं स्वात्मन एव बाह्यम्।
ग्राह्यं ह्यदत्तं भवदं न वस्त्वचौर्यव्रतं तत्सुखदं सदा स्यात्।।९९।।

त्यक्तमित्यादिः— परद्रव्यपरिग्रह एव चौर्यमिति चौर्यस्य सुनिश्चितं लक्षणमस्ति। ये साधवस्तु एतल्लक्षणानुसारेण गृहादिकं परिवारवर्गं धनादिकं च परित्यज्य निर्वस्त्रं निःसंगमेव देहस्नेहरहितं वने वसन्तः स्वात्मनो निधिं परिशीलयन्ति ते खलु परिपूर्णरूपेणैव अचौर्यव्रतपालकास्सन्ति। ये तु श्रावकास्तथाकर्तुमशक्तास्ते गृहवासनिरता अपि लौकिकव्यवहारदृष्ट्या यद्द्रव्यम् अपरस्य कस्याप्यधिकारे वर्त्तते न तद् गृह्णन्ति। तत्कस्यापि द्रव्यम् स्वल्पमूल्यं महार्घं वा स्यात् अदत्तं न कदापि गृह्णन्ति। यः कौ पृथिव्यां वने श्मशाने वा पतितं केनचित् स्थापितं वा स्वात्मनो बाह्यं आत्मसम्बन्धगन्धशून्यं वस्तु धनादिकं सुवर्णादिकं वस्त्रादिकं वा द्रव्यं न हरति न च अदत्तं परेभ्यः ददाति सोऽचौर्याणुव्रती भवति। यत्किल प्रत्यक्षरूपेण चौर्यं नास्ति तदपि परद्रव्यापहरणलक्षणाक्रान्तत्वाच्चौर्यमेव। यथा-अकृत्रिमेषु वस्तुषु कृत्रिमवस्तुमिश्रणात् तथा अकृत्रिमाणि चैतानि इति ज्ञापयित्वा तेषाम्महार्घेण अकृत्रिमवस्तुनस्समानमूल्येन विक्रयणं, क्रयार्थं मानोन्मानप्रमाणमधिकं विक्रयार्थञ्च हीनप्रमाणम्मानोन्मानादिकं च चौर्यमेव। राज्याधिकारिणां दृष्टिवञ्चनेन क्रयकरादीनां चौर्यमपि चौर्यमेव। आयकरादीनां राज्यकराणां लोपनं अथवा करद्रव्यस्याप्रदानभावेन मिथ्याभाषणं सदपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असदिव असदपि सदिव लेखनं इत्यादि सर्वमपि मिथ्याप्रवञ्चनेन वञ्चनम् चौर्यमेव। तत्सर्वमपि चौर्यं त्याज्यमेव व्रतिना इत्येवं प्रकारेणाचौर्यव्रतग्रहणं सदा सुखदम्भवति। चौर्यं च सदा भवपरम्पराकारकम्भवतीति ज्ञातव्यम् ।९९।

जैन सिद्धान्त में पर द्रव्य का ग्रहण ही चौर्य है ऐसा चोरी का बहुव्यापक लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार अचौर्यव्रत का परिपूर्ण पालन करनेवाले साधुजन घर, कुटुम्ब व धनादि द्रव्य इन सबका परित्याग कर नग्न देह ही वन में देह के स्नेह से रहित होकर विचरते हैं। वे सब पर द्रव्यों से अपने को पृथक् अनुभव करते हुए एकान्त वन में केवल आत्मनिधि को, जिसे उनकी आत्मा अनादि से भूली हुई थी, खोजने का प्रयत्न करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मेरा आत्मा ही मेरा द्रव्य है, मेरे आत्मा के असंख्यप्रदेश ही मेरा निवास स्थल है। आत्मा से विभिन्न कोई दूसरा आत्मा या दूसरे निर्जीव पदार्थ मेरे नहीं हैं। मेरा मैं ही हूँ, दूसरा पदार्थ दूसरा है, वह मेरा कदापि नहीं हो सकता। यह पृथिवी या आसमान मेरा निवास स्थल है यह उपचार है, क्योंकि मेरे साथ न पृथिवी जाती है और न आसमान मेरे साथ चलता है। मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेश ही सदा मेरे पास हैं, और उनमें ही रहता हूँ, वे ही मेरे निवासस्थान हैं। मेरे ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, शक्ति, आनन्द, क्षमा, सरलता, विनयशीलता, सत्यता, पवित्रता और अकिञ्चनता ये मेरे गुण हैं, वे ही मेरी निधियाँ हैं। इनमें ही मेरे सब सुखों का भण्डार भरा है। ये सब मेरे भाव हैं। इनपर किसी का स्वत्व नहीं है। गृहादिक, सुवर्णादिक, भूमि आदिक व अन्न, वस्त्र, सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य, दासी और दास आदि सर्व पर हैं, मेरे नहीं। ये सब मेरे स्वरूप से और मेरी सत्ता से सर्वथा भिन्न हैं। अतएव इनका किञ्चिन् मात्र भी ग्रहण चोरी है, महान् पाप है। मेरी आत्मपरणतियों का सुन्दर परिवर्तन ही मेरी उन्नति है और उनका पर पदार्थोन्मुखी परिवर्तन ही मेरी अवनति है। परपदार्थ अर्थात् धनादिक या गृहादिक या कुटुम्बादिक की दृष्टि से उनकी न्यूनता मेरी अवनति नहीं है, क्योंकि वे पदार्थ पर हैं, मेरे नहीं हैं। मेरी सत्ता से विभिन्न पदार्थों की उन्नति ही मेरी उन्नति है, ऐसा मानना मिथ्यात्व है तथा चोरी है। इस प्रकार से आत्मनिधि की खोज करनेवाले और उसमें ही तल्लीन रहनेवाले देह के स्नेह से रहित निःसंग साधु परम अचौर्य व्रत के परिपालक हैं।

जो गृहस्थ हैं, ऊपर लिखे सत्यार्थ विचारों और तन्निहित सत्य तत्त्वों पर जिनकी परिपूर्ण श्रद्धा है, किन्तु अपनी कमजोरी के कारण जो परिगृहीत परपदार्थों को अपना पदार्थ न मानते हुए भी परित्याग करने में अशक्त हैं, परमुखापेक्षी हैं, वे इस महान् अचौर्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रत का परिपालन यथार्थतया नहीं कर सकते। तथापि लौकिक व्यवहार दृष्टि से स्वोपार्जित द्रव्य को अपना अधिकृत द्रव्य मानकर उससे ही अपना निर्वाह करते हैं और परकीय द्रव्य को विषतुल्य मानकर सर्वथा अग्राह्य समझते हैं। वे गृहस्थ एकदेश अचौर्यव्रत के आराधक हैं। गृहस्थ लौकिक नीति के विरुद्ध परकीय स्वल्प या महार्घ द्रव्य को अत्यन्त कष्ट की अवस्था में भी बिना उसकी स्वीकृति के नहीं लेगा। यदि वह विपद्ग्रस्त होगा और स्वोपार्जित द्रव्य से काम चलता नहीं देखेगा तो अन्य से भिक्षा लेकर, अपना स्वाभिमान खोकर व अपमान सहकर भी निर्वाह कर लेगा, पर परद्रव्य का अपहरण कदापि स्वीकार नहीं करेगा। क्योंकि वह महान् अपराध है।

परकीय द्रव्य या जो स्वकीय नहीं है, वह उसके लिए कितना ही उपयोगी क्यों न हो, यदि वह मार्ग में पड़ा हुआ दिख जाय, उसका कोई स्वामी दृष्टिगोचर न हो, या कोई भी वहाँ देखनेवाला न हो तो भी उसे श्रावक ग्रहण नहीं करेगा। यदि किसी विशेषस्थल जैसे नदी का घाट, बाग-बगीचा, कूप का पनघट, धर्मशाला, मन्दिर या अन्य कोई विश्रामस्थल क्लब आदि में कोई अपनी वस्तु भूल जाय तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नहीं करेगा। यदि किसी स्थान पर कोई स्वद्रव्य स्थापित कर अन्यत्र चला गया है तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार से वे सब कार्य जो प्रत्यक्ष में चोरी नहीं कहे जा सकते पर जिनमें परद्रव्यापहरण की भावना व तदनुकूल कृति विद्यमान है चौर्य लक्षण सहित होने से चौर्य ही हैं। जैसे—

अल्पमूल्य के कृत्रिम पदार्थ बहुमूल्य के अकृत्रिम पदार्थों में मिलाकर बहुमूल्य लेकर बेच देना चोरी ही है। खरीदने के लिए बड़े-बड़े नाप तौल के मापक रखना और बेचने के लिए थोड़े नाप तौल के मापक (सेर, तखरिया, मन, पंसेरी, और गज आदि) रखना। ताकि बेचने में थोड़ी वस्तु देकर भी पराया बहुत सा माल आजाय। राज्याधिकारियों की दृष्टि बचाकर माल का चुंगी कर या अन्य प्रकार का सरकारी कर, बिक्रीकर, आयकर, और यातायात कर बचा लेने का प्रयत्न करना, बिना टिकट यात्रा करना, बिना कर चुकाए समान रेलवे, मोटर आदि से ले जाना, यह सब चोरी ही है। अथवा उक्त अभिप्रायों की सिद्धि के लिए मिथ्याभाषण करना, मिथ्या गवाही देना तथा झूठे कागज बहीखाता, नकल, बीजक व बिल्टी आदि बनाना यह सब जाल करना चोरी ही है।

अन्य पुरुषों की दृष्टि बचाकर द्रव्य लेना जैसे चोरी है वैसे ही जबरदस्ती-ज्यादती से, दबाव से व प्रभाव से भी परद्रव्यापहरण चोरी है। त्रास देने का भय, अधिकार प्रयोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का भय, अधिकार छीनने का भय, जीविका नष्ट कर देने का भय, कार्य बिगाड़ देने का भय, उचित और न्यायसंगत होने पर भी सहायता न देने का भय, शस्त्राघात का भय, गुप्त बात प्रकट कर देने का भय, पाप या चोरी प्रकाशन कर देने का भय इत्यादि भय दिखाकर भी किसी महाजन का, नौकरी करनेवाले का, पापी का, चोर का, निर्बल का, दीन का और दरिद्र का धन ले लेना भी चोरी ही है।

इस प्रकार से किसी भी आड़ी टेढ़ी क्रियाओं से दूसरे को सताकर उसके परिश्रम के द्वारा कमाए हुए धन को नैतिक उपायों को छोड़कर अन्य उपायों द्वारा ले लेना चोरी है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि यह न केवल चोरी है बल्कि डाका है। चोरी तो जिसका द्रव्य है उसकी अजानकारी में छिपकर की जाती है पर ऐसा करने पर भी चोरी करने वाला भयभीत होता है और समझता है कि मैं चोरी कर रहा हूँ। पर अनैतिक तरीकों से उसे दबाकर या भय दिखाकर जो धन ग्रहण किया जाता है वह चोरी का सरताज डाका है।

साहूकार, राज्याधिकारी, पूँजीपति, रईस, जमींदार, राजा और महाराजा तथा इनके सब सहायक अमात्य, सेनापति और सैनिक इत्यादि यदि नैतिक धर्मसम्मत उपायों को उपयोग में लावें तो ही वे उक्त पद के अधिकारी हैं। यदि वे भी अनैतिक और धर्मबाह्य उपायों द्वारा अपनी प्रजा से, मजदूरों से और गरीबों से धन ले लेते हैं तो वे भी अत्यन्त शक्तिशाली डाकू ही हैं। वे कभी चौर्य के पाप से नहीं बच सकते। सबसे बड़ी चोरी वही है या ऐसा कहा जा सकता है कि चोरी की यह अन्तिम सीमा है। अतएव अत्यन्त पापदायक है। वह नरक निगोदवास का निश्चित कारण है।

इस प्रकार चौर्य का स्वरूप समझकर जो उससे दूर रहते हैं उनकी भवपरम्परा नष्ट हो जाती है अर्थात् वे दुःखपरम्परा से मुक्त हो जाते हैं और यही उनका सुखदायक अचौर्यव्रत है।९९।

प्रश्नः—ब्रह्मचर्यव्रतधिद्धं किं मे वदास्ति भो गुरो।

हे गुरुदेव! ब्रह्मचर्य व्रत का क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें ।

(उपजातिः)

त्याज्या स्वकीया ललना यदि स्यात् कथापरासां वद काऽस्ति लोके।
पूर्वोक्तरीतिर्यदि वास्त्यसाध्या त्याज्या परस्त्री स्वपरात्मशान्त्यै।।१००।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्याज्येत्यादिः— तात्पर्यमेतत् -स्त्रीपरिग्रहः रागपरिणामेनैव भवति। रागादयस्तु स्वात्मविकारा एव। यतः स्वात्मस्वरूपविरोधिनश्चेते रागादयः। एतैरेव संसारस्य परम्परा प्रवर्त्तते, दुःखपरम्परा चोत्पद्यते। शुना कृतमस्थिचर्वणं यथा तस्य मुखादेव रक्तस्रावणमुत्पाद्य रक्तस्वादं जनयति, तथैव स्त्रीपरिग्रहणेऽपि पुंसः पुरुषग्रहणमपि स्त्रियः स्ववीर्यरजःप्रस्रवणाभ्यां स्वस्वशारीरिकशक्तिनाशकाभ्यां स्वात्मपावित्र्यरोधकाभ्यां सङ्गमस्वादं जनयति। इत्येवं प्रकारेण स्वशरीरनाशमेव सङ्गमसुखम्मन्यमानास्तु मोहिनस्स्वात्महिताद् दूरतरमेव प्रयान्ति। न तेषां कल्याणम्भवति। कामदेवनया एवं स्त्रीपुमांसौ परस्परम् इच्छतः। वेदना तु मोहकर्मोदया। कर्मोदयात् क्रियमाणा क्रिया नियमादेव बन्धस्य कारणम्भवति कर्मबन्धस्तु संसारदुःखस्य मूलमिति। लौकिकदृष्ट्याऽपि कामक्रिया निर्लज्जताया एव लक्षणं प्रोच्यते न हि कश्चित् लौकिकोऽपि सन्नागरिकलोकः प्रत्यक्षपूर्वकमेव कामक्रियां कर्तुं समर्थोऽस्ति। यत्करणे खलु साधारणजनानामपि लज्जा वर्तते तत्खलु पापमेवेति सुनिश्चितम् । कामवेदनां जेतुमसमर्था अपि लौकिकजनाः परिगृह्यापि पत्नीं लज्जापूर्वकमेव प्रच्छन्नरूपेणेच्छन्ति। जानन्ति ते सर्वेऽपि सन्तानोत्पत्त्या यदेतानि कामफलानि, तथापि न तत्क्रियां प्रकटरूपेण कर्तुं समर्था भवन्ति। कुर्वन्तोऽपि परस्त्रीपरिग्रहं वेश्यासङ्गमञ्च केचित् मोहिनो न निर्लज्जाः सेवन्ते किन्तु लज्जयैव प्रच्छन्नरूपेण सेवन्ते। सिद्धमेतेन यत् कामस्य कथाऽपि पापमेव। तत्कथाकारकाणामपि लोके भर्त्सना भवति यल्लज्जारहिताश्चैते विटाः। कामवासनया एव सन्तानपरम्परा प्रवर्तते, सन्तानपरम्परा च संसारः, संसारस्तु दुःखस्य हेतुर्भवति प्राणिनां, इति स्त्रीपरिग्रह एव पापमिति सिद्धम् । एतज्ज्ञात्वा स्वस्त्रीमपि परित्यज्य स्वात्मन्येव रमन्ते योगिनस्त एव धन्याः निष्पापास्ते सद्य एव निर्वान्ति दुःखैर्मुच्यन्ते ते। ये किल हतबलाः मानसिकदौर्बल्येन कामाग्निना दग्धास्तैरपि विचार्य स्वस्त्रीपरिग्रह एव कार्यः। कदाचित् स्वप्नेऽपि परवनितासङ्गमेच्छा न कर्त्तव्या। वेश्यासङ्गमस्तु दूरत एव परिहरणीयः। परस्त्रीसङ्गमेन स्वयमपि चौर इव अशान्तो भवति निन्द्यो भवति, दण्डनीयो भवति राज्यापराधी च गण्यतेऽसौ, व्यभिचारिणोऽवैधसन्तानोत्पत्तिर्भवति। इत्येतैरपराधैर्महद्दुःखोत्पादकं तत् । स्वस्याप्यशान्तेः कारणं परस्यापि। इत्येवंप्रकारेण स्वपरात्मशान्त्यै परस्त्रीसङ्गमं परित्यज्य स्वस्त्रीमात्रसन्तुष्टस्य श्रावकस्य चतुर्थं ब्रह्मचर्याणुव्रतम्भवति।१००।

स्त्री का ग्रहण रागपरिणामों से होता है। रागादि परिणाम आत्मा के विकार भाव हैं। आत्मस्वभाव की प्राप्ति में ये विघ्नकारक हैं। इनसे संसार की और दुःख की परम्परा बढ़ती है। काम-भोग के द्वारा सुखानुभव करनेवाले मोही स्त्री-पुरुष कुत्ते के द्वारा किए गए हड्डी के चर्वण के तुल्य अपने ही रजवीर्य के प्रस्रवण से, जो उनके शारीरिक बल का नाशक है और आत्मपावित्र्यका घातक है, अपने को सुखी मानते हैं। जैसे कुत्ते को यह ज्ञात नहीं है जो सूखे हाड़ों से यह रक्त नहीं आता जिसे चाटकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ, अपि तु यह मेरे ही मुख से निकलनेवाले रक्त का स्वाद है जो हड्डी के संघर्ष से क्षत-विक्षत हो निकलने लगा है, उसी प्रकार कामवेदना से पीड़ित स्त्री-पुरुष परस्पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के सङ्गम के सुख स्वाद में यह भूल जाते हैं कि यह क्षणिक सुख हमारे ही शक्ति ह्रास का मूल हेतु है और अपने विनाश में ही सुख का स्वप्न देख रहे हैं। कालिदास कवि की कथा है कि वह वृक्ष की जिस डाली पर बैठा था उसी को जड़ से काट रहा था और प्रसन्न हो रहा था, ऐसे ही ये मोही प्राणी जिस शरीर की डाल पर बैठे हैं और जिसके आधार पर उनका जीवन है उस शरीर की जड़भूत स्ववीर्य और रज का विनाश कर प्रसन्न होते हैं और इतने पर भी कभी अपनी हानि का विचार तक नहीं करते। ऐसे मोही प्राणी के लिए स्वात्महित की वार्ता बहुत दूर है।

काम की वेदना ही उन्हें इस मूर्खता पूर्ण कार्य के लिए बाधित करती है। यह वेदना कर्मोदय जनित है। मोह कर्म के उदय से संसार के प्राणिमात्र इससे पीड़ित हैं। कर्मोदय जनित क्रिया नियम से कर्मबन्ध का हेतु है। कर्मबन्ध ही संसार के दुःखों का और परम्परा का मूल है। पारमार्थिक दृष्टि से तो यह वस्तु का स्वरूप है जो निःसंदेह पाप है। लौकिकदृष्टि से भी यदि इस पर विचार किया जाय तो यह महापाप है। कोई भी उत्तम नागरिक इस क्रिया को स्पष्ट रीति से लोगों के प्रत्यक्ष में नहीं कर सकता। ऐसा करना निर्लज्जता होगी। जिस काम को करने में साधारण जन भी लज्जा का अनुभव करे वह क्रिया उपादेय कैसे मानी जाय। उत्तम, मध्यम या साधारण जनों को छोड़ दीजिए, परस्त्रीसंगम करनेवाले धूर्त और वेश्या-संगम करनेवाले महापापी भी तथा स्वयं व्यभिचार से पेशा करनेवाली वेश्याएँ भी इसे गुप्तरूप से ही एकान्त में करते हैं, प्रत्यक्षरूपेण इसे करने में उन्हें भी अत्यन्त लज्जा का अनुभव होता है। सन्तानोत्पत्ति काम के ही फल हैं ऐसा जानते हुए भी सभी जन सन्तान की इच्छा करते हुए, उसमें सोत्साह होते हुए और संतान होने पर उत्सव मनाते हुए भी काम भोग की क्रिया को प्रच्छन्न ही करते हैं। जिसे करने में लज्जा आवे, जिसकी चर्चा दूसरे से करने में लज्जा आवे वह सुनिश्चित पाप है ऐसा लौकिक जन भी मानते हैं। कामभोग सन्तान का हेतु है और संतान-परम्परा ही संसार है तथा संसार प्राणियों के लिए दुःख का हेतु है इस प्रकार दुख का हेतुभूत कामभोग ही सर्वथा त्याज्य है। ऐसा जानकर जो ज्ञानी पुरुष स्वस्त्री का भी परित्याग कर स्वात्मा में ही रमण करते हैं वे जीव धन्य हैं। ऐसे महापुरुष परिनिर्वाण को प्राप्त हो स्वात्मोत्थ अनंत सुख को भोगते हैं।

जो निर्बल पुरुष कायरता के कारण अपनी मानसिक दुर्बलता पर विजय नहीं पा सकते और कामाग्नि द्वारा जले हुए स्त्री परिग्रह की इच्छा करते हैं उन्हें परवनिता का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सङ्गम स्वप्न में भी न करना चाहिए और वेश्यासङ्गम की तो कल्पना भी भयानक अनर्थपरम्परा का हेतु है। वे धर्मसाक्षी पूर्वक पाणिगृहीत स्वपत्नी में ही संतुष्ट हों। स्वस्त्री परिग्रही पुरुष लोक में प्रामाणिक माना जाता है। वह अनेक अनर्थों से बचा रहता है। वह अपने गृह में सुखी और शान्त रहता है। जब कि परस्त्रीसेवी चोर की तरह सदा अशान्त रहता है। लोक में वह निन्दा का पात्र होता है; उसकी अपकीर्ति होती है, राज व पञ्च दण्ड को प्राप्त होता है, व्यभिचारी अवैध सन्तानोत्पत्ति को बढ़ाने वाला होता है। उक्त प्रकार के दुःखों को प्राप्त कर वह स्वयं के लिए और परजीवों के लिए भी महान् अशान्ति का कारण हो जाता है।

उक्त दुष्कृति के कारण रावण विश्वव्यापी महायुद्ध का कारण बना। जिसकी शास्त्रों में निन्दा गाई है और लौकिक जन तो आज भी उसकी मूर्ति बनाकर उसका अति अपमान करते हैं व बध करते हैं। मद्य के नशे की तरह परस्त्रीसेवी पुरुष भी उस व्यसन के नशे में फंस जाता है और नशे में मोहित हो स्वपरकल्याण के मार्ग से सर्वथा दूर हो अपना और पराया अकल्याण इस लोक में तो करता ही है साथ ही अपने अगले अनेक जन्मों को भी बिगाड़ लेता है ऐसा विचार कर परस्त्री और वेश्यासङ्ग का परित्याग कर स्वस्त्री मात्र में संतुष्ट होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।१००।

प्रश्नः—सङ्गत्यागस्वरूपस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! परिग्रह त्याग व्रत का क्या स्वरूप है, कृपाकर मुझसे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

बाह्योऽन्तरङ्गो भवदोऽस्ति संगो ज्ञात्वेति मुक्त्वा द्विविधं ततस्तम्।
तिष्ठेत्स्वभावे यदि स्वात्मनो वाऽसङ्गव्रतं तस्य भवेत्पवित्रम्।।१०१।।

बाह्येत्यादिः— स्वात्मव्यतिरिक्तपदार्थासक्तिरेव परिग्रहः। स द्विविधः अन्तरङ्गो बाह्यश्च। स्वात्मनो विकारास्तु मिथ्यात्व-क्रोध-मान-माया-लोभ-नवनोकषायरूपाश्चतुर्दशसंख्याकाः। अन्तरङ्गसङ्गाः। बाह्यास्तु क्षेत्रावास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-भाण्डरूपेण दशविधः। असौ द्विविधोऽपि सङ्गो भवदो भवदुःखकारकः इति ज्ञात्वा यः स्वात्मनः स्वभावे तिष्ठति तस्य पवित्रं सङ्गत्यागव्रतं भवति। यस्तु सम्पूर्णरीत्या उभयसङ्गं परित्यक्तुमसमर्थोऽस्ति सोऽपि यथायोग्यं परिग्रहान् परिमाय परिमितमेव स्वीकृत्य शेषाणां परित्यागं करोति तस्य पञ्चममणुव्रतं स्यात्।१०१।

अपनी आत्मा से भिन्न पदार्थों का ग्रहण है, वह परिग्रह है। वह परिग्रह दो प्रकार है-अन्तरङ्ग और बाह्य। आत्मा के विकारस्वरूप भाव जैसे-मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और लोभ तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, और नपुंसकवेद ये ४ अन्तरङ्ग परिग्रह हैं और खेत, मकान, सोना, चांदी, रुपया, अन्न, नौकर, नौकरानी, वस्त्र, कपड़े ये दश बाह्य परिग्रह हैं। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को पापदायक कुसङ्ग समझकर जो छोड़ देते हैं वे परिग्रह त्याग महाव्रती हैं और जो सम्पूर्ण रीति से उभय परिग्रहों को छोड़ने में असमर्थ हैं वे यथायोग्य अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए परिग्रह का प्रमाण करते हैं और परिमित में अपना जीवन निर्वाह करते हुए शेष सब परिग्रह का त्याग करते हैं वे परिग्रह परिमाणाणुव्रती माने गये हैं।।१०१।।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतचिह्नं हि प्रोक्तमेवं शिवप्रदम्।
पालयन्तु सदा भव्याः स्वान्यात्मशान्तये मुदा ।।१०२।।

पञ्चेत्यादिः— एवमुपर्युक्तप्रकारेण पञ्चाणुव्रतचिह्नं पञ्चपापानामेकदेशत्यागरूपमणुव्रतपञ्चकं प्रोक्तमाचार्यश्रीकुन्थुसागरेण। तत्खलु परम्परया शिवप्रदमस्ति। स्वान्यात्मशान्तये स्वात्मनः परेशामपि शान्तिमिच्छन्तो भव्याः सदा तत्पञ्चाणुव्रतं मुदा पालयन्तु।।१०२।।

ऊपर वर्णित प्रकार से परम्परा से मोक्षसुख प्रदान करनेवाले पञ्च महापापों के एकदेश परित्यागरूप पञ्चाणुव्रत जो गृहस्थ श्रावकों के योग्य हैं वर्णन किए गए हैं। जो जीव अपना कल्याण चाहते हैं तथा परोपकार की इच्छा रखते हैं उन्हें इनका बड़े प्रेम से परिपालन करना चाहिए।

पाप करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने लिए दुःखोत्पादक है बल्कि वह परिवार, कुटुम्ब, जाति, समाज, प्रान्त व देश यहाँ तक कि संसार का शत्रु है। अशान्ति उत्पन्न करने वाला है, अतएव स्वपर हानिकारक महान् अशान्ति के हेतु इन पांचों पापों का त्यागकर अणुव्रतों का पालन करना चाहिए।१०२।

इत्यणुव्रतस्वरूपं वर्णितम्।

–अष्टमूलगुणनिरूपणम्–

प्रश्नः—श्राद्धमूलगुणानां तु किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! जिनेन्द्रोक्त तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखने पर भी श्राद्ध (श्रावक) को आत्महितकारक वस्तु तो चारित्र है, अतः चारित्र में मूल व्रत क्या है, कृपया कहें–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

मद्यमांसमधूनां हि सेवनं स्पर्शनं तथा ।
न कार्यं दुःखदं निन्द्यं श्रावकैर्धर्मवत्सलैः ।।१०३।।
सदा प्राणिसमाकीर्णं वटादिफलपञ्चकम् ।
न भक्ष्यमिष्टसिद्धयै च तन्मूलव्रतमिष्यते ।।१०४।।युग्मम्।।

मद्येत्यादिः— श्रद्धावतः श्रावकस्य कल्याणार्थश्चारित्रमुक्तम्। चारित्रञ्च तत् सर्वदेशपापपरित्यागरूपं एकदेशपापपरित्यागरूपञ्चेति द्विविधम्। प्रथमं तावत् दिगम्बराणाम्। तत्स्वरूपं तु प्रागेव मुनिधर्मप्रदीपे ग्रंथे श्रीमदाचार्येण प्रोक्तम्। यथार्थतया सर्वपापपरित्यागरूपमनगारव्रतमेव चारित्रम्। तदेवोत्सर्गमार्गः। यो लोके राजमार्गः प्रोच्यते। तद्धारणेऽशक्तानां तु एकदेशपापपरित्यागरूपं श्रावकव्रतमस्ति। नासौ उत्सर्गः किन्तु अपवादमार्ग एव। अनगारव्रतहेतुत्वात्तस्यापि व्रतत्वमायाति। सागारस्य मूलव्रतानि—यन्मद्यमांसमधूनां वट-पिप्पलोदुम्बर-पाकरफलानाञ्च परित्यागः। एतेषां परित्यागेन विना न कोऽपि श्रावकसंज्ञां प्राप्नोति। चारित्रमन्दिरस्य प्रथमसोपानञ्चैतन्मूलव्रतमस्ति। दयाधर्माराधकाः खलु श्रावकाः मद्यादीनामासेवनन्तु तावत् दूरतरमेवास्ताम् तत्स्पर्शनमपि निन्दनीयमस्ति इति मन्यन्ते। परिपाककाले हिंसायाः खलु फलम्महद्दुःखमेवास्ति इति ते जानन्ति। वटादिफलपञ्चके बहुजीवास्सन्ति सदा चोत्पद्यन्ते। तद्भक्षणे तेषां हिंसावश्यं संजायते एतद्विचार्य धर्मवत्सलैः कदापि न सेवनीयं मद्याद्यष्टमम् अभक्ष्याणि चैतानि सदा दयापरैः।१०३।१०४।

श्रद्धावान् श्रावक का कल्याण केवल श्रद्धामात्र से न होगा, अपने कल्याण के लिए उसे जिनोक्त उस सन्मार्ग पर जिसकी उसने श्रद्धा की है चलना भी होगा, उसे ही चारित्र कहते हैं।

यह चारित्र पञ्चपाप परित्याग रूप है। सम्पूर्णतया पञ्चपाप परित्याग रूप व्रत महाव्रत है। यह दिगम्बरत्व को स्वीकार करनेवाले परम निस्पृही वीतराग निःसङ्ग साधु पुरुषों द्वारा ही साध्य है। यह विधेय मार्ग है जिसे राजमार्ग भी कहते हैं। जो हीन पुरुषार्थी पुरुष इस परम कल्याणकारक मार्ग को पालन करने में असमर्थ हैं उनके लिए एकदेश पाप परित्याग रूप यह श्रावकों का अणुव्रत है। यह अपवाद मार्ग है। मुनिमार्ग का निरूपण मुनिमार्गप्रदीप नामक ग्रंथ में आचार्य श्री कुन्थुसागर महाराज ने किया है। श्रावकधर्म का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जा रहा है।

श्रावक के चारित्र में मूलव्रत ८ हैं।-मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग तथा बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पाँच क्षीर फलों का त्याग ये आठ मूलव्रत हैं। इन आठ मूलगुणों को धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि को श्रावक संज्ञा प्राप्त होती है, अन्यथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं। मूल के अभाव में जैसे वृक्ष में शाखाएँ, फल-पत्र-निरर्थक हैं, ऐसे ही मूलव्रत के अभाव में उत्तरव्रतों की कल्पना भी निरर्थक है। चारित्ररूपी मन्दिर की यह पहली सीढ़ी है। इस पर चढ़े बिना कोई चारित्रमन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता।

दया धर्म के आराधक श्रावक इन मद्यादि पदार्थों का सेवन तो बहुत दूर की बात है स्पर्शन करना भी पाप समझते हैं। मांस का भक्षण महान् क्रूर कर्म है। मद्य चित्तभ्रम को उत्पन्न कर अनेक पापों को प्रोत्साहित करता है। मधु मधुमक्खियों का सञ्चित खाद्य है, जिसके खाने में उन मधुमक्खियों के साथ ही उस खाद्य रूप मधु में उत्पन्न होनेवाले मक्षिका जातीय असंख्य निकोत जीवों की हिंसा अनिवार्य है। इस प्रकार महान् हिंसा पाप के उत्पादक इन मकारत्रय का स्पर्शन भी दयाधर्माराधक श्रावक के लिए निन्द्य है। इसके सेवन का फल उत्तर काल में अत्यन्त दुःखप्रद है।

बड़ आदि फल भी बहुत से जीवित जीवों के स्थान हैं। वे प्रत्यक्ष भी दीखने में आते हैं और असंख्य जीव ऐसे हैं जो दीखने में नहीं आते। इनको खाने में इनकी हिंसा सुनिश्चित है। यह भी अत्यन्त क्रूर कर्म है। ऐसा विचार कर धर्म के इच्छुक इनका कदापि सेवन नहीं करते। इन आठों का त्याग ही आठ मूल गुण या आठ मूल व्रत कहलाता है। ये आठों सर्वथा अभक्ष्य हैं।१०३।१०४।

प्रश्नः—अभक्ष्यवस्तुत्यागस्य हेतुः को विद्यते वद।

आठ पदार्थों को ऊपर अभक्ष्य कहा गया है। सो हे गुरुदेव! अभक्ष्य क्या है? उनके त्याग का क्या हेतु है? उनका त्याग क्यों करना चाहिए। इनके सिवाय भी अभक्ष्य और होते हैं क्या? हैं तो कौन-कौन हैं? कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

तुच्छफलाद्यभक्ष्याणां दयाधर्मप्रणाशिनाम्।
भक्षणं स्पर्शनञ्चापि न कार्यं भवभीरुभिः।।१०५।।
तच्चलितरसं वस्तु न भक्ष्यं व्याधिवर्धकम्।
पूर्वोक्तविधिसाध्यात्स्याद्धि लोके शान्तिदा मतिः।।१०६।।युग्मम्।।

तुच्छेत्यादिः— यत्र भक्षणीयं स्यात्तदेवाभक्ष्यम्। यद्भक्षणे त्रसजीवानां घातः स्यात् तदभक्ष्यमित्येकम्। यद्भक्षणे बहूनां स्थावरजीवानां घातः स्यात्तद्द्वितीयमभक्ष्यम्। यत्किल मोहञ्जनयति चित्तं भ्रामयति तच्छेवनमपि न करणीयम्। तत्करणं तु तृतीयमभक्ष्यम्। यद् भक्ष्यमपि उच्चकुलीनैर्धर्माधिरूढैर्महापुरुषैर्न भक्ष्यते तद्भक्षणमपि चतुर्थमभक्ष्यम्। यच्च भक्ष्यमपि स्वशरीरप्रकृतिविरुद्धं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोगोत्पादकं रोगाद्यवस्थायामपथ्यकारकमस्ति तद्भक्षणमपि दोषास्पदमेव व्रतिनामस्ति इति पञ्चविधमस्ति। ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धानि द्वाविंशतिसंख्यकानि तु अभक्ष्याणि पूर्वोक्तकारणैरेव त्याज्यानि सन्ति। यदि द्वाविंशतिसंख्यातो बहिर्भूतानि अपि वस्तूनि अभक्ष्यलक्षणैर्लक्षितानि स्युस्तदा तान्यपि अभक्ष्याणि इति निश्चेतव्यम्। तुच्छफलेषु सप्रतिष्ठितत्वं वर्तते तस्मादनन्तस्थावरप्राणिविघातो भवति तद्भक्षणे। बदरीफलादिषु च तुच्छफलेषु त्रसजीवानामपि स्थानानि सन्ति न तु अतितुच्छफलानां शोधनम्भवितुमर्हति तस्मात् कारणात् दयाधर्मविनाशकानां तेषां भक्षणं स्पर्शनञ्च भवदुःखभीरुभिः श्रावकैर्न कर्त्तव्यमिति। स्वप्राकृतिकस्वादतः चलितस्वादानामपि वस्तूनां भक्षणं न कर्त्तव्यम्। तदपि नानात्रसजीवानां योनिः। अतः भक्ष्यमपि वस्तु यदा स्वादतः विचलितं स्यात्र तदा भक्षणीयं तत्। इति पूर्वोक्तविधिना अभक्ष्यभक्षणत्यागात् दयाधर्मसंरक्षणात् शान्तिप्रदायिनी बुद्धिरुत्पद्यते।१०५/१०६।

जो पदार्थ खाने के अयोग्य है वह अभक्ष्य है। खाने के अयोग्य पदार्थ पाँच कारणों से होते हैं—

(१) जिनके खाने में त्रस जीवों का घात हो। जैसे-पञ्चोदुम्बरफल, रात्रि में निष्पन्न भोजन, मक्खन, (मर्यादा बाहिर) मधु, बरफ, द्विदल, बैगन, अचार इत्यादि।

(२) जिनके खाने में बहुत से स्थावर जीवों का घात होता हो। जैसे-कन्दमूल, बहुबीजा, कोंपल, बालअवस्था वाले फल इत्यादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ।

(३) जिनके खाने से चित्त में भ्रम पैदा हो, नशा चढ़े, उन्मत्तता बढ़ जाय, पागलपन आ जाय। जैसे-मदिरा, गांजा, भांग, तम्बाखू, अफीम आदि।

(४) जो उच्च कुलीन धर्मात्मा व्रती पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किए जाते हैं वे पदार्थ चौथे प्रकार के अभक्ष्य हैं। लोकविरुद्ध पदार्थ का भक्षण लोकनिन्द्य होता है। जैसे-लहसुन, प्याज आदि। यद्यपि ये जमीकन्द होने के कारण भी अभक्ष्य हैं तथापि लोकविरुद्ध भी है। जो जमीकन्द का त्याग नहीं किए वे भी उनका भक्षण कुलीन होने के नाते नहीं करते हैं। देश भेद से इसमें भेद पड़ जाता है। जिस प्रान्त में जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी लोकनिन्द्य हो वह व्रती को सेवन नहीं करना चाहिए। अजानफल भी इसी श्रेणी में है।

(५) जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी रोगोत्पादक हो या रोगावस्था में अपथ्यकारी हो या सहज ही प्रकृति के विरुद्ध पड़ता हो वह पदार्थ भी अभक्ष्य है। इसके भक्षण करने से मनुष्य रोगी होने पर धर्म कर्म से विहीन हो जाता है। संक्लेश परिणाम होते हैं, अतः हेय है। दूसरी बात यह है कि शरीर में रोग होने पर अनेक रोगों के कीटाणु उत्पन्न हो जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं और उनका मरण भी अवश्यंभावी है। अतएव ऊपर के ४ कारणों से रहित शुद्ध भी पदार्थ अहितकर, अपथ्य और रोगोत्पादक होने के कारण हिंसा का हेतु है अतः अभक्ष्य है।

जिन २२ अभक्ष्यों को ग्रन्थान्तरों में वर्णित किया है वे सब इन पाँच कारणों में से किसी कारण से ही अभक्ष्य हैं। जो पदार्थ अपने सहज परिणमन से भ्रष्ट होकर सड़ने लगता है वह स्वाद से विचलित हो जाता है। ऐसे स्वाद चलित पदार्थ में असंख्य त्रस राशि उत्पन्न हो जाती है, अतः वह कदापि भक्ष्य नहीं हो सकता। भले ही वह उक्त पाँचों कारणों को बचाकर अत्यन्त शुद्ध रीति से ही क्यों न निष्पन्न किया गया हो। विष आदि पदार्थ भी इसी तरह हेय हैं जब कि मारक हों। अर्थात् उनसे जीवन रक्षा न होकर जीवन नाश हो। जो उक्त पाँच अभक्ष्य के कारणों से रहित हैं और मारक शक्ति से रहित होकर जीवनप्रदायिनी शक्ति को प्राप्त होकर औषधि रूप हो गए हैं वे अभक्ष्य नहीं हो सकते हैं।

जो पदार्थ अशोधित हों वे भक्ष्य होने पर भी उस अवस्था में अभक्ष्य हैं; कारण सचित्तत्व होने की अर्थात् त्रस सहित होने की उनमें सम्भावना है। बेर का फल, मकोय आदि छोटे-छोटे फल जो फोड़कर नहीं खाए जा सकते या ऐसी वनस्पति या साग जिसे फोड़कर शोध नहीं सकते वे भी अभक्ष्य की श्रेणी में गर्भित हैं। जो पदार्थ देखने में जीव जन्तु के आकार के हैं, अर्थात् त्रस जीव के विशिष्ट आकार के हैं, जिनके खाने में खानेवाले के चित्त में ऐसी ग्लानि पैदा हो जाती है कि इसका खाना अमुक प्राणी को खाने जैसा लगता है या मांस समान दीखता है। इस प्रकार उसमें यदि अभक्ष्य का संकल्प आ जाय तो वह भी पदार्थ अभक्ष्य है।

अभक्ष्य भक्षण से बुद्धि भ्रष्ट होती है। दयाधर्म नष्ट हो जाता है। क्रूरता उत्पन्न हो जाती है। लोभादि कषायों का प्राबल्य हो जाता है। अतः शान्ति के इच्छुक धर्मात्माओं को अभक्ष्य के भक्षण का त्याग करना चाहिए। इस तरह श्रावक के आठ मूलगुण बताए गए हैं।१०५।१०६।

मूलव्रतातिचारवर्णनम्

प्रश्नः—वदातिचारकाः पञ्चौदुम्बरस्य कति प्रभो।

हे प्रभो! पाँच उदुम्बर फल त्याग रूप व्रत को पालने वाला जिस प्रकार से अपने व्रत को निर्दोष पालन कर सके, इसके लिए उस व्रत के अतिचारों का वर्णन करिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वे कितने और कौन-कौन हैं—

(अनुष्टुप्)

यावद्येषां फलानां तु गुणधर्मो न ज्ञायते ।।
न तावद् भक्षणं तेषां कार्यं तत्त्वार्थवेदिभिः ।।१०७।।
फलानामपि चान्येषां कृत्वा चूर्णञ्च छेदनम् ।।
ज्ञात्वा जीवांस्ततस्त्यक्त्वा कार्यं पश्चाद्धि भक्षणम् ।।१०८।।
त्रसजीवसमाकीर्णं फलं सेव्यं न तत्त्वतः ।
अतीचारविमुक्तं हि श्लाध्यं तस्य व्रतं भवेत् ।।१०९।।
विशेषकम्।।

यानि फलानि खलु व्रतिनोऽपरिचितानि सन्ति। यावद् येषां भक्ष्यत्वाभक्ष्यत्वविषये निर्णयो न जातस्तावत्तेषां भक्षणं दोषास्पदमेव। स्वस्यापि प्राणातिपातस्तस्मात् संभवति। तस्मादपरिचितं फलं न भक्षणीयम् । अन्येषामपि फलादीनाञ्चूर्णं वटिकाद्यपि औषधं जीवरहितावस्थायामेव भक्ष्यं स्यात् अतः शोधितं भक्षणीयम् । त्रसादिजीवसमाकीर्णानि अन्यान्यपि फलानि न भक्षणीयानि। बदरीफलादीनां शोधनेऽपि जीवानां संभावना भवति अतः न भक्षणीयम् । एवं विचारपूर्वकं व्रतमेव श्लाघ्यं भवति अतिचारैश्च विमुक्तं भवति। १०७।१०८।१०९।

जिस फल को व्रती पुरुष भक्ष्य है या अभक्ष्य ऐसा निर्णीत नहीं कर सकते वह कभी भक्ष्य नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुष को वह कभी नहीं खाना चाहिए। उस प्रमाद से अभक्ष्य भक्षण में आ सकता है। बिना जाने हुए फल को खाने से खुद का भी मरण या रोगादिक का होना सम्भव है।

एवं और भी फल आदि वस्तुएँ जो सुखा ली जाती हैं और जिनके टुकड़े-टुकड़े करके रख लिए जाते हैं या चूर्ण या गोली बनाकर औषधि के काम में लाए जाते हैं उन सबको अशोधित खाना दोषास्पद है। शोध कर ही निर्जीवावस्था में उनका सेवन करना चाहिए। त्रसजीव संयुक्त बेर, मकुइया, जामुन और अचार आदि अभक्ष्य ही हैं। बेर आदि शोधनीय हो भी जाँय तो भी उनमें त्रस जीवों की संभावना है। अतः अभक्ष्य ही हैं। इस प्रकार विचारपूर्वक भोजन करनेवाले पुरुष का व्रत ही निरतिचार और प्रशंसा योग्य होता है। १०७।१०८।१०९।

प्रश्नः—मांसातिचारचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! मांस के सर्वथा परित्याग रूप व्रत को पालनेवाले व्रती को भी जिन कारणों से मांसभक्षण सम्बन्धी अतिचार प्राप्त होते हैं उनको बताइए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

चर्मपात्रे धृतं तैलं हिंगु नीरं तथा घृतम् ।
त्यक्तमांसाशनैस्त्याज्यमेवमन्यद्यथागमम्।।११०।।

चर्मेत्यादिः— चर्मणि धृतं तैलं हिंगु नीरं घृतं वा यत्किञ्चिदपि भोज्यं पेयं वा तन्मांसदोषापादकमस्ति। नखरोमादिसंयुक्तमपि भोजनं मासांतिचारोत्पादकमास्ते। यस्मिन् वस्तुनि इदं मांसमिति सङ्कल्पो जायते तद्भक्षणेऽपि मांसातिचारो भवति। अतः त्यक्तमांसाशनैः मांसव्रतधारिभिरेते अतिचाराः यथागमं परिहर्तव्याः।११०।

चमड़े के बर्तन में रखी हुई वस्तु का भक्षण मांसातिचारोत्पादक है। जैसे घी, तेल, हींग और जल आदि पदार्थ अनेक प्रान्तों में चमड़े की मशक में रखे जाते हैं। चमड़े की चालनी में चाला हुआ, चमड़े की तराजू में तौला हुआ तथा चमड़े के सूपे में रखा हुआ आटा आदि अभक्ष्य हैं। और जो अनाज धोकर शुद्ध किया जा सकता है उसे धोकर शुद्ध कर ही काम में लाना चाहिए। भोजन में यदि नख रोमादि का संपर्क आ जाय तो वह नहीं खाना चाहिए। रोम शरीरांश है अतः रोम, नख आदि सहित (स्पृष्ट) पदार्थ न खाना चाहिए। इसी प्रकार जिस पदार्थ में यह मांस है ऐसा संकल्प हो जाय उसे खा लेना भी मांसातिचार है। इनका वर्जन व्रती को अवश्य करना चाहिए। मांसभक्षी के हाथ का तथा उसके वर्तनों में बना आहार भी सर्वथा त्याज्य है।११०।

प्रश्नः—मद्यातिचारचिह्नं किं वर्त्तते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! मद्यत्याग व्रत के दोष कौन-कौन हैं, कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

मद्यपायिकरस्पृष्टं भोजनमपि दोषकृत् ।
न सेव्यं निन्दितं वस्तु स्वादतश्चलितं तथा ।।१११।।

मद्यपायीत्यादिः— गुडादिषु मदोत्पादकेष्वन्येषां द्रव्याणां सम्मिश्रणात् कालान्तरे मद्यमुत्पद्यते। तत् खलु ये पिबन्ति ते मद्यपाः। मद्येऽनेके त्रासाः समुत्पद्यन्ते, तत्पाने च म्रियन्ते। स्वचित्तस्योन्मादेच्छया खलु सेवन्ते मद्यम् । तद्वत् स्वस्वादतः विचलितं भोज्यमपि सन्धानात् मद्यमिव त्रसजीवसमाकीर्णं भवति, तस्मात्तद्भक्षणे मद्यस्यैवातिचारः स्यात् । मदोत्पादकानामन्येषामपि पदार्थानामासेवनं मद्यस्यैवातिचाराय भवति। मद्यपानां करस्पर्शान्निष्पन्नमन्नादिकञ्जलादिकञ्च नो ग्राह्यं व्रतिभिः। यतः खलु चित्तभ्रमवतां कश्चित्प्रत्ययः। तद् भक्ष्यं वा स्यात् अभक्ष्यं वा स्यात्, न तस्य तयोर्विवेकोऽस्ति। यः खलु तत्करस्पृष्टमन्नादिकं पानादिकं वा सेवते तस्य तस्याद्भोजनस्य शुद्धिः। तत्प्रसङ्गेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्प्रयुक्तानामपि भाजनानामुपयोगाः स्यात् । मद्यस्पृष्टे भाजने भोजनमपि तद्दोषाधायकं स्यात् एवं तत्संगात् मद्यात् विरक्तिश्च नश्यति तस्मिन्ननुरागश्चोत्पद्यते, सत्येवं व्रतं च नश्यति। तस्मादतिचारान् परित्यज्य व्रतं रक्षणीयम् ॥१११॥

गुड़ आदि में मदोत्पादक अन्य पदार्थों को गलाकर मद्य बनाया जाता है। उसे पीनेवाले मद्यप कहलाते हैं। मद्य में अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, जो मद्यपान से नष्ट हो जाते हैं। उन्माद को उत्पन्न करने के लिये ही लोग मद्य का सेवन करते हैं। इसीप्रकार जो पदार्थ मदोत्पादक हों और जो पदार्थ सड़ जाने से अपने स्वाद से विचलित हो गये हैं उनका सेवन मद्य के दोष को ही उत्पन्न करता है। मद्य पीनेवालों की संगति करना, उनसे सम्बन्ध बढ़ाना, उनके साथ बैठकर भोजन करना, उनके द्वारा बनाया अन्न व जल ग्रहण करना, उनके द्वारा उपयुक्त बर्तनों में भोजन आदि करना और उनके बाल-बच्चों से अपने बालबच्चों की शादी आदि करना ये सब मद्य के अतिचार हैं। इन कार्यों से मद्य के प्रति होनेवाली विरक्तता मिट जाती है और मद्य के प्रति अनुराग क्रमशः बढ़ता जाता है। कुछ ही समय बाद ऐसे लोग स्वयं मद्यपायी हो जाते हैं। उनका भक्ष्याभक्ष्य का विवेक उन अविवेकियों की संगति में नष्ट हो जाता है। अभक्ष्य के प्रति घृणा का भाव उठ जाता है। यह विचार कर मद्य के उक्त अतिचारों से दूर रहकर अपने व्रत की रक्षा करनी चाहिए।१११।

प्रश्नः—मध्वतिधारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! मधुत्यागव्रत में भी कोई अतिचार होते हैं? यदि होते हैं तो कृपाकर समझाइए—

(अनुष्टुप्)

त्रसजीवसमाकीर्णं कुसुमं चान्यद्वस्तुकम् ।
मधुस्पृष्टं सदाऽहृद्यं त्याज्यं तत्त्वार्थवेदिभिः।।११२।।

त्रसेत्यादिः— त्रसजीवानां हिंसादोषाधायकत्वाद्यथा मधु त्याज्यं तथा त्रसजीवसमाकीर्णं अन्यदपि वस्तु त्याज्यम् । तद्भक्षणे तद्व्रतातिचारः स्यात् । कुसुमेषु क्षुद्रजन्तुकाः तन्मत्तगन्धग्रहणेच्छया रसेच्छया च समागच्छन्ति। ते तु तत्रैवानुरक्तास्सन्तः निवसन्ति न परित्यजन्ति तदावासं प्राणान्तेऽपि। सरोजे भ्रमराणां तद्गन्धलोभेन मरणं जगति प्रसिद्धमेव। तज्जातीयानामन्येषामपि जन्तूनां तादृश्येव स्थितिरस्ति। तस्मात् कारणात् प्रायेण पुष्पाणामशनं न कर्त्तव्यम् । कृते च तदशने मध्वतिचारः स्यात्। मधुस्पृष्टे भाजनेऽपि भोजनं न कार्यम् । तथा मधुस्पृष्टं अन्यदपि वस्तु न ग्राह्यं। नेत्राञ्जनादौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दन्तरोगादावपि मधोः प्रयोगः न कर्त्तव्यः। औषधिरूपेणापि लेपादौ तस्य प्रयोगः दोषाधायको ऽतिचार एव स्यात् ।११२।

मधु त्रस जीवों का कलेवर है और त्रसोत्पादक है अतएव अग्राह्य है। इसी प्रकार उक्त दोषों से पूर्ण जो भी पदार्थ हैं उनका सेवन करना मधुव्रत के लिए ही दोषाधायक है। फूलों में उसकी गंध और रस के लोभी छोटे-छोटे जन्तु सदा बसते हैं और प्राणान्त हो जाने पर भी उनको नहीं छोड़ना चाहते। कमल में गंध के लोभ में भ्रमर के मरण को प्राप्त हो जाने की कथा जगत में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भ्रमर की ही जाति के अन्य क्षुद्र कीटाणुओं की भी यही स्थिति है। उक्त कारणों से प्रायः फूलों का सेवन नहीं करना चाहिए। जो पुष्प शोधे जा सकते हैं-स्पष्टतया त्रस रहित किए जा सकते हैं, आवश्यकता होने पर उनका उपयोग कर भी सकते हैं, तो भी ऐसी पुष्प जो शोधे नहीं जा सकते, या शोधे जाने पर भी जिनपर क्षुद्र जन्तु उड़कर बैठ जाते हैं, या जो सदा जीवसमाकीर्ण ही रहते हैं ऐसे नीम के फूल केतकी पुष्प आदि सर्वथा परिहार के योग्य हैं।

मधुस्पृष्ट भोज्य को ग्रहण करना, मधुस्पृष्ट भाजन में भोजन करना भी अतिचार है। नेत्र में, दांतों में और गुदा में उत्पन्न हुए अनेक रोगों में जो मधु का प्रयोग किया जाता है वह भी दोषाधायक है। अर्थात् औषधि के रूप में लेपादि के लिए भी मधु का प्रयोग मधुव्रतवाले के लिए अतिचार ही है। अतः अतिचारों का परहेज कर व्रत को निर्मल बनाना ही श्रेयस्कर है।११२।

अथ सप्तव्यसनातिचार

प्रश्नः—द्यूतातिचारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद।

हे गुरो! द्यूत व्रत के दोषाधायक अतिचारों का वर्णन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

क्रीडतश्च मिथो द्यूतं दृष्ट्वा जीवान् कदापि न।
तुष्येत् पलायनं लोभात् कारयित्वा पशोस्तथा।।११३।।

क्रीडतश्चेत्यादिः— द्यूतक्रीडां कुर्वतां समर्थनं तेषां प्रशंसा द्यूतक्रीडादर्शने समुत्सुकता तद्दर्शनात् संतोषः एते सर्वेऽपि द्यूतातिचाराः। जयपराजयेच्छया पशूनां पलायनक्रीडा द्यूतमेव। होढादिना मनः प्रसत्त्यर्थं यत्किञ्चिदपि क्रियते तत्सर्वमपि द्यूतक्रीडात्यागव्रतस्यातिचारेषु गर्भितमेव। यथा द्यूतक्रीडा विशिष्टरूपेण रागद्वेषादीनुत्पादयति तद्वत् तत्सर्वमपि। तस्मात्तत्परिवर्तनेन व्रतं रक्षणीयम् ।११३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जुआ खेलना जैसे विशिष्ट राग-द्वेष, लोभ और मोह का उत्पादक होने से श्रेयोमार्ग का विघातक है उसी उसी प्रकार वे सब कार्य जो द्यूत क्रीड़ा के समय ही विशिष्ट राग-द्वेष को उत्पन्न करते हों वे सब द्यूतक्रीड़ा जैसे ही हैं और उनका सेवन व्रती पुरुष के लिए अतिचार है।

पशुओं का लड़ाना, दौड़ाना व परस्पर संघर्ष करा देना ये सब राक्षसी प्रकृति के आनन्ददायक कार्य दोषोत्पादक हैं। ये लोग पशुओं की पराजय से अपनी पराजय और उनकी विजय में अपनी विजय मानकर उनमें मारणान्तिक संघर्ष उत्पन्न करा देते हैं। यह सब महान् दोषाधायक है।

होड़ लगाकर जीत हार की शर्त रखकर जो भी खेल खेले जाते हैं, जिनका अभिप्राय अर्थात् उद्देश्य केवल अपने दुरभिप्राय और दुरिच्छाओं की पूर्ति है, परपराजय, परनिन्दा, परावनति तथा स्वविजय, स्वप्रशंसा और स्वाहंकार ही जिनका प्रतिफल है वे सब कार्य जैसे ताश खेलना, चौपर, संतरंज, घुड़दौड़ आदि द्यूत के समान ही दोषाधायक होने से अतिचार हैं।

पर स्वास्थ्य रक्षा, ज्ञानवृद्धि और सदाचार की उन्नति के उद्देश्य से किए जानेवाले और उक्त उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले होड़ के कार्य दोषाधायक नहीं हैं। उससे मनुष्य की उन्नति होती है विद्या बढ़ती है, स्वास्थ्य अनुकूल होता है। सदाचार की वृद्धि होती है। जैसे-सदाचारी छात्र को पारितोषिक देने की शर्त लगाकर घोषणा करना, अमुक ग्रंथ में अच्छे नम्बरों में पास होने पर अमुक पारितोषिक प्राप्त होगा आदि की घोषणा करना तथा अनुत्तीर्ण होने पर शारीरिक व आर्थिक दण्ड की घोषणा करना इत्यादि ये सब कार्य ग्राह्य हैं; क्योंकि ये बालकों को द्यूतादि से दूर कर ज्ञानार्जन और स्वास्थ्य तथा सदाचार वर्द्धन की प्रेरणा करते हैं।

किसी भी कार्य का गुणदोष उसके उद्देश्यपूर्ति के ऊपर ही लिया जाता है। एक ही कार्य दोषोत्पादक होने से हेय और गुणोंत्पादक होने से उपादेय हो जाता है। मुनिपर उपसर्ग करनेवाले सिंह और सिंह से मुनि की रक्षा करने की इच्छा रखनेवाले शूकर में जब संघर्ष हुआ तब दोनों एक दूसरे पर प्रहार करते थे, मारते काटते थे, यहाँ तक कि अन्त में दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गए। एक दूसरे को मारने के दोनों दोषी हुए फिर भी शूकर स्वर्ग गया और सिंह नरक गया। दोनों के कषायें थीं पर दोनों के उद्देश्य भिन्न थे, इसलिए एक ही कार्य करने पर दोनों के परिणामों में महान् भेद था, अतएव उनके फल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में भी भेद हुआ। इसी प्रकार होड़ लगाकर शर्त के साथ भी सदभिप्रायपूरक जो कार्य किए जाँयगे वे दोषोत्पादक नहीं हैं। किन्तु उसी प्रकार की शर्त लगाकर लोभादि अभिप्राय पूरे करने की इच्छा से या दूसरे को नीचा दिखाने के अभिप्राय से, अपने अहंकार को पोषण करने के अभिप्राय से, अपनी प्रशंसा हो अन्य की निन्दा हो जाय इस अभिप्राय से जो क्रीड़ाएँ की जाती हैं, राग-द्वेषवर्धन ही जिनका एकमात्र फल है वे द्यूत क्रीड़ा के अतिचार हैं।

जुआ खेलनेवाले मनुष्यों के कर्तव्यों का समर्थन करना उनके कार्यों की प्रशंसा करना, जुआ के खेल देखने की उत्सुकता होना, उन्हें देखकर संतुष्ट होना, जुआ खेलने का उपदेश देना, उसके लिए दूसरों को प्रेरणा करना, जुआरियों को रुपया वगैरह उधार देकर जुआ खिलवाना, उन्हें स्थान की सुविधा देना इत्यादि सब कार्य उसी द्यूतव्रत को नष्ट करनेवाले अतिचार हैं जो कालान्तर में अनाचार के हेतु हैं। अतः इन सबका परिहार कर व्रत को निर्मल बनावे।११३।

प्रश्नः—वेश्यात्यागातिचारस्य किं चिह्नं विद्यते वद।।

वेश्याव्यसन त्याग व्रत के अतिचार कौन हैं, कृपाकर हे गुरो! कहिए—

(अनुष्टुप्)

वार्तालापः तया सार्धं न कार्यो धार्मिकैर्जनैः।
न वेश्यागीतनृत्यादि पश्येद् गच्छेन्न तद्गृहम् ।।११४।।

वार्तेत्यादिः— वेश्याव्यसनव्रतिनः वेश्यानृत्यदर्शनं तद्गीतश्रवणं तद्गृहगमनं तया सह वार्तालापः तया सह व्यापारादिकञ्च न करणीयम्। यतस्तत्सर्वं तद्व्रतातिचार एव।११४।

वेश्याव्यसन त्याग व्रत की रक्षा करनेवाले को चाहिए कि वह उसके प्रति प्रेरणादायक प्रत्येक कार्य से बचे। वे सब उस व्रत के अतिचार हैं। जैसे वेश्या का नृत्य देखना, उसका गाना सुनना, उसके घर जाना, उससे वार्तालाप करना, उसके साथ लेनदेन व्यापार आदि करना, उसे अपने गृह में रहने को स्थान देना, वेश्याव्यसनियों की संगति करना, उन्हें वेश्या के प्रति अनुरागी बनाना, उन्हें आर्थिक सहायता देना ये सब उस व्रत को नाश करने के हेतु हैं। चित्र के द्वारा या सिनेमा आदि के द्वारा भी वेश्यानृत्यदर्शन या वेश्यागीतश्रवण इस व्रत के लिए दोषास्पद है।११४।

प्रश्नः—स्तेयातिधारचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे गुरुदेव! चोरी व्यसन त्यागव्रत के अतिचारों का प्रतिपादन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

धनधान्यादिकमग्राह्यं परस्यान्यायतश्छलात् ।
यतो व्रतं भवेत् पूर्णं लोकद्वयसुखावहम् ।।११५।।

धनेत्यादिः— अन्यायमार्गतः विश्वासघातात् छलव्यवहारात् परेषां धनधान्यादिवस्तूनां यद् ग्रहणं तत्सर्वं चौर्यव्यसनत्यागव्रते दोषस्पदमेव। इत्येवमेतानतिचारान् परित्यज्य विश्वासं समुत्पाद्य नैतिकाचाराविरोधेन सहजसद्व्यवहारेण धनोपार्जनं कर्त्तव्यं नान्यथा एवं करणे तु उभयलोके सुखावाप्तिः स्यात् व्रतं च पूर्णं भवेत् ।।११५।।

चोरी का त्याग करनेवाला व्यक्ति कदाचित् चोरी न करते हुए भी परके धन, धान्य, पशु आदि के पदार्थों को अथवा राजकीय, व्यापारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा कौटुम्बिक अधिकारों को अन्य मार्ग से, विश्वासघात करके और कपट करके छीन लेवे तो यह सब चौर्यत्यागव्रत के ही दोष हैं।।११५।।

प्रश्नः—आखेटकातिचाराणां किं चिह्नं विद्यते गुरो।

हे गुरुदेव! आखेटक व्यसन के कौन से अतिचार हैं, कहिए—

(अनुष्टुप्)

मह्यां लिखितचित्राणां भित्तिकाष्ठपटादिषु।
छेदनं भेदनञ्चूर्णं न कार्यं धर्मवेदिभिः।।११६।।

मह्यामित्यादिः— पृथिव्यामुल्लिखिते तथा भित्त्यादौ काष्ठनिर्मिते पटादिके वस्त्रादौ कर्गले वा चित्रिते चित्रादौ मनुजोऽयं इति संकल्पः जायते। उक्तप्रकारेण संकल्पिते जीवे छेदनादिकमंगभंगादिककरणं कर्त्तनं वा आखेटककर्त्तुर्निर्दयपरिणामहेतुत्वात् त्याज्यं धर्मज्ञैः। यथा मनसा जीवच्छेदनं मारणं वा दोषः तथैव वचसाऽपि तव मस्तकं छेत्स्यामि जिह्वाछेदनं करिष्यामि इत्यादिकं मर्मभेदिवचनमपि आखेटकव्रतेऽतिचारः स्यात्। कायेन हिंसायाः अभिनयः करवालेन मस्तकच्छेदनाभिनयो वा आखेटकत्यागव्रतस्यातिचार एव ततो धर्मविदिभिः तत्र कार्यम् ।।११६।।

पृथिवी पर, भित्ति पर, काष्ठपट पर, कागज या वस्त्रादिक पर उल्लिखित चित्र अथवा मिट्टी, काठ, धातु व काच आदि के बने हुए मनुष्य, हाथी, घोड़ा, आदि प्राणियों की मूर्तियों में जीव का संकल्प करके उनको मारना, मस्तक छेदना, अंग-भंग करना आदि दुष्कर्म आखेटत्यागव्रत के अतिचार हैं। जैसे लोक में रामलीला आदि के अवसर पर रावणादि की मूर्तियाँ बनाकर उनका मस्तक छेदते हैं और जो भी विद्वेष पूर्ण भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं वह सब इस व्रत के लिए दोषाधायक हैं। यद्यपि रावण का दुष्कृत्य निन्द्य है तथापि किसी आश्रय से अपने परिणामों में क्रूरता लाना भी बंध का ही हेतु है।

मन के द्वारा मारण, छेदन, अंग भंग का विचार जैसे दोषास्पद है; क्योंकि ऐसा संकल्प परिणामों में निर्दयपना उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वचन के द्वारा दुष्ट बातों का कहना तेरा मस्तक छेदूँगा इत्यादि हिंसा पूरक निर्दयता के वचन और काय के द्वारा हिंसा का अभिनय जैसे किसी के मस्तक के छेदन का अभिनय, शिकारी का वेश रखना तथा शिकार का स्वांग करना, इत्यादि काय से क्रूरकर्म करना सब आखेटत्यागव्रत के लिए अतिचार हैं। इन सबसे परिणाम मलिन होते हैं तथा इस व्यसन के लिए प्रोत्साहन मिलता है।।११६।।

प्रश्नः—परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! परस्त्रीव्यसनत्यागव्रत के अतिचार कौन-कौन हैं, कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

कन्यकादूषणं वापि कन्यकाहरणं हठात्।
नान्यस्त्रीचिन्तनं कार्यं कदापि भवभीरुभिः।।११७।।

कन्यकेत्यादिः— अन्यत्र निश्चितसम्बन्धायाः स्वविवाहार्थमुद्बोधनं तस्यां मिथ्यादूषणारोपणं हठात् कन्यायाः गांधर्वविवाहार्थं हरणं परस्त्रीणां नखशिखशृंगाराणाञ्चिन्तनं इत्येतत्सर्वं परस्त्रीत्यागव्रतिनो दूषणमेव। परस्त्रीव्यसनपरित्यागेऽपि तद्विषयः कथाप्रसङ्ग व्यभिचारिणीभिः वार्तालापः हास्यादिकं भण्डवचनानां प्रयोगकरणं तद्व्रतातिचारा एव। स्त्रीणां चित्रसंग्रहो नग्नचित्राणां दुर्भावनयाऽवलोकनं स्वस्त्रियामपि अत्यासक्तिः कामातुरता अनङ्गसेवनं इत्यादीनि तद्विषयरागवर्द्धकानि सर्वाण्यपि कार्याणि अतिचारेष्वेव गर्भितानि सन्ति। तस्मात् भवभीरुभिः तत्परिहारः कर्त्तव्यः येन व्रतं निर्मलं स्यात् ।।११७।।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

जिस कन्या का किसी दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्ध निश्चित हो चुका है उसे अपने विवाह के लिए समझाना, उस पुरुष को उससे विरक्त करने के लिये कन्या को मिथ्या दूषण लगाना, कन्या को अपने साथ विवाहित करने के लिए हठात् हरण कर ले जाना, परस्त्रियों के नख-शिख शृंगार आदि का विचार करना, उनकी सुन्दरता का विचार करना ये सब परस्त्रीव्यसनत्यागी के लिए अतिचार हैं। व्रत को ये दूषित करनेवाले हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्त्री का त्याग होने पर भी जो परस्त्रियों की चर्चा करते हैं; उनके हावभाव, विलास, क्रीड़ा, गमन, हास्य और वेश-भूषा आदि विषयों पर वार्तालाप करते हैं, व्यभिचारिणी स्त्रियों से हँसते बोलते हैं, व्यङ्ग्य वचन कहते हैं, गाली आदि भण्डवचन बोलते हैं, स्त्रियों के चित्रों का संग्रह करते हैं, नग्न चित्रों का दुर्भावना से अवलोकन करते हैं वे अपने पवित्र व्रत को मलिन करते हैं, अतः उक्त सभी ही दोष त्याज्य हैं।

स्वस्त्री में भी अति आसक्तता, काम से अतिआतुर होना, विभिन्न अङ्गों से क्रीड़ा करना आदि सम्पूर्ण कुचेष्टाएँ रागभाववर्द्धक होने से स्वदारसन्तोषी व्यक्ति के भी असन्तोष को उत्पन्न कर उसके व्रत को मलिन कर देती हैं, अतः इन कुचेष्टाओं को व्रत का अतिचार मानकर दूर से ही त्याग देना चाहिए।।११७।।

उपसंहार

इस प्रकार द्वितीय और तृतीय अध्याय में दार्शनिक श्रावक (प्रथम प्रतिमा) का स्वरूप निरूपण किया है। प्रथम प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावकों में जघन्य नैष्ठिक है। यद्यपि छह प्रतिमाएँ जघन्य नैष्ठिक की हैं तथापि यह जघन्य नैष्ठिक का प्रारंभिक प्रथम स्थान है। श्रावक की मुख्य श्रेणी यहाँ से प्रारम्भ होती है।

दार्शनिक श्रावक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यक्त्व सम्बन्धी अतिचारों तथा अन्य दोषों से वह दूर रहता है। वह चारित्र भवन के प्रथम सोपान पर स्थित है। उसकी प्रवृत्ति सम्यक् मार्ग की ओर है। मिथ्यामार्ग और अन्ध-विश्वासों के लिए वहाँ स्थान नहीं है। वह केवल जिनोपदिष्ट तत्त्व का दृढ़तम श्रद्धानी है। उसे यह भलीभाँति ज्ञात है कि जो यथार्थ है, सत्य है वही जिनेन्द्र ने कहा है। जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हैं; क्योंकि वे निस्पृह, निःस्वार्थ (सांसारिक स्वार्थरहित), पूर्ण सम्यग्ज्ञानी, वीतराग और सर्वहितैषी हैं। वह पद-पद में उनके वचनों की सत्यता पाता है। जगत् की अस्थिरता, अशरणता, संसरण-शीलता, जीव की स्थिति, उसका उपयोगात्मक स्वभाव, उसका गुणीस्वरूप, उसका अमूर्त्तत्व, उसका पुद्गल से वैशिष्ट्य अर्थात् पृथक्त्व, अपना एकाकीपन, शरीर की कृतघ्नता, उसकी अशुचिता का नग्न सत्य, कर्म के आस्रव, बंध तथा उदय की स्थिति, जीव के उपशम भाव, धर्म की दुर्लभता आदि सत्य तत्त्वों का उसे अपने जीवन के प्रत्येक कार्य में अनुभव मिलता है। प्रति समय वह इनका विचार करता है और उसे इनका आभास मिलता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने इस सत्यपूर्ण विश्वास के कारण वह संसार के मायामय, दुःखमय, अनात्मरूप, अशुभरूप, नाशवान् स्वरूप से विरक्त रहता है तथा अपने सुखमय, शुभरूप, नित्य, अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मरूप में अनुरक्त रहता है। अपने इस रूप को प्राप्त करने के लिए वह लालायित है, कृत-संकल्प है। अतः उसकी प्रवृत्तियाँ सदा संसार की स्त्रियों से, शारीरिक मोह से और विषय-भोगों से कटी-कटी-सी रहती हैं। जैसे बहुत समय के दो मित्रों में परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो जाय तो वे एक दूसरे के साथ रहते हुए भी, काम करते, आते-जाते, उठते-बैठते, वार्तालाप करते हुए भी आपस में कटे-कटे से रहते हैं और सदा सावधान रहते हैं कि कहीं साथी धोखे से किसी विपत्ति में न फँसा दे। वे साथी का साथ छोड़ नहीं पा रहे तो भी उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब वे उसे छोड़ सकें। इसी प्रकार दार्शनिक श्रावक संसार के सत्यार्थ स्वरूप से पूर्ण अवगत होने के कारण तथा शरीर और विषय-भोगों की निःसारता को समझ लेने के कारण उनसे विरक्त रहता है और संसार में रहते हुए, उसके सब काम करते हुए भी-अर्थात् व्यापार, व्यवहार, पत्नी, व बाल-बच्चों का परिपालन, इन्द्रियों का भोग, उद्योग-धंधे, कुटुम्बी और सम्बन्धियों से स्नेह-व्यवहार आदि व्यवहार धर्म पालन करते हुए भी वह इनसे यथार्थतया विरक्त है और उस समय की घात में है जब वह अपने को उनसे छुड़ा सके तथा आत्महितकारक मोहरहित, वैररहित, कपटरहित, कषयरहित, भोगरहित, सर्वहितकारक और सुखदायक सन्मार्ग को पूर्णरीति से अपना सके।

वह सदा पञ्चपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा दिगम्बर साधु) भगवान् पर दृढ़ आस्था रखता है, उन्हें ही इस संसार अटवी से उद्धार के लिए शरणभूत मानता है। अथवा संसार एक महान् अपार और अपरिमित गहरा समुद्र है। अनेक रोग-शोक संतापादि नक्रचक्र से यह भरा हुआ है। इसमें कोई जीव सछिद्र नाव में बैठकर चला और मध्यसमुद्र तक आकर नाव डूब गई। अब वह अकेला ही उसमें तैर रहा है। चारों तरफ जल ही जल है। कहीं तीर नजर नहीं आता। आठों दिशाएँ निराशापूर्ण हैं। जल भी अतल है अथात् नीचे भी गहराई अपार है, असंख्य खतरों से यह समुद्र भरा हुआ है। ऊर्ध्व दिशा में देखा तो केवल शून्य आकाश है। भुजाओं में वह सामर्थ्य नहीं कि समुद्र को तैरकर तीर की खोज कर सके। उसकी उत्ताल तरंगें क्षण-क्षण में उसे आत्मसात् करने को भुजाएँ फैलाए हैं। उनकी चपेट की ठोकर से उसका जीवन क्षण-क्षण में निराश होता है। ऐसे समय यदि आकाश मार्ग से कोई विमान आकर उसे हस्तावलंबन देकर उठा ले और विमान में बैठा ले तो वह क्षण भर में निराशा के गर्त्त से उठ सकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और अपने को अभयरूप अनुभव कर सकता है। दार्शनिक श्रावक यह अनुभव करता है कि मेरे लिए इस संसाररूपी महान् समुद्र से उद्धार करनेवाले वे आकाशचारी समुद्र के तल से दूर रहनेवाले महान् उपकारक पञ्चपरमेष्ठी भगवान् ही हैं, वे ही एकमात्र शरण हैं, अन्य शरण नहीं। उनका आश्रय लेने से मैं अनायास ही इस दुःखमय बन्धन से शीघ्र मुक्त हो सकता हूँ।

जैसे नाना विपत्तियों से घिरे हुए मनुष्य के जो अपनी दरिद्रता, रोग, बेकारी के तथा छोटे-छोटे बच्चों की रक्षा के भार के कारण परेशान है और मित्र, कुटुम्बी, साथी, समाज आदि सबके द्वारा परित्यक्त है, पास कोई भी नहीं आता, मोखिक सान्त्वना तक भी नहीं देता, बल्कि लोग तानाकसी करते हैं, व्यंग्य कसते हैं, चिढ़ाते हैं, नाना नई विपत्तियाँ लाकर खड़ी कर देते हैं। ऐसे समय यदि कोई सहानुभूतिपूर्ण वाक्य कहकर उसे उसकी गलती सुझावे तो वह उसे अमृतोपम मानकर नवजीवन-सा पाता है, और किसी भी हालत में उसकी बात टालने को तैयार नहीं है। उसे विश्वास है कि मेरे उद्धार का मार्ग यही व्यक्ति बतावेगा। डूबते हुए को तृण का सहारा भी बहुत हो जाता है। वह जानता है कि तृण बहता आ रहा है तो यहाँ पास में घास-फूसवाली जमीन भी होगी। इसी तरह वह विपद्ग्रस्त पुरुष भी यह आशा करता है कि जिसने मुझपर दया-दृष्टि कर सहानुभूति के दो शब्द कहे हैं और मेरी भूल बताई है, वह उस भूल का प्रतीकार भी बता सकता है। ऐसा विश्वास कर वह उसकी शरण पकड़ लेता है। ऐसे ही नाना व्यसनों में भरे हुए अनन्यशरण इस संसार में अपने स्वरूप का भान न होने से जो उस विपद्ग्रस्त पुरुष की तरह अपने को एकाकी और असहाय अनुभव करने लगा है वह अपनी भूल बतानेवाले दयामय पञ्चपरमेष्ठी भगवान् को ही एकमात्र अपना त्राता मानता है। वह जानता है, जो अन्य सब संसार के मोही व्यक्ति उसे अपने साथ ले डूबेंगे, ये ही वीतराग उद्धारक हैं जो मोह के फंदे से छूट चुके हैं।

दार्शनिक प्रत्येक क्षण में सत्यमार्ग पर ही चलता है। वह सत्यान्वेषी है। वह प्रत्येकपदार्थ में उसके रहस्य का खोजी है। वह उसके ऊपरी मनोमोहक रूप से प्रभावित नहीं होता, किन्तु उसके आन्तरिक रहस्य को जानने में सदा प्रयत्नशील रहता है। यदि कोई उसे दुर्वचन कहे या उसकी हानि करे, तो वह बदले में दुर्वचन नहीं कहता और न विपक्षी को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है। वह यह सोचेगा कि इसकी उत्तेजना का कारण क्या है? दुर्वचन किसी का स्वभाव तो होता नहीं है, फिर उसने मेरे प्रति ऐसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार क्यों किया? मेरी अवश्य कोई भूल है या मैंने अवश्य इसे कोई हानि पहुँचाई है। अथवा यह मुझे ही दुर्वचन क्यों कहता है या मुझे ही हानि क्यों पहुँचाता है? अन्य को क्यों न कहता और उनको हानि क्यों नहीं पहुँचाता? ऐसा विचार करने पर उसे अवश्य उसका रहस्य मिल जाता है। उसके मूल कारण को जानकर वह उसे ही नष्ट करता है, ताकि भविष्य में दोनों अनिष्ट उसके सामने न आवें। मिथ्यादृष्टी मनुष्य ठीक इससे विपरीत दुर्वचनी को दूने दुर्वचन सुनाता है और उसकी दूनी हानि करने को प्रस्तुत रहता है। वह तत्काल बदले की भावना क्रोधवश पैदा कर लेता है। कषायावेश में वह सत्य की खोज नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में दार्शनिक सत्य की खोज करता है, उसके रहस्य को खोलता है और उसके मूल को सम्हालने का प्रयत्न करता है। वह कषायावेश में आकर अपने को सत्यान्वेषण के सम्पर्क से दूर नहीं फेंक देता।

सत्यान्वेषण कना सत्यमार्ग पर चलना यही सम्यक्त्व है। यह मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी है। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य भक्षण इन तीन बातों से सदा परहेज रखता है। वह सप्त व्यसनों का त्यागी पञ्च पापों से अपनी योग्यतानुसार विरक्त, अष्ट मूलगुणों का पालन तथा मिथ्या आयतनों और मूढ़ताओं से विमुक्त होने के कारण न्यायमार्ग से विरूद्ध मार्ग का कभी अवलम्बन नहीं कर सकता। वह सदा मर्यादा में रहता है। मर्यादा का उल्लंघन ही अन्याय है। सम्यक्त्वी अन्याय पर न चलता है और न अन्याय व्यवहार कभी सहता है। अन्याय अनेक प्रकार से होता है। जैसे किसी के अधिकार छीनना, किसी के प्राप्त अधिकार को स्वीकार न करना, व्यापार में लोक और राज्य के विरुद्ध मुनाफा उठाना, प्रमाण से अधिक भोजन करना, दूसरों के हकों को मारना, जरूरत से ज्यादा भोगोपभोग करना, अत्यधिक विलासिता, शृंगार रचना करना, धर्म के समय भोग भोगना, किसी को दुर्वचन कहना, अति संग्रह करना, अति लोभ करना, अति क्रोध करना, विश्वासघात करना, अहंकार करना, धर्मात्मा और सज्जन का यथायोग्य सम्मान न करना, लोक-विरुद्ध, नीति-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध वचन बोलना— ये सब न्यायमार्ग के विपरीत अन्यायपूर्ण कार्य हैं। इनसे दार्शनिक (प्रथम प्रतिमाधारी) बचता है।

जिन अभक्ष्यों का ऊपर विवेचन किया गया है उन सबका तथा इनके सिवाय और जो अभक्ष्य हो सकते हैं उन्हें वह कभी नहीं खाता। चोरी का द्रव्य अर्थात् चोरी से लाया गया द्रव्य, देवद्रव्य, धर्मादा का द्रव्य, हिंसा करके उत्पादन किया गया द्रव्य,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यभिचार से पैदा किया हुआ वेश्यादि का धन, दूसरे को सताकर लाया गया धन, भाई आदि कुटुम्बियों के हक का धन तथा किसी पर जोर जुल्म करके छीनकर लाया गया धन इत्यादि धन का उपभोग करना दार्शनिक अभक्ष्य सेवन तुल्य मानता है।

उक्त प्रकार कहे गये दार्शनिक के स्वरूप को जो भाग्यवान् विचार पूर्वक अपने जीवन में अपनाता है वह धन्य है। वही मोक्षमार्ग का सच्चा अधिकारी है। यह दार्शनिक अपने को सदा इससे भी उच्चतम बनाने के प्रयत्न में रहता है। दूसरी तीसरी आदि प्रतिमाओं पर आरूढ़ होने की उसकी सदा इच्छा रहती है। ऐसा उन्नतिशील धर्मात्मा दार्शनिक है।११७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्या में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थोऽध्यायः

प्रश्नः—प्रातरुत्थाय किं कार्यं वद मे शान्तये गुरो।

हे गुरुदेव! दार्शनिक श्रावक के आचार का वर्णन किया किन्तु उसके योग्य दिनचर्या कैसी होनी चाहिए, कृपाकर शान्ति की प्राप्ति के लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

नमोऽस्तु वीतरागाय भक्त्यैवमुच्चरन् वचः।
उत्तिष्ठतु सदा प्रातर्देहः स्यादशुचिर्यदि ।।११८।।
मौनेनैवोच्चरन्मन्त्रं ध्यायतु स्वात्मनः पदम् ।
आधिर्व्याधिर्यतो भीतिः स्वयं नश्येत् समूलतः ।।११९।।युग्मम्।।

नम इत्यादिः— प्रातः प्रथमं तावत् निद्रायाः परिसमाप्तौ भक्त्या "श्रीवीतरागाय नमः श्रीजिनाय नमः णमो अहिरन्ताणं" एवं नमस्कारात्मकं परमाराध्यपरमपूज्यपरमेष्ठिपरमात्मनः स्मरणात्मकं वचः वाक्यमुच्चरन्नेव सदोत्तिष्ठेत्। यदि कदाचित् संभोगादिकारणेन रोगादिना वा देहोऽशुचिभवेत् तर्हि मौनेनैव मन्त्रोच्चारणं कार्यम्। देहस्याशुचित्वभावनां च भावयित्वा स्वात्मनः शुद्धस्वरूपं ध्यायतु। यतः एवं कृते सति तस्य आधिः व्याधिः भीतिश्च मूलतः स्वयं नश्येत् ।११८/११९।

सर्वप्रथम जब प्रातःकाल निद्रा पूर्ण हो जाय तब "श्रीवीतरागाय नमः या श्रीजिनाय नमः" अथवा 'णमो अरिहन्ताणं" इत्यादि नमस्कारात्मक वाक्य जो कि परम आराध्य मंगलदायक और सर्वअनिष्ट निवारक परमात्मा के मंगलमयस्मरण स्वरूप हैं उनका उच्चारण करते हुए ही शय्या का परित्याग करे।

यदि कभी ऐसा प्रसंग आवे जो उठते ही यह अनुभव में आवे कि मेरी देह तो अशुद्ध है। रोगादि के कारण मैं पवित्रता से नहीं रह पाता हूँ या स्त्रीससंभोगादि गार्हस्थिक कार्यों के कारण वह अशुद्ध है अथवा छोटे-छोटे बाल बच्चों के मलमूत्रादि के संपर्क से देह वस्त्रादि अशुद्ध हैं तो शब्दों द्वारा मंत्रपाठ का उच्चारण न करे, क्योंकि अशुद्धावस्था में मंत्रपाठ करना, स्वाध्याय करना, सामायिक करना, देव वन्दना करना और दान देना आदि पुण्य कार्य करना निषिद्ध है। पवित्रता के साथ ही उक्त कार्यों को निष्पन्न करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। अतएव ऐसी स्थिति में मौनपूर्वक ही पञ्चनमस्कार मंत्र का स्मरण करे। स्मरण करने का त्रिकाल में भी निषेध नहीं है। अशुद्ध मनुष्य भी परमात्मा के स्मरण से पवित्र हृदय बन जाता है। इसलिए परमपूज्य पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करके शरीरादि की अपवित्रता और उस निमित्त से अपनी आत्मा की पराधीनता को विचार कर अन्यत्वभावना द्वारा आत्मा को शरीरादि से पृथक् चिन्तवन कर शुद्धस्वरूप का ध्यान करे। ऐसा करनेवाले महापुरुष की आधि, व्याधि, विघ्न, अनिष्ट और भय सब जड़ सहित नाश को प्राप्त हो जाते हैं।११८।११९।

(अनुष्टुप्)

ततः प्रातर्विधिं कृत्वा पूजां दानं तथैव च ।
स्वर्मोक्षदं मुदा स्तोत्रं स्वाध्यायं स्वात्मदर्शकम् ।।१२०।।
पश्चाद्धि भोजनं कुर्यात् तथान्यां शान्तिदां कृतिम् ।
यतः स्यात्सफलं जन्म भवबन्धनभेदनम् ।।१२१।।युग्मम्।।

तत इत्यादिः— तदनन्तरं प्रातर्विधिं दन्तधावनं तैलमर्दनं स्नानं च कृत्वा सामायिकं कुर्यात्। ततः स्वगृहाज्जलगन्धाक्षतादिद्रव्यमादाय ईर्यापथसंशुद्ध्या जिनालयं गच्छेत्। तत्र श्रीजिनालयस्य शिखरं दृष्ट्वा प्रहृष्टमनाः स्वजीवनस्य साफल्यं विचार्य निःसही इति त्रिवारमुच्चरन् जिनालये प्रविशेत्। मार्गस्पर्शात् समलं पादादिकं जलादिना पवित्रीकृत्य श्रीपरमपुरुषस्य स्वर्मोक्षदं स्तोत्रं मुदा पठन् दर्शनं कुर्यात्। ततः अष्टविधार्चनया जिनं संपूज्य शान्तिमाधाय इष्टं प्रार्थ्य स्वजन्मनस्साफल्यमन्यमानस्तत्र स्वात्मदर्शकं स्वाध्यायं कुर्यात् । यदि तत्र भाग्योदयात् परमगुरोः उपदेशलाभस्य संयोगः स्यात् तदावश्यमेव तद्वचनानि समाकार्ण्य प्रमादादिना कृतान् स्वदोषान् तत्र निवेद्य प्रायश्चित्तस्वरूपं तत्प्रदत्तं प्रायश्चित्तं च स्वीकृत्य प्रणामं कुर्यात् । तत्र स्वधार्मिकानवलोक्य प्रफुल्लितवदनः तैः सह प्रेमालापेन किञ्चित्कालं यापयित्वा अर्थिभ्यो यथायोग्यं साहाय्यं प्रदाय गृहमागच्छेत्। ततो नानाविधैरूपायैः हिंसादिमहापापविरहितैराजीविकां संपाद्य द्वारप्रेक्षणं कुर्यात्। उत्तमपात्रलाभे सति भक्त्या विनयपूर्वकमाहारदानं दद्यात् । तदलाभे मध्यमपात्राय जघन्यपात्राय वा तदलाभे दरिद्राय हीनपुण्याय दयापात्राय आहारादिद्रव्यं प्रदाय स्वगृहेऽपि स्वाश्रितान् भोजयित्वा मौनेन भुञ्जीत। दिवसमध्ये यथायोग्यं व्यापारादिकं विधाय सन्ध्यातः पूर्वमेव भोजनादिकञ्च विधाय सन्ध्यायां सामायिकं कुर्यात्। धार्मिकैः सह धर्मवार्तां जिनदर्शनपूर्वकं यथायोग्यानां शास्त्राणाञ्च वाचनं कुर्यात्। एतत्सर्वं विधाय यथासमयं पञ्चपरमेष्ठिनां स्मरणपूर्वकं शयीत। इत्येवंप्रकारेण साधारणी दिनचर्या प्ररूपिता। विशेषरूपेण तु यथा धर्मपरिपालनं स्यात् तथा अन्यान्यपि शान्तिदायकानि स्वपरोन्नतिशीलानि कार्याणि कुर्यात् यतः भवबन्धनं शिथिलं संजायेत तथा मानवजन्मनोऽपि साफल्यं स्यात्। १२०।१२१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदन्तर शौच क्रिया के पश्चात् दन्तधावन, तैलमर्दन तथा स्नान आदि नित्यक्रिया करके पवित्र वस्त्रों को धारण कर अपने गृह से जल, अक्षत आदि अष्ट द्रव्य लेकर ईर्यापथशुद्धि से गमन कर जिनालय जावे। दूर से ही जिनालय की शिखर तथा कलश और ध्वज को देखकर विचार करे कि मेरा जीवन सफल है, जो मैं परम वीतराग परमात्मा के पवित्र मन्दिर का दर्शन कर रहा हूँ। जिनालय जाते समय मार्ग में कोई दूसरा कार्य नहीं करने लगना चाहिए। निःसही शब्द को उच्चारण करते हुए श्री जिनालय में प्रवेश करे।

मार्ग में चलने से मलीनता को प्राप्त अपने पैरे आदि को पवित्र कर परमपुरुष का दिव्य दर्शन करे। श्री भगवान् का यह दर्शन नाना योनियों में परिभ्रमण करते-करते बड़े कष्ट से प्राप्त हुए इस मानव जन्म में बहुत ही सुयोग से प्राप्त हुआ है। ऐसा विचार करते हुए भक्तिभावपूर्वक अष्ट द्रव्य से श्रीजिन का अभिषेक पूर्वक पूजन करे। पूजन के अनन्तर शान्ति की अभिलाषा से शान्तिपाठ पढ़े, इष्ट प्रार्थना करे, विश्व की शान्ति के लिए तथा देश, राष्ट्र और समाज की शान्ति के लिए प्रार्थना करे। तदनन्तर जिन-वाणी का स्वाध्याय करे। यदि भाग्योदय से परम दिगम्बर गुरु का संयोग मिल जाय तो उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणामकर उनके श्रीमुख से अपना कल्याणकारक उपदेश श्रवण करे। अपने प्रमाद से या कषाय से या इन्द्रिय परवशता से कोई अपराध बन गया हो तो श्री गुरु के समीप आलोचना करे तथा उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित्त स्वरूप दण्ड को अङ्गीकार करके अपने जीवन को पवित्र बनावे।

जिन मन्दिर में अपने अनेक साधर्मी भाई आते हैं, उनको देखकर प्रसन्न वदन होकर उनके साथ धर्म कुशल पूछते हुए अपना कुछ समय धर्मालाप में व्यतीत करे और यह देखे कि इनमें कौन भाई ऐसा है जो किसी प्रकार के कष्ट में है। उनकी यथायोग्य सहायता कर अपने गृह लौटे। गृह में नाना प्रकार के सदुपायों से अपनी आजीविका सम्पादन करे। उसके बाद यथासमय द्वारप्रेक्षण करे। सौभाग्य से यदि कोई उत्तम सत्पात्र का लाभ मिल जाय तो श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उन्हें विधिपूर्वक आहार आदि दान देवे। यदि उत्तम पात्र का लाभ न हो तो मध्यम पात्र श्रावकों को या जघन्य पात्र जैनमात्र को दान देवे। उनका भी लाभ न हो तो दयाबुद्धि से दयापात्र जो त्रस्त हैं उनका आवश्यकतानुकूल आहारिक दान देवे। तदनन्तर अपने घर में अपने आश्रित जनों को तथा पशुओं को आहारादि की व्यवस्था कर मौनपूर्वक भोजन करे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोजन के अनन्तर दिवस सम्बन्धी अन्य आजीविका आदि कार्यों को यथायोग्य सम्पादन कर सन्ध्या से पूर्व ही भोजनादि से निवृत्त हो सन्ध्याकाल की सामायिक करे। तदनन्तर श्री जिनेन्द्र का दर्शन तथा स्तवन आदि कर साधर्मी भाइयों के साथ बैठकर शास्त्रश्रवण करे तथा धर्मवार्ता करे। रात्रि में यथासमय प्रमाद आने पर पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करके निद्रा को अङ्गीकार करे। यह श्रावक की सामान्य दिनचर्या है। विशेषरूप से अपनी प्रतिमा के व्रतों के अनुरूप कार्यों को करे तथा शान्तिदायक स्वपरोन्नतिकारक अन्य अन्य भी कार्य करना श्रावक का कर्त्तव्य है। इस प्रकार सुयोग्य रीति से धर्मपालन करते हुए जो श्रावक अपना समय व्यतीत करता है उसका संसार परिभ्रमण छूट जाता है और मानव जन्म सफल होता है।।१२०।१२१।

प्रश्नः—गर्भाधानक्रियादीनां किं रूपं कति ताः वद।

हे गुरु! गर्भाधानादि क्रियाएँ कितनी हैं और उनका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

गर्भाधानक्रियादीनां संस्काराणां यथायथम् ।
काले काले विधिः कार्यः श्रावकैर्धार्मिकैर्मुदा ।।१२२।
येनाशुभक्रियायाः स्यान्निवृत्ति : सुखदे शुभे ।
प्रवृत्तिः प्राणिनां श्रीदा सदा भूमण्डलेऽखिले ।।१२३।।

गर्भाधानेत्यादिः— गर्भाधानादयः षोडशसंस्कारा भवन्ति श्रावकाणाम्। यथा घृतसंस्कारात् मृन्निर्मितोऽपि घटः चिक्कणो भवति तथा उत्तमसंस्कारात् बालका अपि धर्मात्मानः साहसिकाश्च भवन्ति। तदभावात् कुसंस्कारात् त एव पापिनः कातराश्च संजायन्ते। तस्मात् कारणात् समये-समये गर्भाधानक्रियादीनां संस्काराणां विधिः धार्मिकैः श्रावकैः यथायथं सदा कार्यः। धार्मिकक्रियाप्रभावात् प्राणिनां अखिले भूमंडले सदा शुभकार्ये श्रीदा प्रवृत्तिः सञ्जायते तथा अशुभक्रियातो निवृत्तिः। शुभप्रवृत्तिस्तु परम्परया लोकप्राप्तेरपि कारणं भवति।तस्मात् सर्वप्रयत्नतः बालकानां संस्कारः अवश्यमेव करणीयः।१२२।१२३।

गर्भाधान आदि सोलह संस्कार हैं जो श्रावकों को अवश्य करने चाहिए। जैसे घी के संस्कार से मिट्टी का घड़ा भी सचिक्कण हो जाता है ऐसे ही उत्तम संस्कारों से बालक भी धर्मात्मा और साहसी बन जाते हैं। यदि बालकों को उत्तम संस्कार न हो, तो बुरे संस्कारों के प्रभाव से वे ही बालक पापी और कायर बनते हैं। कुसंस्कारों के दुष्प्रभाव के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष में देखे जाते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति यदि गुणी न भी हो तो वह दुर्गुण नहीं बन सकता, इतना लाभ भी थोड़ा नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब बालक गर्भ में आता है उसी समय से माता के विचारों का प्रभाव उसपर पड़ता है, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अभिमन्यु जब माता के गर्भ में था तब चक्रव्यूह में प्रवेश करने की तथा उसे तोड़ने की कथा अर्जुन द्रौपदी से कह रहे थे। वह कथा द्रौपदी के श्रवण के साथ साथ बालक पर भी असर कर रही थी। जब बालक जन्मा और १६ साल का हुआ तो कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अर्जुन की अनुपस्थिति में अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश किया। जब कि उसने इस विषय की शिक्षा कहीं पाई नहीं थी, केवल गर्भस्थ अवस्था में ही माता ने सुनी थी, उतने से ही इसे ज्ञात था। यह कथा पुराणों में है। माता के गरम शीत आहार का बालक के शरीर पर असर पड़ता है यह सब लोग जानते हैं। इसी से गर्भवती स्त्री को बालक की रक्षा के अभिप्राय से बहुत सम्हाल कर रखते हैं। इससे यह सहज सिद्ध है कि गर्भ से लेकर ही यदि बालक को सुसंस्कृत किया जाय तो उसकी प्रवृत्ति धार्मिक होगी और वह पाप क्रियाओं से निवृत्त होगा। शुभप्रवृत्ति मोक्ष का भी परम्परा कारण बन जाती है। यह बात जगत् में प्रसिद्ध है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बालकों के संस्कार अवश्य करने चाहिए।१२२/१२३।

प्रश्नः—कस्मै देयं गुरो दानं तत्फलं वा मुदा वद।

हे गुरूदेव गृहस्थ का धर्म—दान, पूजा, शील और तप के भेद से सामान्यतः चार प्रकार का बताया गया है। उसमें यह जानना है कि दान किसे देना चाहिए और उसका क्या फल है। कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

यथायोग्यं क्षमाकर्त्रे नवधाभक्तिपूर्वकम् ।
अन्येभ्यश्च सुपात्रेभ्यो दानं देयं चतुर्विधम् ।।१२४।।
तद्दानाच्चक्रवर्त्यादेः सुखं लब्ध्वा यथाक्रमम् ।
दातारः शान्तिदं नित्यं प्रयान्ति मोक्षपत्तनम् ।।१२५।।युग्मम्।।

क्षमायाः मूर्तिः परमदिगम्बरः निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रः निष्परिग्रहः निर्लोभः वांछाविरहितः वनवासकः परमब्रह्मचारी सर्वहितवांछकः सम्यग्दृष्टिः इत्युच्यते। एतल्लक्षणैः खलु साधुं परिज्ञाय तस्मै क्षमाकर्त्रे उत्तमपात्राय नवधाभक्तिपूर्वकं चतुर्विधं दानं देयम् । तदलाभे तु अन्येभ्यः सुपात्रेभ्यः मध्यमपात्राय धर्मात्मने सम्यक्त्ववते दानं देयं। तस्य फलं किमिति प्रश्ने सति उत्तरयति—यत् सुपात्राय ये दानं प्रयच्छन्ति ते भोगभूमौ उत्तमसुखमवाप्नुवन्ति। उत्तमपात्रदानस्य फलं उत्तमभोगभूमिः। मध्यमपात्रदानस्य फलं मध्यमभोगभूमिः। जघन्यपात्रदानस्य तु फलं जघन्या भोगभूमिः। तदनन्तरं निश्चिता स्वर्गप्राप्तिः। स्वर्गात्प्रच्युत्य उत्तमोत्तमपुरुषेषु ते उत्पद्यन्ते। चक्रवर्त्यादिविभूतिञ्चानुभवन्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा क्रमशः यावत् कर्मनाशः न स्यात् तावत् सांसारिकसुखं लब्ध्वा दातारस्ते क्रमशः शान्तिदं शान्तिप्रदायकं मोक्षपत्तनं प्रयान्ति।१२४।१२५।

क्षमा की मूर्ति— परमदिगम्बर, इच्छारहित, समभावी, अपने हाथ में ही आहार करनेवाले, परिग्रह रहित, लोभरहित, इन्द्रियविजयी, किसी से याचना न करनेवाले, वन के एकान्त प्रदेश में निवास करनेवाले, परम ब्रह्मचारी, सर्व जीवों के हितवाञ्छक, सम्यग्दृष्टि महापुरुष कहे जाते हैं। सच्चे साधुओं के ये ही लक्षण हैं। इनको दान देना परम पुण्यदायक है। ये सुपात्रों में उत्तम सुपात्र हैं। इनको अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और विनय के साथ शास्त्रोक्त नवधा भक्तिपूर्वक विधिवत् शुद्ध आहारादि देना उचित है। इनके लाभ न होने पर व्रती श्रावक मध्यमपात्र को और उसका भी लाभ न मिले तो धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जघन्य सुपात्र को दान देना चाहिए।

उत्तमपात्र में दान का फल उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न होना है, मध्यमपात्र के दान का मध्यमभोग भूमि और जघन्य पात्र में दान का फल जघन्य भोगभूमि है। वहाँ के सुख भोगकर भोगभूमि में जीव निश्चित स्वर्गगति पाते हैं। स्वर्ग-सुखों को अपनी आयुप्रमाण भोगकर उत्तम मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती की भी विभूति को प्राप्त करते हैं और अन्त में सर्व कर्मों का नाश कर परम शान्ति और सुख का स्थान जो मोक्षरूपी नगर है उसे सदा के लिए प्राप्त करते हैं, यह दान का फल है। ऐसा जानकर गृहस्थों को प्रयत्न पूर्वक सत्पात्रों में प्रतिदिन दान देना चाहिए।१२४।१२५।

प्रश्नः—न ददाति धनाढ्योऽपि दानं स कीदृशो वद।

जो धनी होकर भी लोभादि के कारण दान नहीं करता वह कैसा है, कहिए--

(उपजातिः)

दानं धनाढ्योऽपि ददाति यो न
गृही स मूर्खः सुखशान्तिबीजम्।
आगामिकालस्य भिनत्त्यवश्यं
नास्त्यत्र शङ्का तिलमात्रतोऽपि।।१२६।।

दानमित्यादिः— धनाढ्योऽपि पुराकृतपुण्यकर्मोदयेन सर्वविभवसम्पन्नोऽपि यः मोही गृही विवेकरहितो भोगान् भुंक्ते किन्तु सुखशान्तिबीजमुत्तमदानं न ददाति। स आगामिकालस्य आगामिनि काले सुखशान्तेः बीजं भिनत्ति भाविजन्मनि अशान्तः दुःखी दरिद्री च भवति। नास्यत्यस्मिन् विषये तिलमात्रतोऽपि शङ्का।१२६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक सुख और शान्तिदायक सामग्री का संयोग इस जीव को अपने पूर्वकृत पुण्योंदय से प्राप्त होता है। यह जीव संसार में सुख, दुःख, सम्पत्ति, दारिद्र और ऐश्वर्य, शिष्ट या दुष्ट समागम, कीर्ति-अपकीर्ति, मित्र-शत्रु, इष्ट संयोग-वियोग, भवन-वन आदि साता या असातादायक सामग्री का प्राप्ति अपने पुण्य और पाप कर्म के उदय से ही प्राप्त करता है। पुण्योंदय के अभाव में प्राप्त सुख सामग्री भी क्षणकाल में विलीन हो जाती है।

इस सत्य का ज्ञान जिनको नहीं और जो अहंकार वश सातासामग्री की प्राप्ति का कर्ता स्वयं को मानता है वह अविवेकी गृहस्थ मोहान्ध है। उसे वस्तुतत्त्व का किञ्चित् भी बोध नहीं है। वह भाग्यहीन अपने पैरों पर खुद कुल्हाड़ी पटकता है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि उत्तम सत्पात्रों के दान के फल से ही उस सातिशय पुण्य का बन्ध होता है जिससे यह साधारण विभव की क्या गणना इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति भी चरणों में लोटती है। वह उस मूर्ख की तरह है जो मूल की पूँजी खा ले और भविष्य के लिये कोई उद्योग न करे। अथवा उस मूर्ख किसान की तरह है जो बीज के योग्य धान्य को योग्य समय पर योग्य भूमि में वपन नहीं करता और उसे खाकर ही अपने को धन्य मानता है, ऐसा किसान कुछ समय बाद अपनी करनी पर स्वयं पछतायगा।

उत्तम पात्र में दिया हुआ दान उत्तम भूमि में यथासमय प्राप्त बीज की तरह महान् शान्तिदायक फलवान वृक्ष को प्रदान करता है। जो इस सत्यभूत रहस्य को नहीं जानता अथवा मोह या लोभवश जान कर भी भुला देता है और अहंकार के वश हो उत्तम पात्रों का सम्मान नहीं करता। वह आगामी जन्म में भाग्यहीन दरिद्र दुखी होता है इसमें तिलतुष मात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए।१२६।

प्रश्नः—किं पुरुषार्थचिह्नं मे तत्फलं भो गुरो वद।

हे गुरुवर धनादि की प्राप्ति यदि पुराकृत पुण्य से होती है, स्वयं के पुरुषार्थ से नहीं होती, तो पुरुषार्थ फिर क्या है और उसका क्या फल है? कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

अस्ति कार्योत्तमो लोके पुरुषार्थश्चतुर्विधः।
इन्द्रियातीन्द्रियादीनां सत्सुखानां प्रदायकः ।।१२७।।
कार्यो ज्ञात्वेत्यतो भव्यैर्धर्मार्थादिचतुर्विधः।।
पुरुषार्थो यतः श्रीदोऽभीष्टसिद्धिर्भवेत्तव ।।१२८।।युग्मम् ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अस्तीत्यादिः— तात्पर्यमेतत् —धर्मपालनं अर्थोपार्जनं कामभोगः मोक्षोपायश्चेति चतुर्विधः पुरुषार्थः। पुरुषार्थसाधकः खलु वीरः साहसिको भवति। ये पुरुषार्थं न साधयन्ति त एव प्रमादिनः संसारसागरे निमज्जन्ति। संसारेऽपि तेषां ऐन्द्रियमपि सुखं न सञ्जायते। दुःखमेवानुभवन्ति सविभवा अपि। आद्यपुरुषार्थत्रयसाधकाः खलु श्रावकाः, मोक्षोपायं कुर्वन्तः खलु साधवश्च भवन्ति। इति नियमानुसारेण श्रावकैः पुरुषार्थत्रयं साध्यम्। सर्वेषामाद्यः पुरुषार्थः खलु धर्मपुरुषार्थोऽस्ति। धर्मेण विना न कश्चित्पुरुषार्थः साध्यः। धर्मस्य फलं मोक्ष एव प्रधानतया भवति। यावन्न स्यान्मोक्षः तावत् सांसारिकसुखावाप्तिः खलु धर्मस्य फलमुच्यते। जैनमार्गे सांसारिकसुखस्य महत्त्वं नास्ति यतस्तत् कर्मफलमस्ति। यत्किल स्वात्मसुखं न तत् कर्मनिमित्तम्। किन्तु कर्माभावे एव यस्योत्पत्तिरस्ति तदेव यथार्थसुखं नित्यं शाश्वतं अविचलितं निरतिशयं परिपूर्णं स्वभावरूपं स्वानुकूलमस्ति। मोक्षे स एव लभ्यते अतो मोक्ष एव सर्वोपरि पुरुषार्थः। धर्ममार्गविरहितमर्थोपार्जनं खलु चौर्यमेव। धर्मेणार्थोपार्जनन्तु गृहिणो धर्मः। अधर्मेणोपार्जितं वित्तं पापकरणाय प्रेरयति नाना पापान्युत्पादयति येभ्यः खलु जीवाः नरकादिषु नानादुःखान्यनुभवन्ति। तस्मात् दुःखभीतैः कदापि अनैतिकसरण्या नोपार्जनीयं वित्तम्। उद्योगं विना चौर्यादिना विश्वासघातेन परवञ्चनेन परापहरणेन सञ्चितं धनं तृतीयपुरुषार्थमपि विनाशयति। चतुर्थपुरुषार्थस्य कथा तु दूर एव। तृतीयपुरुषार्थः खलु कामभोगः। कामेन स्वेच्छया स्वसंतोषार्थं स्वेच्छारूपव्याकुलतानाशार्थं यत् भुज्यते स कामभोगः। एषोऽपि धर्मार्थपुरुषार्थयोरविरोधेनैव सेव्यः नान्यथा। यः खलु एतत्सर्वमविचार्य भुक्ते तस्य भोगाधारभूतयोधर्मार्थतोरभावे भोगोऽपि नश्यति। अतिमात्रया भोगोपभोगसेवनादर्थो नश्यति धर्मविरहितः सन्नधर्ममपि भजते। अधर्मात् पापसञ्चयो भवति पापोदयाद्दुःखमनुभवति। भोगातिसेवया शरीरमपि जर्जरीभवति रोगाक्रान्तञ्च। सरुक्शरीरेण भोगोपभोगासमर्थेन न किमपि साध्यते लौकिकं पारलौकिकं वा। तस्मादन्यपुरुषार्थाविरोधेनैव स सेवनीयः इत्येवं प्रकारेण पुरुषार्थत्रयमैन्द्रियसुखसाधनं भवति। परस्परानुकूल्येनाविरोधेन तत् सेव्यम्। पुरुषार्थी एवं वित्तवान् प्रहृष्टशरीरः धर्मात्मा न्यायप्रियः देशोद्धारकः विश्वकल्याणकारकः परमसुखी भवति। संसारपरिभ्रमणकारणभूतानां कर्मणां विनाशाय यन्मोक्षार्थिभिः व्रतसमितिगुप्तिधर्मादिकमङ्गीक्रियते तन्मोक्षपुरुषार्थः, यत्र स्वोत्थं निरतिशयं सुखमनुभवति जीवः इन्द्रियसंबंधरहितोऽपि। इति पुरुषार्थचतुष्टयमपि लोके सर्वोत्तमं कार्यमिष्टसिद्धिकारकमस्ति तस्मात् स्वहितैषिभिर्न कदाचिदपि पुरुषार्थहीनं जीवनं यापनीयमिति।१२७।१२८।

धर्म का पालन, अर्थ का उपार्जन करना, प्राप्त भोगोपभोगों का सेवन और मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न ये पुरुषार्थ हैं। इसका दूसरा नाम है उद्यम, उद्योग और उन्नति। जो इसे साधते हैं वे वीर और साहसी होते हैं तथा लौकिक और पारलौकिक सुख को भोगते हैं। और जो लोग पुरुषार्थ को अङ्गीकार नहीं करते वे प्रमादी होकर पारलौकिक सुख की बात तो दूर रही इस लोक में भी दुखी रहते हैं और पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं। उक्त चारों पुरुषार्थों में से आदि के तीन पुरुषार्थों को साधनेवाले श्रावक या गृहस्थ होते है और आत्मीय मोक्ष पुरुषार्थ को साधने वाले साधु कहलाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सब पुरुषार्थों का मूल धर्म पुरुषार्थ है। उसके साथ रहने पर शेष तीन पुरुषार्थ संज्ञा को प्राप्त होते हैं, अन्यथा वे भी पुरुषार्थ नहीं कहलाते। प्रत्येक गति में लोभादि कषायों के उदय से जीव कुछ न कुछ संग्रह का प्रयत्न करता है पर वह अर्थ पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जबतक कि वह धर्म और नीति से संयुक्त न हो और उसका उद्देश्य अपना, अपने कुटुंब का, अपनी जाति व देश के भाइयों का तथा दीन और दुखी भाइयों का परिपालन न हो। यह पुरुषार्थी ही जिनालय निर्माण करा सकता है, पापनाशक उत्तमोत्तम श्रद्धा और भक्ति से परिपूर्ण पूजा विधानादि कार्य कर सकता है। दीन दुखियों का उद्धार कर सकता है। उक्त पात्रों को दान देकर अपना जन्म सफल कर सकता है। जो उक्त प्रकार के पुरुषार्थहीन हैं वे केवल अपने उदर की पूर्ति ही येन केन प्रकारेण कर सकते हैं पर अन्य धर्म के और परोपकार के काम उनसे नहीं हो सकते।

इसी प्रकार जो न्यायनीतिपूर्वक प्राप्त भोगोपभोगों का सेवन नहीं करता तथा चोरी आदि से, परवञ्चना से, विश्वासघात से छीनकर धनसंग्रह करता है वह कभी काम पुरुषार्थ का साधन नहीं कर सकता। धर्म का यथासमय साधन करते हुए अपनी न्यायपूर्वक बनाई हुई आर्थिक स्थिति के अनुसार जो भोगोपभोग सेवन करता है यही तृतीय पुरुषार्थ वाला है। अन्यथा यथाप्राप्त भोगों को पशु भी भोगते हैं। देव भी भोगते हैं। नारकी तो पापसामग्री का भोग करता है। पर यह सब काम पुरुषार्थ नहीं है। काम पुरुषार्थी केवल शारीरिक तृष्णा की शान्ति के लिए अपने मन का संयम रखते हुए ही भोग करता है। मात्रा से भोजन करता है, मात्रा से वस्त्र पहिनता है, मात्रा से ही चक्षु और श्रोत्र के विषयों को अंगीकार करता है। मात्रा से ही सुगंधि सेवन करता है। मात्रा से ही स्त्रीभोग करता है। अतिमात्रा से सेवित ये सब विषय व्यक्ति को निर्धनी तथा शरीर संपत्ति रहित बना देते हैं। वह अधर्म सेवन में प्रवृत्त हो जाता है और पापसञ्चय कर इस लोक में भी निन्द्य जीवन व्यतीत करता है और परलोक में भी नरकादिकों में अनेकानेक दुखों का भागी होता है।

उक्त प्रकार से परस्पर की अनुकूलता से सेवित ये तीनों पुरुषार्थ उद्यम या उद्योग कहलाते हैं। ये गृहस्थ को ऐन्द्रियक सुखसाधन के कारण होते हैं। पुरुषार्थी ही धनवान्, कीर्तिमान्, परिपुष्टशरीर, सुन्दराकृति, यौवन सुख का भोक्ता, धर्मात्मा, न्यायप्रिय, देश और विश्व का कल्याणकर्त्ता तथा परम सुखी होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। संसार परिभ्रमण का मूल हेतु परम्परा से या अनादि काल से यह कर्म है, उसके नाश करने के लिए ही मोक्षार्थीका सतत प्रयत्न है। व्रत-समिति-गुप्ति का पालन, भावना और दस धर्मों का अंगीकार, परीषह और उपसर्ग पर विजय, उत्तमोत्तम ध्यानों का आराधन ये सब मोक्षार्थी के प्रयत्न हैं। इन प्रयत्नों में सर्वत्र धर्म पुरुषार्थ का साम्राज्य है। धर्मरहित क्रियायें निवृत्ति के लिए साधक नहीं होतीं। जैसे कि इष्ट स्थान को जाने के लिए निरुद्देश्य गति या नेत्रहीन की गति सफलता नहीं प्राप्त करा सकती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान विहीन चारित्र मुक्ति का साधन नहीं है, अतः धर्म पुरुषार्थ युक्त होने से ही यह सब तपस्या चारित्रसंज्ञा को प्राप्त होकर मोक्ष की साधन है। शीत, घाम की परिषह, आई हुई अनेक विपत्तियाँ पशु और नारकी भी सहते हैं पर सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान विहीन वे पराधीनता से स्वीकृत क्रियाएँ चारित्र नाम को नहीं पा सकतीं, अतः वे मोक्ष पुरुषार्थ के प्रयत्नों में सम्मिलित नहीं हैं। अतः धर्मसंयुक्त उक्त प्रयत्न ही मोक्ष का साधन हैं। साधक उनके द्वारा ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जहाँ पर कि यथार्थ इन्द्रियाधीनता से विमुक्त, निरन्तराय, शाश्वत, अडिग, परिपूर्ण, स्वभावरूप, अछेद्य, अविनश्वर, सर्व दुखातीत और स्वात्मोत्थ सुख प्राप्त होता है।

मानवगति में ही और उसमें भी पूर्णतया पुरुष वर्ग द्वारा ही ये चारों साध्य हैं, अतएव ये पुरुषार्थ कहलाते हैं। इनके पुरुषार्थ नामकरण का यही एकमात्र हेतु है। यदि अन्यत्र भी वे साध्य हो सकते या स्त्री और नपुंसकों द्वारा भी साधे जा सकते तो इनका नाम पुरुषार्थ न होकर और कुछ ही होता। जो मनुष्य गति और पुरुष जन्म पाकर भी इसका साधन न करें तो उन जैसा मूर्ख प्राणी एक पशु क्या कीट पतंग भी नहीं है। अंधा गिरे तो मूर्ख नहीं परन्तु सूझता यदि गिरे तो वह मूर्ख है और सनेत्र होने पर भी अन्धे के ही बराबर है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान् पुरुषों को अपने लौकिक और पारलौकिक इन्द्रियजन्य या स्वात्मोत्थ अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न पूर्वक चारों पुरुषार्थों को अपने अपने पदानुकूल यथायोग्य रीति से पालन करना चाहिए। पुरुषार्थी गृहस्थ ही मोक्ष पुरुषार्थी होता है। पुरुषार्थी का मानव जीवन ही सफल है। अतः स्वपर हितैषी को पुरुषार्थी बनना चाहिए।१२७/१२८।

प्रश्नः—चातुर्मासेऽन्यकाले वा कथं कार्यं धनार्जनम् ।

वर्षा ऋतु में या अन्य समय में धनार्जन किस प्रकार करना चाहिए, कृपाकर कहिये—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अनुष्टुप्)

मुख्यरीत्याष्टमासे हि कार्यं नीत्या धनार्जनम् ।।
वर्षाऋतौ चतुर्मासे मुख्यतो धर्मसाधनम् ।।१२९।।
पूर्वोक्तविधिरेवं हि विधेयः शान्तिदः सदा ।।
यतः स्यादुभये लोके सततं स्वेष्टसङ्गमः ।।१३०।।

मुख्येत्यादिः— तात्पर्यमेतत् -एकस्मिन् संवत्सरे द्वादश मासाः भवन्ति। तेषु आषाढमासस्य आष्टाह्निकमहापर्वतो प्रारभ्य कार्तिकमासाष्टाह्निकमहापर्वपर्यन्तं मासचतुष्के वर्षाऋतुः स्यात् । अस्मिन् काले यतयः एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसन्ति। वर्षानिमित्तेन तदा अनन्तजीवराशयः समुत्पद्यन्ते गमनागमनतश्च म्रियन्ते। सर्वा भूमिस्तदा एकेन्द्रियवृक्षादिभिस्तथा द्वीन्द्रियादिसम्मूर्छनजैराकुला भवति तस्मादेव तेषां गमनागमनं तदा शास्त्रे निषिद्धमस्ति। व्यापारादिकार्याण्यपि तदा मन्दंमन्दं प्रचलन्ति। अतएव एष सुयोगः श्रावकैर्न विफलीकर्त्तव्यः। तदा मुख्यतो धर्मसाधनमेव कर्त्तव्यम् । यतस्तेषां परमवीतरागाणां सन्निधानात् सुवर्णे सुगंधिसंयोगो भवति। यथा शेषं मासाष्टकं मुख्यरीत्या व्यापारादिकार्याणां साधकं तथैव चातुर्मासः धर्मसाधनाय साधकं वर्तते। मासाष्टकेऽपि नीत्यैव धनार्जनं कर्त्तव्यं धर्मभीरूभिः। व्यापारस्य प्रयोजनं न केवलं येन केनापि प्रकारेण धनार्जनमेव, किन्तु स्वपरिश्रमानुकूल्येन अन्येषामपि लाभमविराधयतो न्यायेन स्वाधिकारप्रमाणं राज्यनियमेन व्यावहारिकजननियमितेन च विधिना सम्मतं वित्तोपार्जनं एव तस्य मुख्यमुद्देश्यम् तस्माल्लब्धप्रमाणादेव द्रव्यात् संतोषेण निर्वाहः करणीयः। एवं कृते सत्येव अत्र परत्र च स्वेष्टस्य सङ्गमो भवति। १२९/१३०।

वर्ष में १२ मास होते हैं। इनमें से आषाढ़ी अष्टाह्निका से कार्तिकी अष्टाह्निका तक के ४ मास वर्षा ऋतु कहलाती है। जलवृष्टि के कारण इस काल में सम्पूर्ण भूमि असंख्य त्रस और स्थावर जीवों से संकुल हो जाती है और गमनागमन आदि में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण से यति भी जिनका आठ मास पर्यन्त नियमित बिहार होता है इन दिनों में एक ही क्षेत्र में निवास करते हैं। इस समय वर्षा के कारण व्यापारियों का भी आवागमन बन्द हो जाने से व्यापार भी मन्थर गति से चलता है। अतएव ऐसा सुन्दर सुयोग श्रावकों को व्यर्थ न खोना चाहिये। इन दिनों में मुख्यता से धर्मसाधन करना चाहिए।

जैसे बाकी के आठ मास व्यापार आदि कार्यों के साधक हैं। ऐसे ही ४ मास धमोपार्जन के मुख्य साधक हैं। परम वीतराग गुरुओं का सङ्गम इस समय सोने में सुगंध की कहावत को चरितार्थ करता है। इन आठ महीनों में भी नीति से धनार्जन करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापार का मूल उद्देश्य जिस किसी प्रकार से धनसंग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य अपने परिश्रम के अनुकूल दूसरों के लाभ के अधिकार को न बिगाड़ते हुए न्याय प्राप्त अपने अधिकार प्रमाण राज्य के नियमानुकूल तथा महाजनों द्वारा नियमित विधिसम्मत उपयुक्त द्रव्य का प्राप्त करना तथा उतने में ही संतोषपूर्वक आजीविका निर्वाह करना ही है। ऐसा करनेवालों को ही शान्ति की प्राप्ति और इष्ट प्राप्ति होती है।१२९/१३०।

प्रश्नः—अहिंसाधर्मवृद्ध्यर्थं किं किं कार्यं जनैः सदा।

श्रावक को क्या क्या करना उचित है जिससे अहिंसा परमधर्म की वृद्धि हो। कृपया बताइए—

(अनुष्टुप्)

स्वदेशोद्धारकार्येऽपि यतन्तां श्रावकाः मुदा ।।
धर्मार्थमपि सर्वत्र गच्छन्तु स्वात्मसिद्धये ।।१३१।।
यतः स्याज्जैनधर्मस्य प्रसिद्धिः सर्वभूतले ।।
श्रावकाणां परं जन्म सफलं स्याद्विशेषतः ।।१३२।।युग्मम्।।

अहिंसा एव परमो धर्मः सर्वकल्याणकारकः। तन्महत्त्वं खलु लोके यथा यथा विस्तृतं भविष्यति तथा तथा स्याल्लोककल्याणम्। तत् कथं विस्तृतो भविष्यति इति प्रश्ने सति आचार्य आह श्रावकाः मुदा स्वदेशोद्धारकार्ये यतन्ताम्। तथा धर्मार्थमहिंसाधर्मप्रचाराय सर्वत्र भूमण्डले स्वात्मधर्ममविराधयन्तो गच्छन्तु। यतो जैनधर्मस्य जिनोपदिष्टवीतरागधर्मस्य सर्वभूतले प्रसिद्धिः प्रचारश्च स्यात् श्रावकाणां परमुत्कृष्टं जन्म जीवनं विशेषतः सफलं स्यात् ।१३१।१३२।

श्रावकों को अपने देश के उद्धार के लिए भी सदा प्रयत्न करना चाहिए तथा अहिंसा धर्म के प्रचार के लिए उन्हें सभी जगह जाना चाहिए। इससे विश्व के कोने-कोने में जैन धर्म की प्रसिद्धि, प्रभावना और प्रचार होगा और श्रावकों का उत्कृष्ट मानव जन्म भी सफल होगा ।

विशेषार्थ— अहिंसा परम धर्म है। वह विश्व का कल्याणकारक है। उस परम धर्म का जितना विस्तार संसार में होगा उतना ही लोक का कल्याण होगा। ग्रन्थकार पूज्य आचार्य महाराज ने ग्रंथ निर्माण के समय की आवश्यकता का अनुभव कर बताया है कि हिंसा प्रधान जीवन वाले अंग्रेजों के द्वारा पराधीन किए हुए अपने देश का उद्धार कर अहिंसा धर्म की रक्षा करना श्रावकों का परम कर्त्तव्य है। तथा इसी प्रकार हिंसाबहुल देश जैसे ब्रिटेन, अमेरिका रूस और जर्मनी आदि में जाकर वहाँ से हिंसा का प्रभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हटाकर अहिंसा धर्म का भाव अंकित करना चाहिए। वहाँ जाना दोषास्पद नहीं है। दोषों का उत्पादन तो सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति के अधीन है। विदेशों में जाकर भी अपने पवित्र धर्म की रक्षा करनेवाले अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं और अनेक स्वदेश में विद्यमान होते हुए भी हिंसा करते हैं।

भारत निवासी अहिंसक हों और उनके बाहिर विदेशों में रहनेवाले हिंसक ही हों ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। सब लोग सर्व देश में धर्म या अधर्म पालने के लिए स्वेच्छा से समर्थ ही हैं। इसलिए जिनधर्म की प्रभावना के लिए सम्पूर्ण भूमण्डल में भी जाना पड़े तो जाना उचित है। अपने परमप्रिय अहिंसा धर्म का परिपालन करते हुए कहीं भी जाना अधर्म नहीं है। धर्म प्रभावना से ही मानव जन्म सफल है। अतः सर्व प्रकार के प्रयत्नों द्वारा सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा का डंका बजाओ और हिंसा को दूर करो। इस पवित्र कार्य से तुम्हारी मनुष्य पर्याय की प्राप्ति सार्थक होगी और परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति भी सुगम होगी।१३१।१३२।

प्रश्नः—वात्सल्यभावो ध्रियते किमर्थं गुरो कृपाब्धे वद मे हितार्थम् ।

हे कृपासिन्धु गुरुदेव! वात्सल्य भाव किसलिए धारण किया जाता है? कृपाकर मेरे हित के लिए निरूपण कीजिए—

(इन्द्रवजा)

मिथ्याप्रपञ्चं प्रविहाय मोहं श्राद्धैश्चिदानन्दपदाश्रितैर्वा ।।
वात्सल्यभावोऽपि मिथः प्रशान्त्यै सर्वैश्च सार्धं सततं विधेयः ।।१३३।।

मिथ्येत्यादिः— परस्परिके व्यवहारे य खलु शिष्टाचारः प्रदर्श्यते स उचित एव सज्जनानाम्। तथापि तत्र स व्यवहारः सरलचित्तेनैव करणीयः। केवलं मिथ्याप्रपञ्चेन मात्सर्येण छलेन वा कृतोऽपि सद्व्यवहारो न गुणाय प्रभवति। ये खलु काञ्चनकामिन्यादिषु स्वेन्द्रियभोगेषु च मोहितमतयः स्वार्थसाधनायैव सभ्यतायाः मिथ्याप्रपञ्चं वितन्वन्ति न ते कदाचिदपि लोके कीर्तिं लभन्ते। एतान्मायाविनो न कश्चित्प्रत्येति लोके तस्मात् सम्यग्दृष्टिभिः श्रावकैः स्वचैतन्यसुखास्वादिभिः प्रशान्त्यै परमशान्तिप्राप्त्यर्थं परस्परं निष्कपटचित्तेन धर्मप्रेम्णा वात्सल्यभावो विधेयः।१३३।

परस्पर के व्यवहार में जो शिष्टाचार प्रदर्शन किया जाता है वह शिष्ट पुरुषों के योग्य ही है, अनुचित नहीं है; किन्तु वह सरलचित्त से करना चाहिए। केवल मायाचार से मिथ्या प्रपञ्च करना और झूठे ही सद्व्यवहार का प्रदर्शन करना हानि के लिए ही है, लाभ के लिए नहीं। जो अपने इन्द्रिय भोगों में तथा इन्द्रिय भोगों के लिए उपयोगी धन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री आदि पदार्थों में मोहित बुद्धिवाले हैं वे केवल अपने स्वार्थ साधन के लिए ही सभ्यता का ढोंग करते हैं, ऐसे मायाचारी पुरुष लोक में अपकीर्ति के ही भागी होते हैं। लोग उनका कभी विश्वास नहीं करते।

मायावी का नम्र व्यवहार चूहे पकड़ने के लिए शान्त और नम्रता से बैठी हुई बिल्ली के व्यवहार के समान झूठ स्वार्थों से परिपूर्ण होता है। लोक में उसे बिलैया दण्डवत कहते हैं। ऐसा असद्व्यवहार या कपटविशिष्ट शिष्ट व्यवहार सम्यग्दृष्टि श्रावक कभी नहीं करता। जिन इन्द्रिय भोगों के साधने के लिए यह कपट का वेष रखा जाता है सम्यग्दृष्टि उन इन्द्रिय भोगों को हेय और क्षणस्थायी मानता है। वह उन्हें आत्महित के प्रतिकूल समझता है तब वह उसे कैसे स्वीकार कर सकता है अपने परम शुद्धि चैतन्य स्वरूप में रमण करने वाला और उस आत्मसुख के स्वाद का अनुभवन करनेवाला वह सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा ऐसे मिथ्याप्रपञ्च से दूर रह कर सभी साधर्मी बन्धुओं के साथ उनकी सब प्रकार की उन्नति की कामना रखते हुए प्रेमभाव रखता है, सहानुभूति रखता है। विपत्ति में उनका साथ देता है, उनकी सब प्रकार से सहायता करता है। इस प्रकार के पारस्परिक सद्व्यवहार से वह अपनी पूरी समाज में शान्ति का स्रोत बहा देता है जो फैलने पर एक साथ संसार भर की अशान्ति को हर लेने में समर्थ है।१३३।

प्रश्नः—कथं क्षमादयो धर्माः पाल्याः प्रसिद्धयै गुरो वद।

हे गुरुदेव! क्षमादि धर्मों का पालन कैसे करना चाहिए, कृपाकर मेरी इष्ट सिद्धि के लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

यथाशक्ति क्षमादीनां धर्माणां पालनं मुदा ।
स्वात्मसिद्धयै सदा कार्यं चानुप्रेक्षादिचिन्तनम् ।।१३४।।

यथेत्यादिः— पारस्परिके व्यवहारे वात्सल्यव्यवहारवत् क्षमादीनामपि व्यवहारः तथा तत्पालनं कर्तव्यम्। तद्व्यवहारः किल स्वलाभाय परलाभाय च प्रभवति। अनित्याद्यनुप्रेक्षाणामपि चिन्तनं सदा कार्यं यतः स्वात्मसिद्धिः भवति। मोहितबुद्धयस्तु न जानन्ति वस्तुनो यथार्थस्वरूपम्। इत्यस्मादेव वस्तुस्वरूपविवेचनं सदा कार्यमेव दुर्बुद्धिदूरीकरणाय, यद्यपि उत्तमक्षमादीनामुपयोगः द्वादशानुप्रेक्षाणामपि चिन्तनं क्रियते साधुभिस्तथापि तदेकदेशः श्रावकैरपि विधेयो यथाशक्ति ।१३४।

यद्यपि उत्तम क्षमादि धर्मों का पालन तथा बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन साधुजन करते हैं तथापि उसका एकदेश श्रावकों को भी पालन करना चाहिए। क्रोध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारणों की उपस्थिति में भी मन पर संयमन करना, उसे विकृत न होने देना **उत्तमक्षमा** है। ऐसी उत्तम क्षमा कायरों की क्षमा नहीं है। मन पर विजय पाना बहुत बड़े साहसी और वीर पुरुष का कार्य है। बदला न लेना या न ले सकना क्षमा नहीं है, वह तो शक्ति के अभाव की पराधीनता है। वहाँ मन तो विकारी है। जहाँ मन विकारी न होकर सामर्थ्यवान् है तथा बदला न लेने की भावना है वह क्षमावान है। इस क्षमा गुण से गृहस्थ भी पारस्परिक वैर को खोकर सहानुभूति का पात्र बनकर लोकपूज्य हो जाता है। जबकि क्रोध से और बदला लेने से वैर और अशान्ति ही बढ़ती है। ऐसा होने पर भी गृहस्थ एकान्त क्षमा पालने के योग्य पात्र नहीं है। गृहस्थ होने के नाते उसपर स्त्री, बालबच्चों के परिपालन का भार है। देश, धर्म व समाज का भार है, अतः जब कोई दुष्ट अनेक प्रकार से समझाने पर भी बिना कारण दुष्टता करता है, सताता है, धर्म नष्ट करता है, धर्मात्माओं के धर्मपालन करने में विघ्न करता है, शान्ति को स्थिर नहीं रहने देना चाहता, तब वह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ उसके अशान्तिपूर्ण कार्यों को सभी सम्भव उपायों से रोकता है। धर्मात्माओं की रक्षा करता है। उसके इस प्रयत्न में दुष्ट के ऊपर से क्षमा का भाव दूर हो जाता है, उसे दण्ड देना पड़ता है, उसकी मृत्यु भी हो जाती है। इतना बड़ा अनर्थ भी उस क्षमाशील गृहस्थ को अंगीकार कर लेना पड़ता है उससे भी बड़े अनर्थ से बचने के लिए।

यदि गृहस्थ ऐसा न करे तो संसार में शान्ति के इच्छुक क्षमाशील करोड़ों भी सज्जन हों तो एक ही अशान्त दुष्ट अपने असत् कृत्यों से उनकी शान्ति में बाधा उपस्थित कर वन में सुलगनेवाली अग्नि की एक चिनगारी के समान समस्त सज्जन वन को अपनी ज्वाला से अशान्त बना सकता है। अतः उनके प्रति द्वेष से नहीं किन्तु सज्जनों की रक्षा के लिए उनका रोध आवश्यक समझ कर वह अपनी शान्ति को तब तक के लिए तिलाञ्जलि दे देता है जब तक कि वह उसके असत् प्रयत्नों को विफल न कर दे। उसकी यह अशान्त क्रिया शान्ति रक्षा के लिए है, शान्ति भंग के लिए नहीं। गृहस्थ के लिए जितनी आवश्यकता क्षमा की है उतनी ही आवश्यकता क्षमाशीलों के संरक्षण की भी है। उसके बिना सारा विश्व अशान्त हो सकता है अतः क्षमाशीलों के संरक्षण करते हुए ही गृहस्थ को क्षमाशील होना चाहिए।

क्षमा के साथ ही सद्गृहस्थ को उत्तम विनय गुण का भी पालन करना आवश्यक है। इसे उत्तममार्दव नाम का दूसरा धर्म कहा है। अहंकार अनेक गुणों को भी दूषित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करनेवाला है। ज्ञान का विनय, ज्ञानवान् का विनय, माता-पिता का विनय, गुरुजनों का विनय, वयोवृद्ध का विनय, चारित्रधारी का विनय, ये सब विनय उसके हृदय में सदा विद्यमान रहते हैं। तुच्छ से तुच्छ और हीन तथा दरिद्र का भी कभी निरादर नहीं करता। वचन में, व्यवहार में, हृदय में सर्वत्र नम्रता रखना उसका गुण है। निरहंकारता उसके जीवन में सदा रहती है और इसीलिए अनेक गुणवानों की सङ्गति से उसके उस नम्रहृदय में सद्गुणों के अङ्कुर जल्दी उत्पन्न हो जाते हैं।

आर्जव अर्थात् सरलता, विश्वस्त व्यवहार करना तथा किसी के साथ कपट का या विश्वासघात का व्यवहार न करना **उत्तम आर्जव** है। परमप्रिय, हितकारी व मिथ्यात्व से रहित वचनवाले का **सत्यवचन** नाम धर्म है। लोभादि कषायों के परित्याग से होनेवाली हृदय की पवित्रता **शौचधर्म** है। अनेक लोग तीर्थ स्नान को शौच कहते हैं पर यह धारणा मिथ्या है। आत्मा में पवित्रता आती है हृदय की शुद्धि से और हृदय की शुद्धि होती है उदारता से, संतोष से, परोपकार की भावना से, अतः केवल तीर्थस्थानमात्र पवित्रता का हेतु नहीं है। अपनी मानसिक पवित्रता की रक्षा के लिए सब जीवों पर दयाभाव रखकर अपनी इन्द्रियों को वश करना **उत्तम संयम** है। अपने उक्त गुणों पर अटल रहनेवाले गृहस्थ पर अनेक विपत्तियाँ आती हैं, अनेक कष्ट सहना पड़ते हैं व धर्मरक्षार्थ उन सब कष्टों को सहना ही गृहस्थ का **उत्तम तप** है। पुण्यचरित्र पुरुषों की सेवा व परोपकार के लिए स्वार्थ का व भोगोपभोगों का त्याग ही उसका **उत्तम त्याग** है। स्वपर पदार्थ में आत्मबुद्धि और अनात्मबुद्धि होना तथा स्वातिरिक्त स्त्री, पुत्र, कलत्र, धन, धरा, आराम व भवनादि को पर पदार्थ समझना यह जानना कि इनमें कोई भी मेरा नहीं है **यह आकिञ्चन्य धर्म** है। आत्मस्वरूप में लीन रहना व उसे ही ग्राह्य मानना उत्तम **ब्रह्मचर्य** है। ये दश धर्म आत्मा के कल्याणकारक उत्तम धर्म हैं। इन सबका यथायोग्य पालन गृहस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक करता है।

वह अनित्यादि द्वादश भावनाओं को भी भाता है। ये भावनाएँ कल्पित भावनाएँ नहीं है, किन्तु संसार के वास्तविक स्वरूप की निरूपक हैं। इनको विस्मृत करने से ही हम संसार में भटक रहे हैं। जगत् की विनश्वरता का चिन्तवन **अनित्य-भावना** है। जगत के सब पदार्थ स्वतंत्र हैं, किसी का कोई बनाव बिगाड़ नहीं कर सकता अतएव मेरे लिए मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है, ऐसा विचारना ही **अशरण-भावना** है। संसार की विषमता का चिन्तवन उसके स्वरूप का विचार ही **संसार-भावना** है। परपदार्थों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा का पृथक्त्व **अन्यत्व-भावना** और आत्मा के एकाकीपन का चिन्तवन **एकत्व-भावना** है। वैराग्य की प्राप्ति के लिए शरीर का मोह त्यागकर उसके वास्तविक अपवित्र स्वरूप का चिन्तवन करना **अशुचि-भावना** है। अपने किन-किन दुरभिप्रायों व दुष्परिणामों से कर्मों का आस्रव होता हैं उसका चिन्तवन करना **आस्रव-भावना** है। इन दुष्ट कर्मों का आवागमन कैसे रुके, वे दुष्परिणाम कैसे दूर किए जाँय तथा उनके विरोधी सत्य परिणाम कौन है इत्यादि चिन्तवन करना **संवर-भावना** है। कर्मों ने मुझे अनादि काल से जकड़ रखा है, उनसे छुटकारा कैसे हो इस प्रकार कर्म निर्जरा के उपाय सोचना विचारना यह **निर्जरा-भावना** है। धर्म की प्राप्ति इस संसार में कितनी कठिन है। ८४ लाख योनियों में स्व-स्व कर्मानुसार परिभ्रमण करनेवाले इस जीव को मानव भव ही बहुत दुर्लभ है। कदाचित् प्राप्त हो जाय तो सज्ज्ञान के अभाव में पशुतुल्य जीवन व्यतीत करता है। यह विचारना **बोधिदुर्लभ-भावना** है। लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना **लोक-भावना** है। लोक में जैसे सब कुछ सुलभ है वैसे धर्म सुलभ नहीं है। धर्म का क्या स्वरूप है। धर्म की मानव जीवन के लिए क्या आवश्यकता है। उससे मानव समाज का क्या लाभ है इत्यादि धर्म स्वभाव का चिन्तवन करना **धर्मानुप्रेक्षा** है।

उक्त प्रकार से दश धर्मों का उत्तमरीति से परिपालन करना तथा द्वादश सद्भावनाओं का सदाकाल विचार करते रहना ये श्रावक के लिए योग्य कार्य हैं। इनसे स्वपर कल्याण होता है अतः अवश्य ही इन्हें अंगीकार करना चाहिए।१३४।

प्रश्नः—कार्यं किमर्थं शास्त्राणां पठनं कठिनं विभो।

हे विभो! शास्त्रों का पठन जो कि अत्यन्त कठिन है किसलिए किया जाता है, उससे क्या लाभ है; कृपा कर कहें—

श्राद्धानां पतनं न स्यात् तदर्थं दृश्यते मया।
सुस्वाध्यायक्रमस्तेभ्यः संसारेऽपि सुखप्रदः।।१३५।।

श्राद्धानामित्यादिः— शास्त्रस्वाध्यायतः सत्शिक्षा प्राप्यते। शिक्षितः खलु स्वहिताहिते विचारयति। हिताहितविचारकस्य पतनं संसारे न स्यात् । इत्येतस्मात् कारणात् स्वाध्यायस्योपदेशः क्रियते जैनाचार्यैः। १३५।

शास्त्र पठन से सत्शिक्षा प्राप्त होती है। विद्या का सुसंस्कार ही मानव जीवन को उच्च बनाने का एकमात्र उपाय है। जिन्होंने भी उन्नति की है सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की है। ज्ञान की बहुत महिमा है। बिना परिपूर्ण ज्ञान हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान से उत्तम विचार बनते हैं, उज्ज्वल हृदय बनता है, वाणी में मिठास आती है और कर्त्तव्य ऊँचे होते हैं। अतः श्राद्धों का अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रद्धावान् गृहस्थों का सन्मार्ग से कदाचित् पतन न हो जाय इसके लिए सच्चे शास्त्रों का पठन-पाठन आवश्यक है। स्वाध्याय करनेवाला ज्ञानी इस लोक में भी परम सुखी और सन्तोषी होता है और परलोक की उज्ज्वलता तो वह साधता ही है। स्वाध्याय सदा उत्तम जिन-प्रतिपादित शास्त्रों का हो। राग-द्वेष वर्द्धक विकथाकथक ग्रन्थों का पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। वह तो कुशिक्षादायक दुःश्रुतिनामा महान् पापदायक अनर्थदण्ड है, अतः उसे त्यागकर सच्चे शास्त्रों का विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए।१३५।

प्रथमानुयोगपठनम् –

(अनुष्टुप्)

कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषाणां सुधर्मिणाम् ।
चरित्रं प्रथमं पाठ्यं शान्तिदं बोधदं सदा ।।१३६।।
तच्चरित्रप्रपाठेन यद्यदाचरितं हितैः ।
तत्तज्ज्ञानं भवेत् तस्य तथा स्यादशुभेऽरतिः ।।१३७।।

कावित्यादिः– चतुर्ष्वनुयोगेषु मध्ये प्रथमं किं पाठ्यमिति प्रश्ने सति समाधीयते आचार्यैर्यत् त्रिषष्टिसंख्याप्रमाणशलाकापुरुषाणां–चतुर्विंशतितीर्थकराणां द्वादशचक्रवर्त्तिनां नवनवसंख्याप्रमाण-नारायणप्रतिनारायणबलदेवानां जिनधर्मानुयायिनां शिक्षाप्रदं पापापहं पुण्यदं चरित्रं सर्वप्रथममेव सुपाठ्यम् । यतः हितैः हितकारकैः यद्यदाचरितं तेन तस्य श्रावकस्य शुभे रतिः सञ्जायतेऽशुभे चारतिश्चेति। तदनन्तरमेवानुयोगान्तरं पाठ्यम् । १३६।१३७।

जैनागम चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है-(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। जैनाचारके प्रतिपालक श्री चौबीसों तीर्थङ्कर भगवान तथा बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण तथा नव बलभद्र इस प्रकार ६३ शलाका पुरुषों के पुण्य चरित्र का जिनमें वर्णन है वे शास्त्र प्रथमानुयोग हैं।

इनका पठन-पाठन सर्वप्रथम करना चाहिये। जिनागम को गहराई से न जानने और न समझनेवाले लोग भी उक्त पुण्य पुरुषों के सदाचारपूर्ण चरित्र से प्रभावित होकर सदाचारी बन जाते हैं, उनसे शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमानुयोग में पुण्यात्माओं का पुण्य चरित्र तथा उसका उत्तम फल बताया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि जो पापात्मा हैं उन्होंने कैसे-कैसे कटुक फल भोगे हैं, उनका भी चरित्र उनमें अङ्कित है। अतः दोनों चरित्रों के उदाहरणों को देखकर लोग पाप से भयभीत होते हैं तथा धर्म के मार्ग में लगते हैं। अतएव शान्ति का प्रदान करनेवाला, बोधदायक और उत्तम पुरुषों के चरित्र का प्रतिपादक प्रथमानुयोग अवश्य पढ़ना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य की प्रवृत्ति अशुभ अर्थात् पाप के कार्यों से विरक्त होकर पुण्य अर्थात् धार्मिक शुभ कर्मों में स्वयमेव संलग्न होती है, अतः सर्वप्रथम प्रथमानुयोग का ही स्वाध्याय कल्याणप्रद है।१३६।१३७।

करणानुयोगपठनम्

प्रश्नः—प्रथमानुयोगपठनानन्तरं किं पाठ्यम् ।

प्रथमानुयोग शास्त्र के स्वाध्याय के बाद किस अनुयोग का स्वाध्याय करना चाहिये? आगे उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

(अनुष्टुप्)

सत्करणानुयोगादि शास्त्रं पाठ्यं शिवप्रदम् ।
पश्चाद्योग्यं भवेज्ज्ञानं सर्वसत्त्वहितङ्करम् ।।१३८।।
लोकालोकस्वरूपस्य बोधकं तत्त्वतो नृणाम् ।
ज्ञात्वेति क्रमतः पाठ्यं जन्म स्यात् सफलं यतः ।।१३९।।युग्मम्।।

सदित्यादिः— प्रथमानुयोगपठनानन्तरं करणानुयोगशास्त्राणामेव पठनं कर्तव्यम् । एतेनानुयोगेन लोकालोकयोः स्वरूपमवगम्यते। जीवानामुत्पत्तिस्थानः कर्मणां कार्यम्, कालस्य परिवर्तनं, चतुर्गतीनां स्वरूपं, कर्मनिमित्तेन जीवपरिणामभेदाः, गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमासानां स्वरूपं, विंशतिप्ररूपणाभेदाश्चेत्यादि पदार्थानां यत्र सम्यङ्निरूपणमस्ति तत् करणानुयोगशास्त्रमित्युच्यते। करणशब्दस्य जीवपरिणामवाचित्वात् करणानुयोगे जीवपरिणामानामेव विशेषतो वर्णनमावश्यकम् । स्वपरिणामभेदमनवगम्य केवलं द्रव्यरूपेण यदाचरणम्भवति तत्केवलं द्रव्यचारित्रसंज्ञामेव प्रायः लभते तस्मात्सदाचारैः स्वात्मकल्याणमिच्छता सदाचारस्वीकरणात्पूर्वमवश्यमेव करणानुयोगशास्त्राणां स्वाध्यायः कर्तव्यः। एतत्स्वाध्यायतस्सर्वसत्त्वहितङ्करं योग्यं ज्ञानं समुत्पद्यते। ज्ञानसम्पादनत एव मानवजन्मनस्साफल्यमस्ति। १३८।१३९।

प्रथमानुयोग के अन्तर करणानुयोग शास्त्रों का पठन-पाठन करना श्रेयस्कर है। इस अनुयोग के स्वाध्याय से हमें लोक और अलोक के स्वरूप का, युगों के परिवर्तन का, जीव के परिणामों का, कर्म के प्रभाव का, जीवों की उत्पत्तिस्थान का, चतुर्गति का,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थानों, मार्गणास्थानों, जीवसमासों तथा बीस प्ररूपणाओं का स्वरूप भलीभाँति ज्ञात हो जाता है।

साधारणतया करण शब्द का अर्थ जीव के परिणाम भी है। हमें जीव के परिणामों के भेदों का स्वरूप आत्मस्वरूप के परिणाम के लिए जानना अत्यावश्यक है। उनकी यथोचित सम्हाल के बिना धारण किया हुआ चारित्र प्रायः द्रव्यचारित्र ही नाम पाता है। अतः सदाचार पालने से स्वात्महित वांछक पुरुषों का कर्तव्य है कि सदाचार के नियमों के साथ ही या उसके पूर्व ही करणानुयोग शास्त्रों का मनन करें। इसके स्वाध्याय से सर्व प्राणियों के लिए हितकर्त्ता योग्य ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान सम्पादन से ही मनुष्य जन्म की सफलता है। १३८।१३९।

चरणानुयोगपठनम्

अथ चरणानुयोगः पाठ्यः।

इसके बाद चरणानुयोग शास्त्र पठनीय है, यह बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

पाठ्यं सदैव सुखदं चरणानुयोग-
शास्त्रं सुसाधुगृहिणां व्रतमण्डितानाम्।
शीलव्रताचरणबोधकमेव भक्त्या
स्वात्मा भवेद् भुवि यतो व्रतशीलधारी।।१४०।।

पाठ्यमित्यादिः— प्रथमानुयोगकरणानुयोगशास्त्रयोः स्वाध्यायानन्तरं चरणानुयोगशास्त्रं पठनीयम्। तच्छास्त्रं शीलानां व्रतानाञ्च प्रतिबोधकमस्ति। देशव्रताराधकानां गृहिणां महाव्रतिनां साधूनाञ्च किमस्ति कर्त्तव्यम्, कानि कानि तेषां व्रतानि, कथं भवति व्रतानां रक्षणम्, के दोषाः सन्ति ये व्रतानि मलिनीकुर्वन्ति इत्यादिप्रकारकं गृहिधर्मः साधुधर्मश्चापि यत्र वर्णितो विस्तरेण तच्छास्त्राध्ययनेनैव आत्मा व्रतशीलधारी भवति अतएव सदैव सुखदायकं चरणानुयोगशास्त्रं पाठ्यम्।१४०।

प्रथमानुयोग और करणानुयोग शास्त्रों के स्वाध्याय करने के बाद देशव्रतधारी गृहस्थ और महाव्रती साधुओं के आचार क्रम का प्रतिपादक चरणानुयोग शास्त्र पढ़ना चाहिए। इस शास्त्र का अध्ययन करनेवाला आत्मा शील-व्रत का धारी हो जाता है, कारण इस अनुयोग के शास्त्रों में यह विषय बहुत स्पष्टता के साथ बताया गया है कि श्रावक के कितने भेद हैं, कितनी प्रतिमाएँ व्रताचरण की वृद्धि के लिए हैं, क्या उनका स्वरूप है, साधु के व्रत कौन-कौन से हैं, शील क्या है, उनके भेद कौन-कौन हैं, व्रतों के रक्षार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या करना चाहिए, कौन-कौन सी भावनाएँ व्रत में गुणवृद्धि कर सकती हैं और किस जिस व्रत के कौन-कौन अतीचार हैं जो व्रत को मलिन करते हैं।

मानसिक अपवित्रता यदि एक बार हो जाय तो वह अतिक्रम दोष है। यदि बार बार मानसिक अपवित्रता हो जाय तो वह दुःशील होने से व्यतिक्रम है। यदि व्रत एकदेश या एक बार प्रमाद से भंग हो जाय तो अतीचार है और यदि सर्वदेश या अनेकबार जानबूझ कर व्रत भंग किया जाय तो अनाचार है। इस प्रकार अतिक्रमादि का स्वरूप तथा दोषमुक्त होने के लिए दश दोषरहित प्रायश्चित्त का विधान प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग आदि सम्पूर्ण विधि विधान जहाँ वर्णित है वह सुखदायक चरणानुयोग शास्त्र है जिसका स्वाध्याय आत्महित के लिए सदैव करना चाहिए।१४०।

अथ द्रव्यानुयोगपठनम्--

चरणानुयोग के अनन्तर पठनीय द्रव्यानुयोगका स्वरूप वर्णन व उपदेश--

(अनुष्टुप्)

द्रव्यानुयोगशास्त्रस्य स्वपरबोधकस्य च ।
पठनं पाठनं कार्यमन्ते सर्वसुखप्रदम् ।।१४१।।
पूर्वोक्तक्रमतः पाठ्यास्तेऽनुयोगा जिनोदिताः ।
स्वैरवृत्तिर्यतो न स्यात् मोक्षश्रीः शान्तिदा सखी ।।१४२।।युग्मम्।।

द्रव्येत्यादिः- जीवाजीवादिषड्द्रव्याणां नवपदार्थानां पञ्चास्तिकायानां सप्ततत्त्वानां स्वरूपं द्रव्यानुयोगशास्त्रेषु प्रतिपादितमस्ति। युक्त्यागमाभ्यां अनेकान्तवादाश्रयेण जीवादीनां स्वरूपं तत्तद्गुणपर्यायाणाम्भेदाश्च तत्र विस्तरतो निरूपितास्सन्ति। तस्माद् द्रव्यानुयोगपठनेन स्वात्मनः स्वतंत्रसत्ताकस्य स्वात्मभिन्नानां पुद्गलादीनाञ्च सम्यग्बोधो भवति। स्वपरबोधसम्पन्न एव मुक्तिसुखं लभते। तस्मात्कारणात् सर्वसुखप्रदं द्रव्यानुयोगस्य पठनं पाठनञ्च अन्ते अनुयोगत्रयपठनानन्तरं कार्यम्। एवंप्रकारेण स्वाध्यायकरणेन स्वैरवृत्तेरभावात् शान्तिदायिनी मोक्षश्रीः सखी इव भवति।१४१।१४२।

द्रव्यानुयोग शास्त्रोंमें जीवाजीवादि छह द्रव्य, नव पदार्थ, अस्तिकाय, और सात तत्त्वादिका उत्तम स्वरूप युक्ति और आगमके आधारसे विविध गहन नय स्वरूप अनेकान्तवादके आश्रयसे वर्णित किया है। साथ ही उन द्रव्यों के अपरिमित गुणों और पर्यायोंका भी विशद विस्तृत वर्णन वहाँ किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, और जीव-कर्म, आदि की सम्यक् व्यवस्था, प्रमाण, नय और निक्षेप का विशद विवेचन, अनेकान्तवाद द्वारा सर्वथैकान्तवादोंका युक्ति और आगमादि प्रमाणोंके आधार पर खण्डन आदि इस अनुयोगमें वर्णित है। स्वतन्त्र सत्तावाला आत्मा परभावोंसे भिन्न अनंत गुणोंका पिंड स्वरूप अपने स्वरूपों में ही रमण करनेवाला है। वह चैतन्य स्वरूप विमुक्त पुद्गलादि जड़ पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। इस तरह स्वपरविवेक स्वरूप अध्यात्मविद्याके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग शास्त्रका अन्तमें अन्तिम अनुपम सुख प्राप्तिके लिए अवश्य पठन-पाठन करना चाहिये। इस क्रमसे चारों अनुयोगोंका सम्यक् स्वाध्याय स्वच्छंद प्रवृत्तिको दूर कर व्रताचरणकी वृद्धि करता है जिससे शान्तिप्रदायिनी मुक्तिरूपी सखी का समागम प्राप्त होता है।१४१।१४२।

न्यायव्याकरणादिशास्त्राणां पठनम्

प्रश्नः–न्यायव्याकरणादीनां स्वाध्यायः स्यात्कदा गुरो?

यदि चतुरनुयोगानामेव पठनं कार्यं तदा न्यायव्याकरणादिविद्यानां पठनं कदा स्यात्? हे गुरो! कथय मे।

हे गुरुदेव! यदि चारों अनुयोगों का पठन-पाठन ही श्रेष्ठ है तो न्याय व्याकरण तथा साहित्यादि शास्त्रोंको कब पढ़ना चाहिये, कहिए–

(अनुष्टुप्)

षड्द्रव्यसप्ततत्त्वानां न्यायव्याकरणस्य च ।
पठनं पाठनं भक्त्या यतः स्यात् स्वात्मदर्शनम् ।।१४३।।

षडित्यादिः– न्यायव्याकरणादयस्तु चतुरनुयोगशास्त्रप्रतिपादितषड्द्रव्याणां सप्ततत्त्वानां स्वरूपपरिज्ञानाय एव भक्त्या पठनीयाः। स्वात्मदर्शने उपयोगिनां अन्येषामपि शास्त्राणां पठनं पाठनमपि न प्रतिषिद्धमस्ति। केवलं स्वपाण्डित्यप्रदर्शनार्थं मात्सर्येण परोत्कर्षपराभवेच्छया व्याजेन वादेन पाण्डित्यप्रदर्शनेन वा यत् न्यायव्याकरणादिशास्त्राणामध्ययनं क्रियते न तत् स्वाध्यायसंज्ञां लभते। अत एव सुनिश्चितमेतत् यत् स्वात्मोपकारकस्य शास्त्रान्तरस्यापि पठने न कश्चिद् दोषोऽस्ति यत्रैव स्यान्मिथ्यात्वपोषकं कषायवर्द्धकं विषयरतिदायकं वा।१४३।

इन चारों अनुयोगोंमें प्रतिपादित छह द्रव्य व सप्त तत्त्व आदिके ज्ञानको उत्पन्न करानेमें हेतुभूत न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष, अलंकार व छन्द आदि विद्याओंका पाठन-पाठन निषिद्ध नहीं है, भक्तिपूर्वक उनका भी यथायोग्य पठन-पाठन करना चाहिए। उपयोगी विद्याओंकी सहायतासे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की जा सकती है। केवल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपना पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए शास्त्रोंका पठन-पाठन अनुचित है। अनेक विद्वान् दूसरे विद्वानोंके ज्ञानोत्कर्ष को मात्सर्य या ईर्षा के कारण सहन नहीं कर सकते, अतः वे कपट व वाद-विवाद से अपना पाण्डित्य प्रदर्शनमात्र कर अपनी कषायों का पोषण करते हैं। उनका वह शास्त्रपठन स्वाध्याय के नामको प्राप्त नहीं कर सकता। वह शास्त्रग्रहण शस्त्रग्रहण ही है जो केवल परको नीचा दिखाने मात्र को है।

उपर्युक्त कथन से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि जो मिथ्यात्ववर्द्धक न हों, असदाचार के पोषक न हों, हिंसादि महापापों के उपदेशक न हों, कलह वितण्डावाद को उत्पन्न करनेवाले न हों तथा कामादि विकारों के वर्द्धक न हों उन लौकिक शास्त्रों का पठन-पाठन निषिद्ध नहीं है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में सहायक ग्रन्थान्तरों का इसके बाद भक्तिपूर्वक पढ़ना भी स्वात्मदर्शन के लिए ही होता है।१४३।

अन्तरायकथनम्

प्रश्नः—श्राद्धानामन्तरायाः मे कति सन्ति गुरो वद।

श्राद्धानाम् श्रावकाणां भोजने कति अन्तरायाः सन्ति? हे गुरो! मे वद।

श्रद्धावान् व्रती श्रावकों के भोजन सम्बन्धी अन्तरायों का विवेचन कृपाकर गुरुवर्य मुझे बतावें—

(अनुष्टुप्)

दर्शनस्य भवन्त्यष्टावन्तराया जिनागमे ।
स्पर्शस्य विंशतिः प्रोक्ताः श्रोत्रस्य भयदा दश ।।१४४।।
बाह्यान्तरङ्गशुद्ध्यर्थं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा।
पूर्वोक्ताः त्रिविधाः पाल्या अन्तरायाः प्रयत्नतः।।१४५।।

दर्शनस्येत्यादिः— व्रतिनः श्रावकस्य दयापरस्य हृदि ग्लानिकारकाः संक्लेशकारकाश्च भोजनसमये दर्शनस्याष्ट अन्तरायाः, स्पर्शसंबंधिनो विंशतिरन्तरायाः, शब्दश्रवणसंबंधिनश्च किल दश अन्तरायाः सन्ति। मिलित्वा अष्टत्रिंशदन्तराया भवन्ति। शुद्धाहारभोजिनः श्रावकस्य भोजनसमये यदि परित्यक्तपदार्थानां मदिरामांसादीनां दर्शनं चर्मादिपदार्थानां स्पर्शनं रोदनादिहृदयद्रावकशब्दानां श्रवणं वा स्यात् तदा स अन्तराय इति मत्वा भोजनं परित्यजति। एवं उभयशुद्ध्यर्थं धर्मज्ञैः प्रयत्नतः त्रिविधा भोजनान्तरायाः पालनीयाः।।१४४।१४५।।

दयावान् श्रद्धावान् सदाचारी व्रती श्रावक शुद्ध आहार के द्वारा ही अपनी क्षुधा मेंटता है। यद्वा तद्वा शुद्धाशुद्ध आहार के द्वारा वह अपनी इन्द्रियलिप्सा को पूरी नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता। उसका अपनी विषय वासनाओं पर इतना नियंत्रण है कि वह बुभुक्षित होने पर भी कभी अमर्यादित पदार्थों का, परित्यक्त पदार्थों का, अनीति से प्राप्त पदार्थों का तथा हिंसा-चौर्य आदि पापों से कमाए हुए पदार्थों का भक्षण नहीं करता। शुद्ध, शास्त्रानुमोदित, हिंसादि पापों से दूर व न्यायोपार्जित पदार्थों का ही सेवन करता है। इस प्रकार के शुद्धाहार के समय यदि उसे हृदयद्रावक मांसादि पदार्थों का दर्शन हो जाय तो उनके दर्शन मात्र से वह अपने शुद्धाहार का भी तत्काल के लिए त्याग कर देता है। वह दयापरिणामी उस हिंसा तथा निर्दयक्रिया द्वारा कृत पदार्थ को देखने मात्र से दुःखी होता है। पर-दुःख-कातरता उसका गुण है। इसी प्रकार मृत पुरुष, स्त्री या पशु आदि के शरीर का अथवा मृत शरीर के अंशभूत चर्म, नखादि का स्पर्श होने पर प्राप्त अपवित्र दशा में भी वह भोजन का परित्याग करता है।

श्रवण सम्बन्धी भी अन्तराय होता है। जब भोजन करने वाला व्रती भोजन के समय किसी का करुणापूर्ण रुदन सुनता है या मरण सुनता है, अग्निदाह या शस्त्रघात आदि के शब्द सुनता है तब वह भोजन त्याग कर तत्काल अग्नि बुझाने का, शस्त्राघात दूर करने का व दुःखी को सान्त्वना देने का सत्प्रयत्न करता है। दूसरों को दुःखी अवस्था में छोड़कर वह चैन से भोजन करते नहीं बैठता, यह उसका अहिंसा गुण है। अपनी अन्तरङ्ग मानसिक शुद्धि के लिए तथा बाह्य में शारीरिक शुद्धि के लिए, लोक कल्याण के लिए और दयाधर्म के प्रतिपालन के लिए धर्मात्मा श्रावकों को प्रेमपूर्वक भोजन के अन्तरायों का पालन करना चाहिए।१४४।१४५।

अथान्तरायभेदाः कथ्यन्ते

अथ अन्तराय के भेदों को गिनाते हैं—

मदिरा-मांसास्थि—रक्तधारार्द्रचर्म-मृतपञ्चेन्द्रियजीव-क्षुधाहतपशु-मलमूत्राणि इति दर्शनस्यान्तरायाः।।१।।

मदिरा, महुआ और द्राक्षा आदि अनेक पदार्थों को सड़ाकर बनाई जाती है। हजारों लाखों कीड़े उसमें प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उन सबको घोलकर व आग पर औंटाकर शराब या मदिरा बनाई जाती है। मदिरा नशा करती है, मनुष्य की सुधि-बुधि भुला देती है, और हितमार्ग से दूरकर अहित मार्ग में लगा देती है। ये सब दुर्गुण तो हैं ही, पर यह उन असंख्य प्राणियों के रक्तमांसमय पिण्ड का निचोड़ा हुआ रस है जो सड़ने के समय उसमें पड़ चुके थे और अब भी जिसमें असंख्य कीटाणु पैदा होते व मरते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः जिसकी उत्पत्ति भी महान् हिंसा से है तथा जिसका उपयोग भी महान् पापोत्पादक है उस मदिरा को देखने मात्र से व्रती पुरुष भोजन का त्याग कर देते हैं।

इसी प्रकार जीवों का निर्दयता पूर्वक संहार कर ही मांस बनाया जाता है। निर्दय पुरुष उस मांस से अपना उदर भरते हैं और उसे श्मशान भूमि बनाते हैं। मांस भी उत्पत्ति रूप से पापमय है और सदा असंख्य जीवों की उत्पत्तिरूप होने से उनकी भी हिंसा का हेतु है। दयापर अहिंसक श्रावक उस अपवित्र पदार्थ को देखकर भी भोजन का त्याग कर देता है।

दर्शन का तृतीय अपवित्र पदार्थ हड्डी है। यह भी शरीर का अंग है। शरीर के सभी अंग अपवित्र हैं। सप्त साधु और उपधातु अपवित्रता के परमाणुओं से ही बने हैं। उनका दर्शन भी भोजन का अन्तराय है। बहती हुई रक्त की धारा, शरीर के ऊपर से तत्काल निकाला हुआ कच्चा चमड़ा, मरा हुआ पञ्चेन्द्रिय जीव का शरीर, क्षुधापीड़ित व्यक्ति या पशु और मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थ ये सब भोजन के समय अन्तराय के कारण दर्शनमात्र से माने गए हैं। इन्हें देखकर व्रती को भोजन का त्याग कर देना चाहिए।१।

शुष्कचर्म-नख-केश-पक्षि-पक्षासंयमिस्त्रीपुरुष-व्रतभंग-रजस्वलास्त्री-पञ्चेन्द्रियपशु-मल-मूत्रशंका, -शवस्पर्शन, मृतजीवग्रास, —केशनिर्गमन—स्वशरीरप्राणिपीडनादयः स्पर्शनान्तराया।।२।।

इतने पदार्थों के स्पर्श होने पर भोजन का अन्तराय मानना चाहिए-सूखा चमड़ा, नख, कम्बल आदि केशवस्त्र, पक्षी, पक्षी के पंख, शीलरहित स्त्री, पुरुष (शीलरहित), व्रतभंग करनेवाली स्त्री या पुरुष, रजस्वला स्त्री, पञ्चेन्द्रिय पशु कुत्ता, बिल्ली आदि, मुर्दे का स्पर्श, ग्रास में यदि कीटाणु मृत हो तो, ग्रास में यदि बाल हो तो भोजन त्यागना चाहिए। अपने शरीर में यदि असह्य पीड़ा हो या दूसरे प्राणी का असह्य पीड़ा हो अथवा अपने शरीर से मूत्र, मल आदि के स्खलन हो जाने की शंका हो गई हो तो भी भोजन का अन्तराय है। इस प्रकार ये स्पर्शनसंबंधी भोजनान्तराय हैं।२।

मरण-रोदनाग्निदाह-मारण-धर्मात्मोपर्युपसर्ग-मनुजकर्णनासिकादिच्छेदन-जिन-बिम्ब-जिनायतनोपसर्ग-पापवचनादयः श्रवणान्तरायाः।।३।।

भोजन के समय यदि किसी का मरण सुन पड़े, करुणाजनक विलाप सुने, कहीं अग्नि लग गई, घर जल रहे हैं, पशु-पक्षी मनुष्य जले जा रहे हैं इत्यादि वचन सुनाई पड़े, लोग लूटपाट मारकाट कर रहे हैं, ऐसा सुनाई देवे। किसी धर्मात्मा पुरुष पर कोई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसर्ग आया हुआ सुने , या ऐसा शब्द सुनाई देवे जो अत्यन्त करुणाजनक हो जैसे इसकी नाक काट लो, कान काट लो, मस्तक छेद दो इत्यादि अथवा कहीं जिनमंदिर जिन प्रतिमा पर उपसर्ग या अपमानजनक वचन सुनाई देवें या डाका पड़ने लुट जाने व नारी अपहरण आदि पाप के वचन सुनाई पड़ें तो इन बातों के श्रवणमात्र से व्रती को भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

भोजन के अन्तरायों का यह तात्पर्य नहीं है कि वह भोजन छोड़कर पश्चात्ताप करता हुआ चुप बैठ जाय अथवा अन्तराय करनेवालों पर रोष करे जो इन्होंने मुझे भोजन भी न करने दिया। ये सब काम तो अन्तराय न पालने के बराबर हैं। अन्तराय पालनेवाला अन्तराय आने पर भोजन का त्याग करता हुआ भी अपने पापकर्म का उदय समझकर किसी पर रोष नहीं करता। तथा उक्त कारणों के आने पर तत्काल उन उपसर्गों को दूर करने, लोगों के कष्ट दूर करने का प्रयत्न करता है। मार-काट, लूट-पाट, अपहरण, धर्मात्मा पर उपसर्ग, जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा का उपसर्ग आदि श्रवण कर जो केवल भोजन का त्याग कर बैठ जाता है वह कापुरूष कदाचित् भी व्रती श्रावक नहीं है, किन्तु उसे तत्काल इन उपसर्गों को अपनी शक्ति भर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी वह व्रती है और उसका अन्तराय का पालन सार्थक है, अन्यथा नहीं।

भोजन के अन्तराय दर्शन-स्पर्शन-श्रवण के सिवाय और भी शास्त्रकारों ने शास्त्रान्तरों में प्रतिपादित किए हैं उनका भी पालन करना चाहिए। जैसे-यदि प्रमाद से त्याज्य वस्तु खाने में आ जाय तो तत्काल भोजन का त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ कोई व्रती नमक रस का त्याग किए है। अब कदाचित् भोजन में कोई नमकवाली वस्तु आ गई तो उसे तत्काल भोजन का अन्तराय मानना चाहिये। भोजन में यदि जीवित भी जीव कीटाणु आ जाँय जिनका सहज ही अलग करना सम्भव न हो तो भी भोजन का अन्तराय मानना चाहिए। तथा भोजन के शुद्ध पदार्थों में भी यदि भोजन के समय दुष्ट संकल्प आ जाय अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा मानसिक संकल्प पैदा कर दे जो यह भोज्य पदार्थ मांस जैसा है या अण्डे जैसा मालूम पड़ता है, या प्राणी के सिर जैसा या पैर जैसा है तो वह पदार्थ भी व्रती के किए अभोज्य है। सारांश यह है कि दया उत्पन्न करनेवाले, अपवित्रता लानेवाले और व्रतभंग करानेवाले कारणों के आने पर भोजन का अन्तराय मानना व्रती के लिए उचित है तथा पाक्षिक व दार्शनिक को भी यथायोग्य अन्तराय पालने चाहिये। ३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः—कार्यो वितानबन्धेऽपि कुत्र कुत्र गुरो वद

हे गुरुवर्य! श्रावक अपने घर में चँदोवा कहाँ कहाँ बाँधे, कृपया कहिये—

(अनुष्टुप्)

पेषणप्रभृतिस्थाने श्रावकैर्धार्मिकैः सदा ।
वितानस्य प्रबन्धोऽपि कर्त्तव्यो जीवरक्षकः ।।१४६।।

पेषणेत्यादिः— जीवरक्षार्थं अन्नादिशुद्ध्यर्थञ्च पेषणप्रभृतिस्थाने पेषिण्यादीनामुपरि एकादशस्थानेषु वस्त्रादिना निर्मितस्य मण्डपस्य प्रबन्धो धर्मज्ञैः श्रावकैः स्वेच्छया कर्त्तव्यः। यत्रान्नादिपेषणं क्रियते तदुपरि, यत्र कुट्टनमन्नादीनां क्रियते तत्र, यत्र महानसमस्ति तत्र, भोजनस्थाने, पानीयस्थाने, शयनस्थाने, स्वाध्यायशालायां, सामायिकस्थाने, पूजनगृहे, आपणे, तथा यत्र अग्न्यादिसंस्थापनं क्रियते तत्रापि उपरि मण्डपो विधेयः। वितानानिबन्धनेन गृहस्योर्ध्वभागे आच्छादितैः खर्परादिभिः वंशादिभिश्च जीवानां पतनं न स्यात्, यदि स्यात् तर्हि वितानस्योपर्येव नान्नादौ पूजनादिवस्तुनि भूमौ शरीरे वा। तत्र पतने तेषां घात एव स्यात् । अतो दयापरैस्तत्र तत्र वितानस्य प्रबन्धोऽवश्यमेव कार्यः।१४६।

दयावान् श्रावकों का कर्त्तव्य है कि अपने गृह में चक्की आदि ग्यारह स्थानों के ऊपर चँदोवा जो कि अच्छे वस्त्र आदि का बनाया गया हो तथा छिद्ररहित हो बाँधे। अर्थात् चक्की के ऊपर, अन्न के कूटने के स्थान पर, रसोई करने के स्थान पर, पानी रखने के स्थान पर, भोजन करने के स्थान, पर, दुकान के स्थान पर, शयन के स्थान पर, स्वाध्यायशाला में, सामायिक व उपवास करने के स्थान में, पूजा और यज्ञ के स्थान में तथा अन्यत्र जहाँ कहीं भी अग्नि जलाने या रखने का काम पड़े उन सब स्थानों पर चँदोवा बाँधना चाहिये। मण्डप बन्धन से गृह के ऊपर भाग के छप्पर से व बांसों के सड़ने आदि से जीव जन्तु गिरने लगते हैं वे भूमि में, अन्नादि वस्तु में, पूजनादि सामग्री में, जल में, तथा आग में इत्यादि स्थानों में न गिर कर मण्डप में ही रह जांयगे और तात्कालिक अवश्यंभावी विनाश से बच जांयगे। अन्नादि की शुद्धि भी रहेगी।

जिन स्थानों में ऊपर छप्पर नहीं है वहाँ भी मकरी के जाल आदि के निमित्त से जीव बाधा सम्भव हैं, अतः मण्डप बन्धन करना चाहिये। पक्की छतों के या अन्य प्रकार के सिमेंट आदि से बने हुए स्थानों में मण्डप की क्या अवश्यकता है ऐसा प्रश्न हो सकता है? उत्तर यह है कि विवेकी मनुष्य तो ऐसे स्थानों की स्वच्छता रखकर जीवरक्षा कर सकता है। मण्डप बन्धन के उद्देश्य की पूर्ति तो इससे हो सकती है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर नियम का पालन नहीं हो सकने से परम्परा व मण्डप बन्धन की पद्धति रुक जा सकती है। सर्वसाधारण को यह बोध होगा जो अमुक व्रती पुरुष मण्डप बन्धन नहीं करता तो मालूम होता है जो यह कोई आवश्यक परम्परा या पद्धति नहीं है। अतः परम्परा में नियम का घात न हो ऐसा विचार कर श्रावक को इन स्थानों पर मण्डप बन्धन करना ही चाहिए। १४६।

प्रश्नः—कौ मौनधारणं क्व क्व कार्यं मे सिद्धये वद।

श्रावक को मौन धारण करना भी आवश्यक सुना गया उसे किस किस अवसर पर मौन धारण करना चाहिए, कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

भोजने मैथुने स्नाने मल-मूत्रविमोचने।
सामायिकेऽर्चने दाने वमने च पलायने ।।१४७।।
सन्मौनधारणं कार्यं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा।
यतः स्यात् सर्वकार्येषु शान्तिः सिद्धिर्निजाश्रिता ।१४८।।युग्मम्।।

भोजन इत्यादिः— श्रावकेण एतेषु दशसु कार्येषु मौनधारणं कर्त्तव्यम्। भोजनकार्ये-मैथुनेसेवने-स्नानकार्ये-मलत्यागे-मूत्रविसर्गे-सामायिककरणे-भगवत्पूजनादौ-यज्ञकार्ये-दानकरणसमये-वमने पलायने च। सावधानतया जीवरक्षाविचारेण उक्तकार्याणि सम्पादनीयानि। अन्यमनस्कतया भोजनादिकरणे मैथुनादिकरणे मलमोचने वमने वा शारीरिकहानिः स्यात्। तद्वत् अन्यमनस्कतया सामायिकादौ क्रियमाणे च यदर्थं तत्क्रियते न तस्य सिद्धिः स्यात्। पलायने च वाग्व्यापारे क्रियमाणे शक्तिह्रासो भवति। कस्मात् सिद्धयर्थी शान्त्यर्थी च उक्तकार्येषु मौनं कुर्वीत। १४७।१४८।

भोजन, मैथुन, स्नान, मलत्याग और वमन आदि शारीरिक कार्यों में तथा पूजन, यज्ञ, हवन, सामायिक और दान आदि पारमार्थिक कार्यों में और कार्यवशात् यदि पलायन याने वेग से गमन करना पड़े दौड़ना पड़े भागना पड़े तो उस अवसर में ऐसे दस मौकों पर धर्मात्मा श्रावकों को सदा मौन धारण करना चाहिए। ये कार्य जीवरक्षा के ध्यान से तथा शान्तिपूर्वक उक्त कार्यों को पूरा करने के अभिप्राय से तथा धार्मिक कार्यों में शुभ परिणामों की सिद्धि के लिए मौन पूर्वक ही किए जाने चाहिए।

यहाँ पर मौन से तात्पर्य इस बात का है कि जो काम स्वयं अकेले के करने के है वहाँ तो सर्वथा मौन रखे। जहाँ पर अपने सिवाय दूसरे व्यक्तियों का भी सहयोग आवश्यक है वहाँ उस व्यक्ति के सिवाय अन्य किसी से बातचीत न करे। संबंधित व्यक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भी संबंधित कार्य के लिए आवश्यक बात ही करनी चाहिए, चाहे जिस विषय पर पद-पद पर मनमानी चर्चा न करनी चाहिए।

उदाहरणार्थ पूजा करने वाला पूजा करते समय पूजा पढ़ेगा तथा यदि कोई साथ पूजन करने वाला है तो उससे पूजा के लिए आवश्यक वस्तु के सम्बन्ध में या पाठ की शुद्धि या अर्थ के सम्बन्ध में जरूरत के स्थान पर अल्पमात्रा में बोलेगा। अन्य व्यक्तियों से बात न करेगा। मौन के बिना की जाने वाली क्रियाओं में चित्त की एकाग्रता नहीं रहती और बिना एकाग्रता के अन्यमनस्क पुरुष के द्वारा किए गए भोजन, मैथुन, मल-मूत्रत्याग, स्नान, वमन, पलायनादि कार्य अत्यन्त शारीरिक हानि को पहुँचाते हैं तथा ऐसे ही अन्यमनस्क के सामायिक व पूजादिक कार्य उद्देश्य को पूरा नहीं करते। इस तरह लौकिक और पारलौकिक हानि को रोकनेवाले होने से मौन को उक्त कार्यों में अवश्य धारण करना चाहिए।१४७।१४८।

प्रश्नः—किमर्थं जप्यते माला तद्रहस्यं गुरो वद।

हे गुरुवर! श्रावक लोग माला का जाप किया करते हैं उसका क्या प्रयोजन है, कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

संरम्भसमारम्भारम्भादिभेदाद्धि सर्वदा ।
वाक्कायचित्तचाञ्चल्यात् क्रोधादीनां वशङ्गताः ।।१४९।।
अष्टोत्तरशतं पापं कुर्वन्ति प्रत्यहं जनाः ।
तन्नाशाय जपं भक्त्या कुर्वन्तु स्वात्मचिन्तनम् ।।१५०।। युग्मम्।।

संरम्भेत्यादिः— प्रतिदिनं श्रावकः गृहाश्रमे मनसा वाचा कायेन च आरम्भपरिग्रहादिसंबंधि-कार्याणि कर्तुमुत्सहते। स किल संरम्भः त्रिविधः। तथा च तत्कर्तुं तत्कारणभूतसाधनानां सञ्चयं करोति। स किल त्रिविधः समारम्भः। तदनन्तरं यदा किल कार्यं करोति स किल त्रिविधयोगसंबंधात् त्रिविध आरम्भः। तथा नवविधोऽप्येष क्रोधवशात् मानवशात् मायाकषायवशात् लोभवशाच्च क्रियते अत एष षड्त्रिंशद्विधः स्यात् । षट्त्रिंशद्विधेऽपि पापे स्वयं कृते अन्येन कारिते तथा अन्यकृते सति तदनुमोदिते च अष्टोत्तरशतसंख्याकं पापं जनाः कुर्वन्ति अतस्तन्नाशाय तत्प्रमाणमणियुक्तां मालामादाय जिननामजपं श्रावका भक्त्या कुर्वन्तु स्वात्मचिन्तनञ्च कुर्वन्तु। १४९।१५०।

किसी भी कार्य के करने का इरादा (विचार) करना **संरंभ** है। उस कार्य के योग्य साधन सामग्री का संग्रह करना **समारंभ** है। साधनों की सहायता से विचारित कार्य को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रारंभ करना **आरंभ** है। ये संरंभादि तीनों कार्य मनमात्र से भी होते हैं, वचनमात्र से भी होते हैं और काय से भी होते हैं अतः तीनों भंगों के साथ संरंभादि का संयोग होने से नव भंग बनते हैं।

ये नव भंगवाले कार्य क्रोध के वश से हों तो **क्रोध के नव भंग** हुए और ये ही नव भंग वाले कार्य मान कषाय के वश होकर किए जायँ तो वैसे ही **नव भंग मानकषाय** के हुए। माया और लोभ कषाय के आवेश में भी ये नव हो सकते हैं, अतः **माया के भी नव** और **लोभ के भी नव भंग** हुए। सब मिलकर ९×४=३६ **भंग पाप कार्य** के हुए।

किसी भी कार्य को स्वयं करना **कृत** कहलाता है। दूसरो से कराना **कारित** कहलाता है और प्रेरणा के बिना भी यदि कोई स्वेच्छा से उक्त कार्य करे और दूसरा केवल उसका समर्थन करे तो वह **अनुमोदना** कहलाती है। वे ३६ भंगवाले पाप कृत से भी होते हैं, कारित से भी होते हैं और अनुमोदना से भी होते हैं अतएव उनको एकत्रित करने पर ३६+३६+३६=१०८ एक सौ आठ भंग कार्य के हुए। इन एकसौ आठ भंगों के द्वारा पंचेन्द्रियों के विषय पोषणार्थ हिंसादि पाँच पाप गृहस्थ द्वारा हो जाते हैं। कुछ ज्ञातभाव से होते हैं और कुछ अज्ञात आदि भाव से होते हैं। उन सब पापों से बचने के लिए अथवा उनका नाश करने के लिए ही १०८ बार पञ्चपरमेष्ठी भगवान् का नामस्मरण उतनी मणिवाली माला से किया जाता है। जप माला में १०८ मणियाँ इसीलिए रखी जाती हैं। माला के प्रारम्भ में या अन्त में दोनों ओर के धागों में पिरोये गए तीन दाने, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के स्मरणार्थ हैं। इनसे कम मणिवाली माला जप के योग्य नहीं मानी गई है। यदि माला में पूर्ण १०८ मणियाँ न हों तो सुमेरु के ३ दानों के सिवाय १०८ के आधे ५४ या चतुर्थांश २७ मणि की भी माला उपयोग में लाई जा सकती है, पर उसे दो बार या चार बार फेरकर १०८ की संख्या पूरी कर दी जानी चाहिए। स्वात्मबोध को प्राप्त करने के लिए स्वात्मबोध प्राप्त करने वाले भगवान् का नामस्मरण ही एकमात्र हेतु है, अतः माला जपने का प्रयोजन अपने पापों का नाश करना है।

माला जपते समय श्रावक को विचार करना चाहिए कि मैंने क्या-क्या पाप आज किए हैं। उनकी आलोचना करे। अपने पापों पर पश्चात्ताप करे। अपनी कमजोरी पर दुखी हो। पापों से छूटने के लिए निष्पाप रूप भगवान् का नामस्मरण कर विचार करे जो मैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पापों से छूट जाऊँ। भविष्य में मैं पापों से कैसे बचूँ इसका विचार करे। ऐसा करने वाले के पुराने पापों का क्षय होता है और नवीन पाप का बंध नहीं होता।

भगवान् का दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, आलोचना, स्तुति, वन्दना और जप आदि समग्र धर्मकार्य स्वात्मबोध प्राप्त करने के लिए ही किए जाते हैं। जो लोग इन कार्यों को उनके प्रयोजन का विचार किए बिना करते हैं वे उसके यथार्थ फल को प्राप्त नहीं होते। उनके प्रत्येक धर्म कार्य केवल रूढ़िपरक हैं। उनसे परम्परा तो चलती है पर चालक का स्वतः का लाभ जैसा चाहिए वैसा नहीं होता है।

जैसे स्नान एक कार्य है, भोजन एक कार्य है, दन्तधावन एक कार्य है व टोपी लगाना एक कार्य है इसी प्रकार दर्शन-पूजन करना, सामायिकपाठ, आलोचनापाठ व स्तुतिपाठ पढ़ना एक कार्य है। जिनकी ऐसी दृष्टि है उन्हें जप आदि से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। अतएव प्रत्येक धर्मक्रिया करते समय उस कार्य के मूलोद्देश्य को सदा सामने रखना चाहिए। यही बात जप के सम्बन्ध में भी है। गृहस्थ को गृहाश्रम से २४ घण्टे आरंभादिक के कार्य लगे हैं और उनके पाप का सञ्चय भी अवश्य होता है। उसके दूर करने का एकमात्र उपाय जिनेन्द्र पूजन, नामस्मरण और गृह-रहित तपस्वियों को नवधा भक्तिपूर्वक दान देना ही है। जप के समय अपने दैनिक कृत्यों का हिसाब सही-सही हो जाना ही उसकी सफलता है।१४९।१५०।

प्रश्नः—श्राद्धेभ्यो ध्यानभेदानामुपदेशो विधीयते।

यहाँ पर श्रावकों को ध्यानसंबंधी उपदेश भी आर्य आचार्य देते हैं—

(अनुष्टुप्)

रौद्रार्त्ते दुःखदे ध्याने त्यक्त्वा कुर्वन्तु शक्तितः।
धर्मध्यानं सदा श्रीदं शुक्लध्यानस्य भावनाम् ।।१५१।।

रौद्रार्ते इत्यादिः— चतुर्विधं भवति ध्यानम् —आर्त्तं रौद्रं धर्म्यं शुक्लञ्चेति। तत्र आद्ये दुर्ध्याने दुःखदे संसारकारणे स्तः। परे च धर्म्यशुक्ले मोक्षहेतू भवतः। तस्मात् कारणात् दुःखदे आर्त्तरौद्रे ध्याने त्यक्त्वा श्रीदं कल्याणप्रदं धर्मध्यानं शक्तितः सदा कुर्वन्तु तथा मोक्षस्य साक्षात् कारणस्वरूपस्य शुक्लस्य भावनां कुर्वन्तु।।१५१।।

किसी इष्ट पदार्थ या व्यक्ति के वियोग में शोकरूप चिन्तवन करना **इष्ट वियोगज** आर्त्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट कारक पदार्थ या व्यक्ति के संयोग होने पर उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वियोग के लिए दुःखी होना बार-बार चिन्तवन करना **अनिष्टसंयोगज** नाम का दूसरा आर्त्तध्यान है। बीमारी आदि शारीरिक बाधा या मानसिक बाधा आने पर उसके दूर करने के लिए जो एकाग्रचिन्ता रहती है वह **पीड़ाचिन्तन** नामक तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यकाल के लिए नाना प्रकार के भोगों की इच्छा करना **निदान** नाम का चौथा आर्त्तध्यान है। ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान दुर्ध्यान हैं, अतः त्याज्य हैं।

इसी प्रकार चार प्रकर का रौद्रध्यान भी त्याज्य है। हिंसा में, हिंसा के कार्यों में और उसके कारणों में प्रसन्नता होना और उसी की एकाग्र चिन्ता करना **हिंसानन्द** नामक रौद्रध्यान है। इसी प्रकार मिथ्या भाषण में, कपट करने में, दूसरों के ठगने में, धोखा देने और विश्वासघात करने में आनंद मानना उसमें एकाग्र होना **मृषानन्द** नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। चोरी करने में, चोरी के उपाय बताने में, चोरी के उपाय ढूँढ़ने में और उनकी चर्चाओं के सुनने में आनन्द मानने संबंधी चित्त की एकाग्रता को **स्तेयानंदी** नामक तीसरा रौद्रध्यान कहते हैं। इसी प्रकार धनधान्यादि परिग्रह या स्त्रीपरिग्रह की चिन्ता में एकाग्र होना **परिग्रहानन्द** नाम का चौथा रौद्रध्यान है।

ये चारों प्रकार के आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारी प्राणियों के सदा बने रहते हैं। उनका मन सदा पापों में, पापों के स्मरण में और भविष्य काल में भी नाना प्रकार के पापोपायों के संग्रह में तल्लीन रहता है। वे उनमें ही आनन्द ढूँढ़ते हैं अतः इन दुर्ध्यानों के कारण ये चतुर्गति के दुखों के पात्र होते हैं अतः आत्महित वांछक धर्मज्ञ श्रावकों का कर्त्तव्य है कि इनका दूर से ही परिहार करें तथा इनसे बचने का सतत प्रयत्न करें और धर्मध्यान का आराधन करें।

धर्मध्यान भी चार प्रकार का शास्त्रकारों ने बताया है। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है। सर्वप्रथम, आज्ञाविचयधर्मध्यान है। जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश और उनकी आज्ञाओं के सम्बन्ध में अपने ध्यान को एकाग्र करना, उनका विचार करना और उनके प्रतिपालन की चिन्ता करना यह सब आज्ञाविचय है। संसार के स्वरूप का चिन्तवन कर उसके दुःखों से स्वयं भयभीत हो अपने को व संसार के अन्य दुखी प्राणियों को संसार परिभ्रमण के घोर दुखों से बचाने के उपायों का चिन्तवन करना उपायविचय या अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है। संसार में प्राणी कर्मोदय जनित दुखों से पीड़ित है अतः शारीरिक या मानसिक पीड़ा आने पर उद्विग्न हो उठता है, घबड़ाने लगता है तथा संक्लिष्ट परिणामी भी हो जाता है। ऐसे समय कर्म के उदय उदीरणा आदि के कार्यों का विचार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने से बहुत कुछ धैर्य प्राप्त होता है तथा उस दुःख को सहने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, संक्लेश परिणाम घटते हैं तथा पापबंध न्यून होता है। इन कर्म विपाकों का चिन्तन करना ही विपाकविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है। संसार के स्वरूप का विचार करना कि लोक कितना बड़ा है, कहाँ पर क्या क्या रचनाएँ हैं, नरक कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, कहाँ भोगभूमि है तथा मुक्तिस्थान कहाँ है इत्यादि लोकालोक के स्वरूप का चिन्तवन करने से आत्मा को अपनी यथार्थ स्थिति का बोध होता है और वह विकृतावस्था छोड़ स्वभावावस्था में आने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार लोक के संस्थानादि का चिन्तन करना संस्थानविचय नामा चौथा धर्मध्यान है।

शुक्लध्यान के भी ४ भेद हैं। पर पदार्थों से आत्मा के पृथक्त्व का विचार करना पहिला 'पृथक्त्ववितर्क विचार' नामक शुक्लध्यान है। पर का सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र चैतन्य चमत्कारस्वरूप आत्ममात्र का एकाग्र चिन्तवन करना यही 'एकत्ववितर्कविचार' नाम का दूसरा शुक्लध्यान है। ये दोनों श्रुतकेवली के ही होते हैं। तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है जो केवली भगवान् के ही होता है। योगों के चाञ्चल्य को न्यून करना ही इस ध्यान का तात्पर्य है। चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। इसका तात्पर्य है जो सम्पूर्ण योगों की चञ्चलता बन्द हो जाय सर्व योग निरोधरूप होने से यह अयोग केवली भगवान् के ही होता है। इस ध्यान के समय मन, वचन तथा कायसंबंधी सर्व योग बन्द हो जाता है। श्वासोच्छ्वास का चलना, नाड़ीगमन, हृदयस्पंदन, रक्तसंचालन आदि सम्पूर्ण कायक्रियाएँ बंद हो जाती हैं। सर्व आस्रव रुक जाता है और अ इ उ ऋ ऌ इन पाँच अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने में ही जीव संसार अवस्था का सदा के लिए परित्याग कर शाश्वत सुख का स्थान निरास्रव निर्बन्ध स्वरूप मुक्ति-स्थान को प्राप्त हो जाता है।

श्रावक का कर्तव्य है कि आर्त्त और रौद्र रूप दोनों दुर्ध्यानों का त्याग करे और धर्मध्यान का आराधन करे तथा शुक्लध्यान को प्राप्त करने की भावना करे। यही आत्मकल्याण का मार्ग है।१५१।

प्रश्नः— निर्जीवदेहदहनादिविधिः कथं मे कार्यो कृपाश्रय! गुरो! गृहिभिः स्वशान्त्यै।।

हे गुरुदेव! मृतदेह का संस्कार किस विधि से करना चाहिए जिससे कि गृहस्थ अपवित्रता से दूर होकर आत्मशान्त्यर्थ धर्म का पालन कर सके—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वसन्ततिलका)

श्राद्धैश्च शास्त्रविधिना विमले वनादौ
निर्जीवदेहदहनादिविधिर्विधेयः ।
हाहादिरोदनकृतिर्न मनाग्विधेया
पश्चाद्यतो न हि भवेत् किल कर्मबन्धः ।।१५२।।

श्राद्धैश्चेत्यादिः— शास्त्रविधिना जीवजन्तुबाधारहिते विमले निर्जीवे एकान्ते वनादौ प्रदेशे नेत्रास्खलननाडिकासञ्चालन- हृदयास्पंदनादिभिर्निश्चितस्य निर्जीवदेहस्य श्राद्धैः दहनादिविधिः अग्निना संस्कारो विधेयः। शोकाविष्टैः तैः हा हा इति दैन्येन रोदनकृतिः मनागपि न विधेया यतस्तत्करणे किल पापबन्ध एव भवति।१५२।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार परीक्षित मृत देह को नेत्र की स्थिरता, नाड़ी का न चलना व हृदयस्पंदन न होना आदि चैतन्याभाव सूचक लक्षणों से निर्जीव पहिचान कर एकान्त जीव-जन्तु बाधारहित निर्मल वन आदि प्रदेश में अग्नि द्वारा संस्कारित करना चाहिए। साधर्मी भाइयों का कर्त्तव्य है कि लौकिक सम्मान की व व्यवस्था की दृष्टि से मृत को सामूहिक रूप से स्मशान में ले जाँय। वहाँ वायु के सञ्चार तथा जलस्नानादि द्वारा उसकी बार-बार परीक्षा हो जाने पर ही उसका निर्जन्तु काष्ठादि की अग्नि से संस्कार करें। मृत मनुष्य के नजदीकी और स्नेही बन्धु ही प्रथम अग्नि संस्कार करें। इस नियम का पालन करने से कभी रुग्णावस्था व दुर्बलावस्था से मूर्च्छित व्यक्ति का किसी शत्रु भाववाले व्यक्ति द्वारा जीवितावस्था में ही अग्निदाह हो गया ऐसी शंका को स्थान नहीं रहता। अग्निदाह समाप्त होने पर तृतीय दिवस या पञ्चम दिवस भस्म तथा अस्थियों को भूमि में गड्ढा कर उसमें गाड़ देना चाहिए। नदी आदि जलाशय में उस क्षार पदार्थ को नहीं डालना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से नदी के असंख्य प्राणियों का जल जन्तुओं का घात होता है। अनेक लोग गङ्गादि नदी में अस्थि विसर्जन को पुण्य मानते हैं। वे समझते हैं कि गंगादि स्नान से आत्मा पवित्र होती है अतः मृत देह को भी गंगा स्नान कराना पवित्रता का हेतु होगा और मृतात्मा का उद्धार होगा। यह बात नितान्त असत्य है। कारण गंगादि नदी का जल शारीरिक मैल को धो सकता है। आत्मा की मलीनता तो पापों के गलने से ही जा सकती है। जैसे कुरते में लगा हुआ मैल धोती के धोने से नहीं छूट सकता, वैसे ही शरीर का मैल धोने से आत्मा का मैल पाप नहीं धुल सकता, अतः गंगादि में अस्थिविसर्जन करना व्यर्थ है। यह असत्कल्पना उन ठगों द्वारा बना दी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गई जो उन तीर्थों पर इन कार्यों से ही रुपया पैदा करते हैं। मरण के बाद जीव अपने कर्मानुसार ३ समय के भीतर जन्म ले लेता है उसका क्या उद्धार होगा ?

इष्टवियोगजन्य दुःख अवश्य मोही जीवों को होता है। उस दुःख में अनेक जन अपने व संसार के स्वरूप को भूलकर अत्यन्त उद्विग्न हो उठते हैं और हाहाकार मचाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जीवन के साथ मरण का अविनाभावी सम्बन्ध है। जो जन्म लेता है उसका मरण अवश्यंभावी है और जो अवश्यंभावी है वह हमारे हाहाकार से नहीं मिट सकता। अतः संसार की विनाशशीलता का विचार कर शोक को दूर करना चाहिए। यह विचार करना चाहिए कि यह जीव अनादि काल से कर्मबद्ध हो नाना जन्मों में भ्रमण करता फिरता है। यह मनुष्ययोनि भी उन अनन्त जीवों में से एक है। विना मरण के पुनर्जन्म कैसे संभव हैं? और संसार तो जन्म मरणों के समूह का ही नाम है। स्वोपार्जित कर्म को यह जीव अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा इसका साथी नहीं है। जब यह उत्पन्न होने के समय अकेला ही आया है तब अकेला ही तो जायगा। जिस देह के साथ यह उत्पन्न हुआ था वह देह भी तो साथ नहीं जाती। तब अन्य भाई-बन्धु आदि कहाँ तक उसका साथ दे सकते हैं।

यथार्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो भाई, बहिन, माता-पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री और पति आदि लौकिक सगे सम्बन्धी हैं वे सब कल्पित हैं। यहाँ अकेला उत्पन्न होने पर भी प्राणी दूसरे प्राणियों से केवल जन्म निमित्त से सम्बन्ध जोड़ लेता है। जब जन्म ही मरणावस्था को प्राप्त हो गया तब जन्मसम्बन्धी कल्पित सम्बन्ध भी तो स्वयं समाप्त हो गए अतः शोक कैसा? ये कल्पित सम्बन्ध भी तो कुछ न कुछ स्वार्थ को लेकर होते हैं। जिन-जिन का स्वार्थ एक साथ बँधा है वे परस्पर सम्बन्धी कहलाते हैं। माता-पिता का स्नेह कब तक हृदय में बसता है जब तक उनसे अपना प्रतिपालन होता है। जब पुत्र समर्थ हो जाता है तब पत्नी का दास हो जाता है और माता-पिता का धन ले लेता है। उन्हें केवल दो रोटी का मुहताज बना देता है। पत्नी का स्नेह कबतक रहता है जब तक विषयवासना सधती है। यदि वह न सधे तो परस्पर कलह होने लगती है। भाई-भाई का प्रेम कबतक है जब तक धन का बाँट नहीं है, उसके बाद पड़ोसी जैसा व्यवहार रह जाता है। इत्यादि संसार और सगे सम्बन्धियों का यथार्थ रूप देखकर और विचार कर मोह का त्याग करे। हाहाकार न करे। किन्तु अपने कर्त्तव्य का पालन करे। अपने मृत सम्बन्धी के पुत्र, पुत्री, अबोध हों तो उनका पालन करे। उसकी सम्पत्ति की निःस्वार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुचित व्यवस्था करे। उसके कुटुंब की व्यवस्था करे। यह सब कर्त्तव्य की दृष्टि से करना चाहिए। रोग-शोग आदि को छोड़ कर्तव्य पालन करना ही सच्ची मानवता है।१५२।

प्रश्नः— किं सूतकविधेश्चिह्नं वर्तते मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! सूतक क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसका पालन करने का क्या श्रम है, कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

मरणे सूतकं प्रोक्तं बन्धोर्मातुः पितुः कृते ।
द्वादशाहप्रमाणमन्येषां हीनं यथाक्रमम् ।।१५३।।
जन्मन्यपि तथा प्राहुर्दशदिनप्रमाणकम् ।
स्ववंशिनां तथान्येषां हीनं ज्ञेयं यथाक्रमम्।।१५४।।

मरण इत्यादिः— स्ववंशजस्य बन्धोर्मातुः पितुश्च मरणे सति द्वादशदिनप्रमाणं सूतकं भवति। एवं द्वादशदिनप्रमाणं सूतकं प्रपितामहपर्यन्तमेव। तदनन्तरं वंशस्य परम्परायां यथाक्रमं हीनदिनप्रमाणं सूतकं ज्ञेयम् । एवमेव बालकस्य जन्मनोऽपि सूतकं भवति किन्तु तद् दशदिवसपर्यन्तमेव। सूतकमिदं पुत्रस्य पौत्रस्य प्रपौत्रस्य च भवति। तदनन्तरं वंशपरम्परायां यथाक्रमं हीनं ज्ञेयम् ।१५३/१५४।

अशुद्धि का नाम अशौच है। जिससे यहाँ किसी का मरण हो तो उस मृत शरीर के निमित्त से उसके गृह में अपवित्रता का वास हो जाता है और वह अपवित्रता केवल स्नान तथा वस्त्र धोने से नहीं मिटती, बल्कि यथाकाल दूर होती है। आठ प्रकार की लौकिक शुद्धियों में कालशुद्धि को भी श्री अकलंक देव ने स्थान दिया है। इस अशौच की शुद्धि काल से ही होती है। यह अशौच बालक के जन्म निमित्त से भी होता है।

मृतक के अग्निदाह में असंख्य प्राणियों की हिंसा होती है। मृतशरीर अन्तर्मुहूर्त के बाद ही अनन्त जीवों की उत्पत्ति का स्थान हो जाता है। उन जीवों की हिंसा श्रावक के लिए अग्नि संस्कार में अनिवार्य होती है इसलिए भी उसे इस निमित्त से अशौच प्राप्त होता है। इसी प्रकार जन्म के समय बालक के साथ जो माता के उदर से जर आदि निकलती है वह भी अनन्त जीवों की उत्पत्ति का स्थान है उसे भी भूमि आदि में गड़वाकर नष्ट करना पड़ता है जिसमें उन प्राणियों की हिंसा बच नहीं सकती। इस पाप के कारण उस समय भी अशौच प्राप्त होता है।

मृतक के वस्त्रादि के सम्बन्ध का तथा परम्परा सम्बन्ध का विछिन्न होना तत्काल सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्रसूता के अपवित्र वस्त्रों का सम्बन्ध तथा जन्मे हुए बालक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का संबंध से छूटना शक्य नहीं है। वहीं कहीं किसी-किसी देश में इनका बहुत सावधानी से परहेज रखा जाता है पर यह सर्वत्र नहीं होता और न संभव ही है। मरण समय शोकातुरता के कारण और पुत्रोत्पत्ति के समय हर्षातिरेक के कारण परहेज कम होता है अतः यह अपवित्रता भी बिना काल शुद्धि के दूर नहीं होती भले ही उसके पूर्व घर की स्वच्छता तथा वस्त्रों की स्वच्छता कर ली गई हो।

शोकातिरेक और हर्षातिरेक दोनों में रागद्वेष की प्रबलता मन में उत्पन्न हो जाती है। रागद्वेष का अतिरेक भी एक महान् अशौच है। तात्कालिक मरण और जन्म की घटनाओं से वह अशौच शीघ्र नष्ट नहीं होता। उसे शान्त होने में कुछ काल लगता है उसे ही कालशुद्धि या सूतक शुद्धि कहते हैं। जिनके यह रागद्वेष का अतिरेक हो उनको मन्दिर आदि पवित्र स्थानों में जाना तथा पूजनादि धार्मिक क्रियाएँ करना वर्जित है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसे समय धार्मिक कार्यों को वर्जन कर और भी अनर्थ किया जाता है। धर्मकार्य के लिए यह रुकावट कैसी? धर्म से तो अशुद्ध व्यक्ति भी शुद्ध बन जाता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो धर्मस्थानों में धर्मलाभार्थ जाता है उसका सम्बन्ध उस तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उसके निमित्त से अनेक दर्शनार्थी, पूजार्थी, स्वाध्यायार्थी भाइयों से भी उसका सम्बन्ध है जो कि उक्त लाभ के लिए जिन मन्दिरों में जाते हैं। उक्त अशौच के समय सम्बन्धित व्यक्ति मन्दिर में जाकर भी अपने को नहीं सम्हाल पाता बल्कि अपने शोक के कारण अन्य उपस्थित व्यक्तियों को भी शोकाविष्ट बना देता है। तद्वत् हर्षातिरेक वाला मन्दिर में स्थित प्रत्येक साधर्मी के सामने अपने हर्ष की चर्चा कर बैठता है। इन दोनों कार्यों से दर्शनार्थी और पूजनार्थी भाइयों का समय भी व्यर्थ जाता है, वे भी उसके शोक या हर्ष के प्रवाह में बह जाते हैं। अतः सूतक के दिनों में अशौच मान कर समष्टिगत धार्मिक कार्यों से दूर रहकर व्यक्तिगत सामायिकादि स्तुति व पाठादि धार्मिक कार्यों के द्वारा धर्म का साधन करना चाहिए।

मृत रोगी की बीमारी भी यदि कोई छुआछूत की हो या राजरोग हो तो उसके सम्पर्क में रहनेवाले वस्त्रादि की तथा सम्बन्धित व्यक्तियों की शुद्धि जब तक न हो जाय तब तक सम्पर्क रखने से बीमारी के फैलने या बढ़ने का शक बना रहता है, अतः लौकिक लाभ की दृष्टि से भी सूतक विधि को मानना लाभदायक है। मरण का सूतक वंश की तीन पीढ़ी तक अथवा खुद की पीढ़ी जोड़कर चार पीढ़ी तक के लोगों को १२ दिन का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगता है तथा जन्मसम्बन्धी सूतक दश दिन प्रमाण लगता है। इसके बाद भी पीढ़ियों में क्रम क्रम से दोनों सूतक हीन होते जाते हैं। इन दिनों में श्रावक को अशौच सम्बन्धी सभी नियमों का नियमित पालन करना चाहिए। अन्यथा अनेक प्रकार की हानि होना सम्भव है।१५३।१५४।

प्रश्नः— वद सूतकचिह्नं किं वा तत्प्रयोजनं गुरो।

हे गुरुदेव! सूतक का चिह्न क्या है तथा सूतक मानने का प्रयोजन क्या है, कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

मृतस्य देहसंसर्गात् वस्त्रपात्रगृहादिकम् ।
स्याद् दुर्गन्धमयं हेयं तच्छुद्ध्यै सूतकस्य वा ।।१५५।।
कौ मिथो मोहनाशाय तदेव क्रियते विधिः ।
नृणां वृत्तिः पशोर्भिन्ना बोधार्थमिति धार्मिकैः ।।१५६।। युग्मम्।।

मृतस्येत्यादिः— मृतप्राणिनः देहः स्वयं रोगाणां मन्दिरमस्ति। तथा मरणानन्तरं तु शरीरं तत्कालत एव गलति तथा जीवराशयस्तत्र समुत्पद्यन्ते। अतः दुर्गन्धमयमपि भवति। तत्संपर्कात् वस्त्रादिकं पात्रादिकं गृहादिकञ्च दुर्गन्धमयं भवति। तत् शुद्ध्यर्थं सूतकं क्रियते तथा मिथः परस्परं या मोहस्य परम्पराऽस्ति यया स जीवः विकलीक्रियते तन्नाशाय कालस्यापेक्षा वर्तत अतः सूतकस्य विधिः क्रियते। नराणां वृत्तिः पशुतो भिन्ना एव इति परिज्ञानार्थं धार्मिकैः सूतकस्य विधिः क्रियते।१५५।१५६।

मृत मनुष्यों का शरीर एक तो स्वयं रोगों का मन्दिर है अतः वैसे ही अपवित्र रहता है। उससे सम्बन्धित वस्त्र, पात्र और गृहादिक भी गलित शरीर की दुर्गंधि के समान दुर्गन्धमय रोगकारक बन जाते है, अतः उस अशौच से बचने के लिए सूतक विधि के नियमों का पालन आवश्यक है। गलित शरीर में असंख्य जीवराशि उत्पन्न होती है, उनका विनाश भी रुक नहीं सकता। इसलिए तथा परस्पर में जो मोह का अतिरेक है उसे दूर करने के लिए भी काल अपेक्षित है। अतः जन्म-मरण का अशौच उक्त काल की मर्यादा के भीतर बताया गया है।

मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति विवेकपूर्ण है पशुओं की तरह अविवेक पूर्ण नहीं है इस बात का बोध भी इन आवश्यक नियमों से ही मालूम पड़ता है, अतः इनका पालना आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग इन शास्त्रोक्त लाभदायक नियमों का पालन नहीं करते वे शारीरिक और धार्मिक हानि को उठाते हैं अतः पूर्वज आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सूतक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पातक की विधिका यथायोग्य पालन करना ही श्रेयस्कर है। जन्म सम्बन्धी अशौच को सूतक तथा मरण सम्बन्धी अशौच को पातक कहते हैं। लोक में दोनों को सूतक शब्द से व्यवहार करते हैं अतः यहाँ दोनों को सूतक शब्द लिखा गया है। १५५।१५६।

प्रश्नः— श्रीदं न गृह्णाति यथार्थधर्मं स कीदृशो मे वद विश्वशान्त्यै।

हे गुरो! कल्याणकारक धर्म को जो नहीं धारण करता वह मनुष्य कैसा है? विश्वशान्ति के लिए उसका स्वरूप बताइये—

(अनुष्टुप्)

करोति केवलं कौ यो धर्मं रूढ़िवशात्सदा ।
न जानाति गुणान् दोषान् धर्मस्यापि स्वबुद्धितः ।।१५७।।
नेत्रवानपि चान्धः स बुधोऽपि मूर्ख एव सः ।
स कलहप्रियो मन्ये स्वर्मोक्षसौख्यदूरगः ।।१५८।।युग्मम्।।

करोतीत्यादिः— यः मूर्खः धर्मस्य स्वरूपं न जानाति अथवा जानन्नपि तस्य विश्वकल्याणकारकस्य धर्मस्य स्वबुद्धितः श्रद्धानं न करोति। अधर्मस्य दोषानपि यो न वेत्ति। तथा च केवलं वंशपरम्परागतत्वात् लौकिकरूढ़िवशादेव धर्मं पालयति न वेत्ति तत्स्वरूपं स कलहप्रियः स्वर्गसुखतस्तथा मोक्षसुखतोऽपि अत्यन्तं दूरे एव इति अहं मन्ये।१५७/१५८।

धर्म और अधर्म के स्वरूप को और उसके गुण दोषों को विचार कर जो अधर्म का त्याग कर धर्म का पालन करता है वह मनुष्य बुद्धिमान् है। किन्तु जो धर्माधर्म के स्वरूप को नहीं जानता अथवा जानकर भी स्वयं की बुद्धि से विवेक को प्राप्त न होकर केवल रूढ़ि के वश यह समझकर धर्म का पालन करता है कि यह तो मेरा वंश परम्परागत धर्म है अतः पालना चाहिए, वह मनुष्य धर्मात्मा नहीं है। वह केवल पर्यायबुद्धिवाला है। जैसे वह जैन कुल में उत्पन्न होने से जैन धर्म को कुलधर्म मानता है इसी प्रकार विधर्मियों के कुल में उत्पन्न होने पर वह उसे भी कुलधर्म मानकर पालन करता है। जिस पर्याय में जीव जाता है उसे ही अपनी करके मान लेता है, इसमें विवेक का कार्य कहाँ है। जो विवेक से जैनधर्म को आत्मधर्म मानकर पालन करेगा उसका ही कल्याण होगा।

जो धर्म के स्वरूप को जानकर भी उसे लौकिक रूढ़ि मात्र से पालता है, आचार्य कहते हैं वह नेत्रवान् होते हुए भी अंधे के ही समान है। वह केवल कलहप्रिय है, धर्मप्रिय नहीं। वह धर्म के सुन्दर फल स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग से बहुत दूर है ऐसा हम मानते हैं। अतः विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ भी कार्य करे उसे विवेक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की कसौटी पर कस लेवे और हितकर सिद्ध होने पर उसे आचरण में लावे। अविवेकी मनुष्य ठगाया जाता है वह हित मार्ग के स्थान में रूढ़ि या परम्परा को ही धर्म मानकर कभी-कभी अधर्म या अहित के मार्ग को ही हितकर मान बैठता है। अतः विवेकपूर्ण क्रिया ही श्रेयस्कर है।१५७।१५८।

प्रश्नः—कीदृक् तर्हि गुरो ग्राह्यो धर्मो मे सिद्धये वद।

हे गुरुदेव! मुझे अपने कल्याण की सिद्धि के लिए कैसा धर्म ग्रहण करना चाहिए, कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

को वीतराग एवास्ति सद्धर्मो विश्वरक्षकः ।
सोऽपि तत्रैव विज्ञेयो यत्रेर्ष्याद्या न दुःखदाः ।।१५९।।

कावित्यादिः— यत्र दुःखदा ईर्ष्याद्याः क्रोधादय आत्मविकाराः न स्युः स एव धर्मः। स एव विश्वरक्षकः ईर्ष्याद्या एव परस्परं संघर्षमुत्पादयन्ति। संघर्षत एव अशान्तिर्भवति। अशान्तिस्तु विश्वनाशिका। तस्मात् कारणात् विश्वकल्याणार्थं तु अशान्तेर्मूलकारणानां पारस्परिकस्वार्थसंघर्षाणां तदुत्पादकानामीर्ष्यादीनामात्मविकाराणां परिहारः कर्तव्यः। स एव वीतरागधर्मः। तेनैव धर्मेण जगति सुखस्य शान्तेश्च समृद्धिर्भवति। अतः स एव धर्मः ग्राह्यः।१५९।

धर्म शब्द का अर्थ अपना कर्त्तव्य है। जब कि यह परीक्षित, स्वानुभूत तथा सुनिश्चित है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख और शान्ति को पसन्द करता है, वह दुःखमय तथा अशान्तिमय जीवन नहीं चाहता, तब यह भी सुनिश्चित है कि जिस मार्ग से उसे सुख और शान्ति प्राप्त हो वही उसका कर्तव्य है और वही कर्तव्य उसका धर्म है।

संसारी प्रत्येक आत्मा में कुछ गुण भी हैं और कुछ दोष भी। गुण आत्मा का स्वभाव है, और दोष आत्मा के गुणों का विकार है। आत्मा जितना अपने स्वभाव रूप को प्राप्त करेगा उतना ही अपने धर्म के निकट आयगा और जितना विभाव रूप परिणत होगा उतना ही आत्मधर्म से दूर होगा। ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, आदि आत्मा के विकारी भाव हैं। इनके होनेपर आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता की पर से भिन्नता का भान नहीं करता। उसकी दृष्टि परपदार्थ पर रहती है। उसकी प्राप्ति में लाभ और अप्राप्ति में अलाभ मानता है। ये परपदार्थ संघर्ष के कारण हो जाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए अनेक मिथ्यात्वी मोही प्राणी सदा लालायित रहते हैं और उसके लिए लड़ाई झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर आदि किन्हीं भी दुर्गुणों से नहीं डरते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्मल दृष्टि होने से सदा आत्मगुणों की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं। वे अपने विकृत भावों का विश्लेषण करते हैं और उनसे दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। पर पदार्थों को वे "पर" मानकर उनके लिए कभी किसी से संघर्ष नहीं करते। उन्हें आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता में—उसकी अमरता पर विश्वास है, अतः आत्मा के मिथ्या तोष के लिए पर पदार्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न बिल्कुल नहीं होता। वे पर से राग द्वेष मुक्त होकर वीतराग स्वरूप परम धर्म को ही पालन करते हैं। विश्वशान्ति का यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है अन्य नहीं, अतः धर्म का स्वरूप जानकर उसे ग्रहण करना चाहिए।१५९।

प्रश्नः—के वीतरागधर्मस्य रक्षकाः स्युर्गुरो वद।

हे गुरुदेव! वीतराग धर्म तो उपेक्षकों का धर्म सिद्ध हुआ, उसकी रक्षा कौन करता है? गुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

श्रीवीतरागधर्मस्य स्वर्मोक्षसुखदायिनः ।
कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषाः सन्ति रक्षकाः ।।१६०।।
नीतिज्ञा निर्मदाः स्वस्था वाभवन्विश्वनायकाः ।
तदनुकरणं कार्यं ज्ञात्वा शान्त्यै विचक्षणैः ।।१६१।।
श्रीवीतरागधर्मस्य यतः स्यात्सर्वभूतले ।
प्रचारः कार्यरूपेण स्वात्मचर्या गृहे-गृहे ।।१६२।।
विशेषकम् ।।

श्रीवीतरागेत्यादिः— वीतरागधर्म एव मोक्षप्रदायकः स पूर्व स्वर्गादिसुखप्रदायकोऽस्ति। तद्धर्मप्रतिपालकाः तद्वृद्धिकारकास्तत्प्रचारकाश्च त्रिषष्टिसंख्याकाः शलाकापुरुषाः भवन्ति। चतुर्विंशतिः तीर्थंकराः द्वादश चक्रवर्तिनः नव नारायणाः नव प्रतिनारायणा नव बलभद्राश्चेति प्रमुखाः श्रेष्ठपुरुषाः शलाकापुरुषाः कथ्यन्ते। तीर्थंकराः किल प्रथममेव स्वतपोबलेन ज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयं हत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य जगति तत्त्वदेशनाङ्कुर्वन्ति। जगद्धितैषिणस्ते विश्वनायकाः रागद्वेषमदाद्यष्टादश-दोषविरहिताः अनात्मार्थमेव विश्वशान्त्यै धर्मोपदेशं कुर्वन्ति। भूपतयः चक्रवर्तिनस्तु तद्धर्मं पालयन्ति प्रजाजनेषु तदानुकूल्येनैव व्यवस्थाङ्कुर्वन्ति यतः स्यात् सर्वत्र शान्तिः। तद्वत् स्वस्वसमये प्रतिनारायणाः समुत्पद्यन्ते तेऽपि यथायोग्यं धर्ममनुपालयन्ति। त्रिखंडभूपतयस्ते आर्यखण्डे म्लेक्षखण्डद्वये च विद्यामानान् नृपतीन् साधयन्ति तान् विनिहत्य नारायणाः किल खण्डत्रयस्याधिपतयो भवन्ति। तद्भ्रातरस्तु बलभद्राः निर्मदाः नीतिसञ्चालका भवन्ति। यदाज्ञां उल्लङ्घयितुमसमर्था एव भवन्ति नारायणाः। अत्यन्तं स्नेहो भवति परस्परं उभयोरपि। इति नारायणाः बलभद्राश्च सद्धर्ममनुपालयन्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथा किल एतैर्महापुरुषैः धर्मं अराधितः यथा च प्रसारितः यथा वर्धितः यथा लोके स्थिरीकृतस्तत्प्रसादाच्च साक्षात्परम्परया वा स्वात्मसुखमासादितं तथैव तेषामनुकरणं सर्वैरपि कार्यम् । एवं कृते सति जगति संघर्षाभावे सति सुखदायिनी शान्तिर्भविष्यति। सर्वप्रकारेण सुखसमृद्धिकारकस्य श्रीवीतरागस्वरूपस्य वीतरागप्रणीतस्य वा सद्धर्मस्य कार्यरूपेण सर्वत्र भूतले प्रचारः कर्त्तव्यः यतः सर्वत्र गृहे-गृहे स्वात्मचर्या एव स्यात् । स च सम्यक स्वार्थः। ग्राह्यस्तु स विश्वकल्याणकारकः। धनादिना खलु यः स्वार्थः साध्यते स विश्वघातक एव। तन्नाश एव सम्यक्स्वार्थः। तत्साधनङ्कर्तव्यमेव। तेनैव लोकहितम्भवति इति ज्ञातव्यम् ।१६०।१६१।१६२।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यां च चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

भगवान् वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित रागादि दोषरहित स्वात्मधर्म स्वरूप सद्धर्म ही आत्मा को संसार के बंधन से मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है। वही सद्धर्म यदि पूर्णमात्रा में न हो सका और मुक्ति प्राप्त न हुई तो संसार अवस्था में भी उसके प्रसाद से नरकादि दुखों का विनाश होकर स्वर्गादि में सुखों की प्राप्ति होती है। इस सद्धर्म के प्रमुख उपासक और निर्देशक तो भगवान् तीर्थंकर देव हैं जो प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में २४ होते हैं। वे अपने तपोबल से घातिया कर्म ज्ञानावरणादि को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर, जगतके हित के लिए ही तत्त्वोपदेश करते हैं। उन तीर्थकरों के काल में मध्यमध्य में (१२) चक्रवर्ती होते हैं, जो षट्खण्ड भूमि के साधक होते हैं। समस्त भरत क्षेत्र के ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में नमस्कार करते हैं उन चक्रवर्तियों द्वारा धर्म का पालन होता है। वे धर्मानुकूल विश्वशान्ति के लिए ही जगत् का शासन करते हैं तथा तीर्थकरों की तरह ही प्रायः तप करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

अपने-अपने समय में चक्रवर्ती की तरह तीन खण्ड भूमि के अधिपति ९ प्रतिनारायण होते हैं, ये भी यथायोग्य धर्म का पालन करते हैं तथा प्रजाजनों में धर्म की वृद्धि करते हैं। राज्य कारणों से इनका विनाश करनेवाले नारायण भी इनके ही समय में होते हैं। उनकी भी संख्या ९ है। इनके बड़े भाई बलभद्र कहलाते हैं। नारायण और बलभद्र में अत्यन्त गाढ़ स्नेह होता है। ये सब २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ प्रतिनारायण, ९ नारायण और ९ बलभद्र कुल ३६ नररत्न प्रमुख शलाका पुरुष हैं जिनके द्वारा धर्म की सदा रक्षा और वृद्धि होती आई है। जिसतरह उन्होंने सद्धर्म का अनुपालन, प्रवृत्ति, प्रचार और वृद्धि की है, ऐसी ही सबको करनी चाहिए। ऐसा होने पर ही जगत् में संघर्ष का अभाव होकर सुख और शान्ति की वृद्धि हो सकेगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर ही जगत् में संघर्ष का अभाव होकर सुख और शान्ति की वृद्धि हो सकेगी।

सारांश यह है कि प्रजाजनों में इतना ही नहीं विश्व के प्राणियों में सुखशान्ति की समृद्धि एकमात्र वीतराग धर्म से ही हो सकती है, अतः उसका कार्यरूप में पालन व प्रचार सबको करना चाहिये, जिससे घर-घर में आत्मचर्चा सुनाई देवे। यही सच्चा स्वार्थ है। यह स्वार्थ ग्राह्य है। धनादि के रूप में जो स्वार्थ है वह दुःस्वार्थ है। वह संघर्ष का कारण है। अशान्ति का मूल है। उसका त्याग ही सम्यक् स्वार्थ है, जो कि विश्व का कल्याणकारक है। उससे ही लोक का हित हो सकता है, अतः सदा उसका पालन व प्रचार करना श्रेयस्कर है।१६०।१६१।१६२।

इस प्रकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्या में चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रश्नः—द्वितीयप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! दार्शनिक श्रावक का स्वरूप ज्ञात किया। अब दूसरी प्रतिमा का स्वरूप कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतपूर्त्यर्थं त्रीणि गुणव्रतानि वा ।
चतुःशिक्षाव्रतान्येवं गृहीत्वा स्वात्मचिन्तनम् ।।१६३।।
कुर्वन्ति ये यथाशक्ति दयाधर्मप्रभावनाम् ।
द्वितीयप्रतिमायास्ते भवन्ति स्वामिनः सदा ।।१६४।।युग्मम्।।

पञ्चेत्यादिः— तृतीयाध्याये पञ्चपापानां स्वरूपं प्रतिपादितम् । तदेकदेशपरित्यागिनः खलु श्रावकाः भवन्ति। श्रावकस्य देशव्रतान्येवाणुव्रतानि। तद्गुणवृद्ध्यर्थं खलु दिग्विरतिदेशविरत्यनर्थदण्डत्यागरूपाणि गुणव्रतानि सन्ति। अणुव्रतानां महाव्रतत्वापादनाय अभ्यासरूपाणि किल चतुःशिक्षाव्रतानि धियन्ते। इत्यनेन प्रकारेण द्वादश संख्याप्रमाणं गृहिव्रतं गृहीत्वा ये स्वात्मचिन्तनं कुर्वन्ति ते स्वशक्त्यनुसारं अहिंसामहाधर्मस्यैव प्रभावनां कुर्वन्ति। त एव गृहिणः द्वितीयप्रतिमायाः स्वामिनो भवन्ति इति संक्षेपतः द्वितीयप्रतिमायाः स्वरूपमस्ति।१६३।१६४।

तीसरे अध्याय में पाँच पापों का स्वरूप निरूपण किया है। उन पापों का त्याग ही यथार्थ में व्रत है। यद्यपि पाँचों पापों का सम्पूर्ण त्याग गृहस्थ के नहीं होता, तथापि एकदेश रूप त्याग गृहस्थ अवश्य कर सकता है। श्रावक के इस एकदेश पाप परित्याग रूप व्रतों को ही अणुव्रत कहते हैं। इन अणुव्रतों से दोष न लगें और गुणों की वृद्धि हो इसके लिए तीन गुणव्रत अर्थात् दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डत्याग इनका पालन किया जाता है। इसी प्रकार से अणुव्रतों को महाव्रत बनाने के लिए उसके अभ्यासस्वरूप ही सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग ऐसे ४ व्रत शिक्षाव्रत के नाम से गृहस्थ के लिए बताए गए हैं। जो इन सम्पूर्ण व्रतों का निर्दोष निरतिचार पालन करते हैं तथा जो इस प्रकार पर पदार्थों के सम्पर्क से दूर रहकर स्वात्मचिंतवन की ओर सम्मुख होते हैं वे ही द्वितीय प्रतिमा के धारक हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सभी व्रत का पालन एकमात्र महान् परमधर्म अहिंसा व्रत के पालन के लिए ही किया जाता है। असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह ये चारों हिंसामूलक कार्य हैं। हिंसामूलक होने से ही इनकी पाप संज्ञा पड़ी है। रागादिपरिणामों के द्वारा आत्मस्वभाव का हनन ही हिंसा है। इस निमित्त से राग, द्वेष, क्रोध और लोभ इनको हिंसा का पर्यायवाची कहते हैं। इन दुर्गुणों के कारण ही असत्य भाषण चौर्य और कुशील आदि पाप होते हैं, अतः इनके त्यागरूप व्रतों से एक अहिंसा परमधर्म की ही प्रभावना होती है। ऐसा करनेवाले महानुभाव गृही ही द्वितीय प्रतिमा के आराधक हैं ऐसा जानना चाहिये।१६३।१६४।

प्रश्नः— अणुव्रतानि हि कानि सन्ति गुणव्रतानि वा।
वद शिक्षाव्रतानीति ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।।

हे गुरुदेव! अणुव्रत क्या हैं, कौन हैं तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रत कौन हैं? मै उनका यथार्थ स्वरूप जानने की इच्छा करता हूँ, कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

अहिंसा सत्यमस्तेयं परदारविवर्जनम्।
परिग्रहपरित्यागः ज्ञेयान्यणुव्रतानि हि ।।१।।
दिग्देशविरती चैवाऽनर्थदण्डव्रतं तथा।
गुणव्रतानि चैतानि गुणवृद्धेस्तु हेतुतः ।।२।।
सामायिकोपवासौ तु व्रतं भोगोपभोगयोः।
वैयावृत्यं च चत्वारि नित्यं शिक्षाव्रतानि तु ।।३।।
श्रावकाणां व्रतान्येतान्यथ विस्तारतस्तथा।
वक्ष्येऽहं क्रमतोऽग्रे हि सावधानतया शृणु ।।४।।

कलापकम्। क्षेपकम्।

अहिंसेत्यादिः— अहिंसाव्रतं सत्यव्रतं अस्तेयव्रतं परदारविवर्जनं स्वीकृतपरिग्रहस्य परिमाणञ्चेति पञ्चाणुव्रतानि भवन्ति। दिशासु गमनागमनविरतिरूपा दिग्विरतिः। तदन्तर्गतदेशेषु पुनरपि अल्पकालीना गमनागमनविरतिरूपा देशविरतिः। स्वीकृतेष्वपि विषयेषु यदनावश्यकं, तस्य परित्यागोऽनर्थदण्डविरतिः। एतानि त्रीणि गुणव्रतानि सन्ति। त्रिकाले समताभ्यासरूपं सामायिकव्रतं, पर्वणि प्रोषधोपवासः, स्वीकृतेष्वपि भोगोपभोगेषु यथावश्यकं परिहाररूपं भोगोपभोगपरिमाणं, वैयावृत्यञ्च इति चत्वारि शिक्षाव्रतानि सन्ति। एतानि द्वादशसंख्यकानि एकदेशविरतिरूपत्वात् श्रावकस्य व्रतानि सन्ति। एतेषां विस्तरतः स्वरूपं क्रमशोऽग्रे वक्ष्यते। तत् सावधानतया शृणु।१।२।३।४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परस्त्रीसेवात्याग और परिग्रह परिमाण ये पाँच व्रत अणुव्रत हैं। तथा दशों दिशाओं में गमनागमन परिमाणरूप दिग्व्रत, तथा उसी के भीतर अल्पकाल के लिए निश्चित देश का ग्रहण रूप देशविरति और स्वीकृत विषयों में अनावश्यक विषयों के त्याग रूप अनर्थ दण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं। प्रातः मध्याह्न और सायंकाल त्रिकाल में समता के अभ्यासरूप सामायिक, पर्व के दिनों में प्रोषधोपवास, स्वीकृत परिग्रह में से अनावश्यक भोग और उपभोगों का त्यागरूप भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा धर्मात्माओं की सेवारूप वैयावृत्यव्रत ये चार शिक्षा व्रत हैं। ये सब मिलाकर श्रावकों के १२ व्रत हैं— इनका विस्तार से वर्णन आगे ग्रंथकार करेंगे, उन्हें दत्तचित्त होकर सुनो।१।२।३।४।

प्रश्नः—अहिंसाव्रतचिह्नं किं केऽतिचारा गुरो वद।

हे गुरो! अहिंसा व्रत का क्या स्वरूप है और उसके दोष कौन हैं? कहिए—

(अनुष्टुप्)

जीवस्थानं गुणस्थानं मार्गणास्थानकं तथा ।
योन्यादि निश्चयाद् बुद्ध्वा त्रसजीवादिरक्षणम् ।।१६५।।
कार्यं नित्यं यथाशक्ति स्थावराणामपि तथा ।
अहिंसाणुव्रतं पूतं यतः स्याच्छांतिसौख्यदम् ।।१६६।।युग्मम्।।

जीवस्थानमित्यादिः— चतुर्दशसु जीवस्थानेषु चतुर्दशसु गुणस्थानेषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु च क्व-क्व जीवानामवस्थानम्भवति। क्वोत्पद्यन्ते त्रसजीवाः इत्येवंप्रकारेण जीवानां निवासस्थानं उत्पत्तिस्थानञ्च ज्ञात्वा त्रसजीवानां सर्वप्रकारेण रक्षणं यथायोग्यं स्थावरजीवानामपि रक्षणं कार्यम् । एतदेव गृहस्थानां शान्तिदं सौख्यदं पवित्रं अहिंसाव्रतं भवति।१६५।१६६।

मिथ्यादर्शन, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्तविरति, अप्रमत्तविरति, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतकषाय, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी ये चौदह गुणस्थान हैं। मोह और योग के तथा उसके क्रमशः क्षीण होने से ये गुणस्थान बनते हैं। इन विभिन्न परिणाम वाले जीव गुणस्थानों में पाए जानेवाले जीव हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और इनके ही अपर्याप्त के भेद से चौदह प्रकार के जीवसमासों में भी जीव व्यवस्थित हैं। चारों गति, पाँचों इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहारक ये १४ मार्गणा हैं। इनके भेद प्रभेदों में भी जीवों की स्थिति है।

उक्त प्रकार जीवों की व्यवस्था जानकर तथा कहाँ-कहाँ किन जीवों की उत्पत्ति होती है इसे भी आगम से ज्ञात कर जो जीव यथाशक्ति स्थावरों की प्रतिसमय रक्षा करते हुए त्रसहिंसा को संकल्प से नहीं करता वह जीवन में शान्ति और सुख प्रदान करनेवाले पवित्र अहिंसाव्रत का पालन करनेवाला है। १६५।१६६।

अथाहिंसाव्रतातिचाराः

(वसन्ततिलका)

आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्यं
बन्धो वधश्च गुरुभारकरोपणादि ।
छेदो न धर्मरसिकैर्विषयादिवृद्ध्यै
कार्यः सदा भुवि यतः स्वपदे निवासः।।१६७।।

आहारेत्यादिः— आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्यं स्वाधीनानां नरतिरश्चामाहारपानपरिरोधनं समयमुल्लंघ्य भोजनादिदानं अहिंसाव्रतस्य अतिचारः स्यात् । तेषां प्राणपीडाकारकत्वात् तत्कार्यं निन्द्यमेव। बन्धो रज्ज्वादिना-शृंखलया-वचनेन-यंत्रमंत्रादिना-अन्येन केनापि प्रकारेण वा नियतस्थाने नियमितं बन्धनकरणं द्वितीयोऽतिचारः। वधः कषायावेशतः प्राणिनां वेत्रादिभिः ताडनं तृतीयोऽतिचारोऽस्ति। गुरुभारकरोपणादि न्यायातिक्रमेण तत्सामर्थ्यादधिकभारस्य तदुपरि रोपणं सेवकादिभिरपि निरवच्छिन्नरूपेण रात्रिदिवं सेवाग्रहणादिकमपि अतिभारारोपणं नाम अहिंसाव्रतस्य चतुर्थोऽतिचारः स्यात् । तेषां कर्णनासिकादिच्छेदनेन स्ववशीकरणं पञ्चमोऽतिचारः स्यात् । सर्वाण्यपि उल्लिखितकार्याणि स्वविषयरागात् अन्यस्योपरि क्रोधाद्यावेशात् वा क्रियमाणानि तत्सम्बन्धप्राप्तानां नराणां स्त्रीणां बालानां तिरश्चां वा अतिदुःखाधायकानि भवन्ति अतस्तानि अहिंसाव्रताराधकस्य तद्व्रतस्य छिद्ररूपाण्येव।१६७।

अपने अधीन रहनेवाले पशु, पक्षी व मनुष्यादिकों को यथासमय भोजन व पान प्रदान करना अहिंसाव्रती के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। समय टाल करके उनको भोजन-पान देना उन्हें कष्ट पहुंचाना है जो कि उसके व्रत के लिए अनुचित है। तथापि यदि कोई व्रती इसका ध्यान न रखे प्रमाद से अथवा अपने कार्य की अधिकता से भूल जाय और समय का उल्लंघन कर उन्हें भोजन-पान दे तो वह अहिंसाव्रती के लिये अतिचार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने आर्थिक वैषयिक प्रयोजन के कारण मनुष्यों या पशुओं को अथवा मनोरंजन के लिए शुक, सारिका आदि को पिंजड़े आदि में अथवा रस्सी, सांकल, यंत्र, मंत्र द्वारा या केवल वचनों के द्वारा किसी नियत स्थान में रोककर रखना व यथेच्छ गमनागमन न करने देना यह परिरोधन नामक द्वितीय अतिचार है।

अपने वश में रखने के लिए यदि पशु पक्षी के लिए बाँधने की आवश्यकता अनुभव में आवे और वे सहज में बंधनादि तोड़कर भाग जा सकते हैं ऐसी आशंका हो तो लोग उनके नाक-कान छेद देते हैं और उनमें रस्सी डाल कर बांध देते हैं ताकि भागने की चेष्टा करने पर उनके उन मुलायम अंगों को पीड़ा हो और उस पीड़ा को न सह सकने के कारण वे बंधन तुड़ा कर न भाग सकें। यह छेदन नाम का तृतीय अतिचार है।

अपने उक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए मनुष्यों, पशुओं अथवा पक्षियों को वेत-दण्ड आदि के द्वारा मारना या ताड़ना देना वध नामक चतुर्थ अतिचार है।

अतिभारारोपण यह अहिंसा व्रत का पांचवाँ अतिचार है। भारवाही लोग बैलों पर, गाड़ियों में, घोड़ों पर, तांगा, टमटम आदि में, गधों पर तथा ऊँटों पर उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझ लाद कर उन्हें कष्ट देकर अपना अल्प प्रयोजन साधते हैं। यह अन्याय कार्य इस व्रत का पांचवाँ अतिचार है।

नगर में या ग्राम में समर्थ लोग अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नौकर रखते हैं, मुनीम रखते हैं अथवा क्लर्क रखते हैं। इन कार्यों की सेवा का भार उनपर इतना अधिक रख देते हैं कि जिसे वे वहन नहीं कर पाते या बड़े कष्ट से वहन कर पाते हैं। दिन में रात्रि में १० घण्टे, १२ घण्टे, १४ और १६ घण्टे भी काम लिया जाता है। दो आदमी के करने योग्य कार्य का भार एक ही आदमी से लिया जाता है। यह सब अतिभारारोपण अतिचार ही है।

इन सम्पूर्ण कामों को लोग अपने वैषयिक साधन के लिए अथवा आर्थिक प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर लोभ के आवेश में करते हैं कार्यों की साधना के लिए क्रोधादि कषायों का भी अवलंबन करते हैं। किन्तु ये सब हिंसा आपादक कार्य हैं। जब तक अहिंसाव्रती इन कार्यों को एक हद तक करता है और अपना व्रत भंग न हो जाय इसका ध्यान रखता है तबतक उक्त कार्य अतिचार है। किन्तु व्रतरक्षा की हार्दिक चिन्ता के अभाव में दुष्टता या तीव्र लोभवश किए गये ये कार्य अनाचार संज्ञा को भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इनसे बचना ही श्रेयस्कर है।१६७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः— सत्याणुव्रतचिह्नं किं तदतिचारकाश्च के।

हे गुरु! सत्याणुव्रत का क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन-कौन हैं? कहिए—

(अनुष्टुप्)

न रागादिवशं गत्वाऽसत्यवाक्यं कदापि कौ ।
स्वान्यतापकरं सत्यमपि प्राणहरं मिथः ।।१६८।।
बोधदं सुप्रियं वाक्यं सत्यं वाच्यं हितं मितम् ।
स्यात्सत्याणुव्रतं शुद्धं शान्तिदं सर्वभूतले ।।१६९।। युग्मम्।।

न रागादीत्यादिः— रागद्वेषलोभमोहाद्यावेशात् मिथ्यावचनं कदापि न वाच्यम्। यतस्तत्स्वस्यापि परस्यापि च सन्तापकरम्भवति। यद्यपि मिथ्यावचनेन तात्कालिकक्षणिकलाभः प्रतीयते किन्तु परिणामकाले तत् परहानिकरन्तु भवत्येव स्वस्यापि पश्चात्तापकरं भवति। अतएव कदापि भ्रमकारकं मिथ्यावचनं न वाच्यम्। अपि तु तदेव वाच्यं यत् सत्यं स्यात्। न केवलं सत्यं किन्तु प्रियमपि स्यात्। न केवलं सत्यं प्रियं वा अपि तु हितकारकमपि स्यात्। तत्स्वपरसन्तोषोत्पादकं वचनं स्वल्पशब्दैः परिमितैर्वाक्यैरेव वाच्यम्। अप्रियं अहितकारकं असन्तोषदायकं मौखर्य वचनं तु यथातथ्यप्रकाशकमपि न सम्यक्। अप्रशस्तवचनेष्वेव तदन्तर्भावात्तन्मिथ्यावचनमेव। न च वाच्यम् सत्याणुव्रतिना एवम्प्रकारकं वचनमिति। यत् किल वचनं स्वस्य अन्यस्यापि प्राणहरं स्यात् तत्सत्यमपि मिथ्या एव। नैतेन वचनेन स्वस्य परस्य वा कल्याणम्भवति। एवंप्रकारे प्रसङ्गे समुपस्थिते याथातथ्यप्रकाशने स्वस्य परस्य वाऽकीर्तिरपवादश्च प्राणहारकस्स्याद्यदि तर्हि संक्लेशपरिणामपूर्वकमरणेन नरकादिगमनमेव स्यात्। तेन दुर्भवपरम्परा जायते अतएव न वाच्यमेवम्प्रकारं वचनमिति। किन्तु सापराधेष्वपि तदपराधहारकं तत्र पश्चात्तापकारकं पुण्योत्पादकं व्रतशीलेषु उत्साहोत्पादकं वचनमेव वाच्यम्। तेनैव स्वपरकल्याणञ्जायते। एवम्प्रकारेण वचनप्रयोगः भूतले शान्तिदायको भवति। १६८।१६९।

श्रावक का दूसरा अणुव्रत सत्य है। जैनाचार्यों ने सत्य शब्द का अर्थ 'प्रशस्त वचन' किया है। जैसे का तैसा कहना सत्य है। मात्र इस व्याख्या को उन्होंने सत्य की सही व्याख्या नहीं माना। काणे मनुष्य को 'काणा' कहकर बुलाना या पुकारना यद्यपि जैसे को तैसा कहने से 'सत्य वचन' होना चाहिए पर जैनाचार्य उसे 'असत्य' वचन मानते हैं। कारण यह कि यह वचन पर को पीड़ाकारक है। वचन का प्रयोग कर्त्ता उसके अनादर भाव से तथा परिणाम दुःखी करने या चिढ़ाने के अभिप्राय से वैसा बोलता है अतः ऐसा वचन दुर्वचन होने से अप्रशस्त है— निंद्य है और इसी कारण से वह असत्य है। सत्यव्रती ऐसा वचन नहीं बोलता। यह बात पहिले भी कही गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो वचन स्वपर हितकारक हों, सुनने में प्रिय मालूम हों, थोड़े शब्दों में कहे गए हों इस प्रकार इन तीन विशेषणों से सहित होते हुए जो यथार्थ वस्तु के परिचायक हों वे सत्य या प्रशस्त वचन हैं ऐसा जैनाचार्यों का अभिमत है। जो वचन मिथ्या हों, स्वपरहितकारक न होकर हानिकारक हों, भ्रमोत्पादक हों, संशय उत्पन्न करनेवाले हों, कषायोत्पादक हों, मिथ्यामार्ग के पोषक और प्रेरक हों, सदाचार के विरोधक हों, धर्म मार्ग के विपरीत हों, किसी के प्राणहर्त्ता हों, समाज में संक्लेश और क्षोभ को उत्पन्न करनेवाले हों, लोक, समजा व देश के हितनाशक हों वे सब वचन तथा वचन प्रतिपादक चेष्टाएँ "असत्य" हैं। सत्याणुव्रती ऐसे वचनों को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, क्रोध व अभिमान आदि के वशीभूत होकर कभी नहीं बोलता। वह ऐसे वचनों को ही सत्य मानकर उनका प्रयोग करता है जो सुननेवाले के तथा बोलनेवाले के प्राणहर्त्ता न हों, अकल्याण कर्त्ता न हों, अधर्म व असदाचार में लेजानेवाले न हों, सुनने में कर्ण को प्रिय लगें, हृदय को प्रिय लगें, जगत् में किसी के लिए भी अशान्तिदायक न हों और सम्यग्ज्ञान के उत्पादक हों।

उक्त गुणों से रहित किन्तु ऊपर कहे हुए असत्य के दोषों से सहित वचन यदि स्थिति को स्पष्ट करनेवाले भी हों तो भी वे संक्लेश, सन्ताप, हिंसा तथा पाप के उत्पादक होने के कारण 'असत्य वचन' हैं। उनका प्रयोग सत्याणुव्रती के लिए वर्जित हैं।१६८।१६९।।

अथ तदतिचारा:–

अब सत्याणुव्रत के अतिचारों का निरूपण करते हैं।

(उपजाति:)

मिथ्योपदेशो न रहस्यभेदो न कूटलेखो न च मन्त्रभेद:।
न्यासापहारश्च तथा न कार्यो व्रतस्य शुद्धिर्यदि वाञ्छनीया ।।१७०।।

मिथ्योपदेश इत्यादि:– मिथ्योपदेश: जिनवचनविरुद्धशास्त्रोपदेश:। रहस्यभेद: स्त्रीपुरुषाभ्यां अन्येन केनापि रहसि विहितस्याचारस्य प्रकाशनम्। कूटलेख: कपटभावेन द्व्यर्थप्रतिपादनपरं लेखनिर्माणम्। न्यासापहार: स्मृतिभ्रंशात् स्वकीयं न्यासमंशतो याचत: पुंसोऽपूर्णन्यासनिवर्तनम्। मन्त्रभेद: इङ्गितेनाकारेण द्वाभ्यां वा परस्य मनोभावं बुध्वा दुरभिप्रायेण सर्वेषां पुंसां पुरस्तात् प्रकाशनम्। एवं सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा: परिवर्जनीया यदि व्रतस्य शुद्धि: वांछनीया वर्तते। १७०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्याशास्त्रों का पठन-पाठन तथा उपदेश करना मिथ्योपदेश नामक प्रथम अतिचार है। प्रमाद के कारण यह सम्भव है। आर्थिक लाभ और आजीविका के निर्वाह के लिए जिन प्रतिपादित मार्ग के विरोधक असन्मार्ग के प्रतिपादक मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थों का पढ़ना, पढ़ाना या समाज में उनका प्रचार करना तथा यह समझना कि मैं केवल अपनी आजीविका के लिए इस मार्ग का अवलम्बन कर रहा हूँ, मेरी श्रद्धा तो जिन मार्ग पर ही है, सत्यव्रती के लिए व्रतभङ्ग कारक है।

यही कार्य यदि जिनमार्ग में अश्रद्धा तथा मिथ्यामार्ग में श्रद्धा होने के कारण किया जाय तो वह सम्यक्त्व का विघातक होने से अनन्त निगोद का कारक महान् असत्य है। उसके होने पर वह व्यक्ति महान् अव्रती तथा मिथ्यादृष्टि होगा। केवल मिथ्या को मिथ्या मानकर भी वह उसे सच्चा माननेवाले तत्संप्रदायके व्यक्तियों के लिए केवल स्वजीविका के लिए उपदेश करता है अथवा लिखता है, मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थों की टीकादि लिखकर आजीविका करता है तो ऐसा करनेवाला वह सदोषी व्रती है। व्रती को ऐसी आजीविका न करनी चाहिए। यह पहला अतिचार है।

दूसरा अतिचार है रहस्यभेद। अर्थात् कोई व्यक्ति अपना कार्य साधना चाहते हैं जो आप पर या अन्य किसी पर प्रकट नहीं किया जा सकता। तथापि उनकी चेष्टा से उनके अभिप्राय को समझ कर उसे जनता में प्रकट कर उन्हें नीचा दिखाना व उनको हानि पहुँचाना रहस्यभेद है। यह उसी दशा में अतिचार है जब कि हम उस अभिप्राय का भेदन केवल उनकी हानि के लिए करते या कौतुकवश करते हैं।

कूटलेख-किसी विषय को प्रतिपादन करने के लिए ऐसी शब्दावली या वाक्यावली का प्रयोग करना जिससे पढ़ने वाला सहसा उसके इस अभिप्राय को जो वह निज स्वार्थ वश निकालना चाहता है न समझ सके किन्तु दूसरा ही अर्थ समझे। रुपया पैसा आदि के व सुवर्ण भूमि आदि के सम्बन्ध में ऐसे स्टांप या अन्य प्रकार के कपटपूर्ण लेख लिखाना जिससे दूसरे प्रकार के निजस्वार्थसाधक भी अर्थ निकाले जा सकें ऐसे परवञ्चक शब्द पूर्ण लेख कूटलेख हैं। इन लेखों को लिखने या लिखाने वाला प्रतिवादी की सरलता का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। वह अवसर पड़ने पर अपने लेख का भिन्नार्थ उसे समझा कर उसे अपने स्वार्थ साधन के लिए मजबूर कर देता है। एक उदाहरण द्वारा यह विषय स्पष्ट हो जायगा-मान लीजिए कि एक मनुष्य एक ज्योतिषी के पास गया और यह बोला कि मेरी पुत्रवधू गर्भिणी है। उसके पुत्र होगा या पुत्री? यदि हमारे प्रश्न का सही समाधन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप देंगे तो मैं आपको १००) पारितोषिक दूँगा। ब्राह्मण यह समझ कर कि यदि मेरा कथन मिथ्या निकल गया तो १००) का नुकसान होगा, बोला हम लिखकर रख देते हैं, यथा समय आप इसे देखकर निर्णय कर मेरा पारितोषिक दे देना। प्रश्नकर्ता ने स्वीकार कर लिया। उसने लिखा "पुत्र होगा न पुत्री होगी।" ब्राह्मण का यह लेख कपटपूर्ण था। उसने इस शब्दावली का जानबूझकर प्रयोग किया यह समझ कर कि चाहे पुत्र हो या पुत्री हो या नपुसंक, इस वाक्य से तीनों अर्थ समय पर निकाले जा सकते है। अर्थात् यदि पुत्र हुआ तो पढ़ दूँगा—पुत्र होगा, न पुत्री होगी। यदि पुत्री हुई तो कहूँगा पुत्र होगा न, पुत्री होगी। यदि दैवात् नपुंसक ही हुआ तो सीधा अर्थ है कि न पुत्र होगा न पुत्री अर्थात् नपुंसक होगा। प्रत्येक प्रकार के अर्थ में पारितोषिक मैं ही पाऊँगा। जैसे यह एक उदाहरण है ऐसे स्वार्थ साधक अन्य प्रकार के कपटपूर्ण स्वार्थ साधक द्व्यर्थक लेख कूटलेख हैं। यद्यपि यह प्रयोग विश्वासघात कारक होने से अनाचार रूप भी कहा जा सकता है तथापि प्रयोगकर्त्ता इस प्रयोग को करते हुए भयभीत है कि मैं झूठा न समझा जाऊँ, मेरा व्रत भंग न हो, इसलिए स्पष्ट मिथ्या प्रवाद न करके गूढ़ शब्दावली का उपयोग करता है। इतनी व्रतचिन्तकता के कारण उसका सुधार संभव है अतः यह अतिचार में गिना है।

इसी प्रकार सत्याणुव्रत का 'मन्त्रभेद' चतुर्थ अतिचार है। किसी व्यक्ति की गुप्तवार्ता को, जिसे वह अन्य को नहीं बताना चाहता, बताने में अपनी हानि देखता है। उससे ज्ञातकर उसे हानि पहुँचाने के लिए अन्यत्र फैला देना चतुर्थ अतिचार है। उदाहरण जैसे यदि किसी व्यक्ति ने यह विचार किया कि अमुक स्थान पर एक लाभ का सौदा है पर अन्य व्यापारी जान लेंगे तो वह लाभ मुझे न हो सकेगा। इस अभिप्राय को रखकर प्रसंग से आप से वार्तालाप करते-करते उस बात को कह गया। साथ ही आप से यह भी प्रार्थना करली कि इसे गुप्त रखें। यदि आप उस वार्ता को गुप्त न रखकर किसी अन्य सम्बन्धित व्यापारियों को वह जाहिर कर पूर्वोक्त व्यक्ति को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं तो आपका वह वचन प्रयोग सत्य होते हुए भी सत्य का दोष है। उसकी गणना अतिचार में होगी। यदि किसी चोर या डाकू का अभिप्राय किसी को लूट लेने का हो, किसी की इज्जत खराब करने का हो, व्यभिचार का हो, स्वयं फाँसी लगाने का हो, प्रकारान्तर से मरण का हो तब उसकी चेष्टा से अभिप्राय जानकर सम्बन्धित व्यक्ति को सचेत कर देना सत्य का अतिचार नहीं है, क्योंकि यह कार्य दूसरे को हानि से बचाने का है न कि नुकसान पहुँचाने का।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यासापहार— अर्थात् किसी की धरोहर के कुछ अंश को भूल से पचा लेने के अभिप्राय को रखते हुए सफाई के सद्वचन कहना। जैसे कोई व्यक्ति आप के पास २००) रुपया अमानत रखकर चला गया। दो साल बाद वापस आने पर वह विस्मृत हो गया कि हमने इनके पास दो सौ रखे थे। उसने आकर कहा कि भाई हमारी अमानत आपके पास १००) रखी है, दे दो। उत्तर में रखने वाला सत्यव्रती यह बोला कि जो आपका रखा हो, अवश्य ले लें। उसका यह उत्तर यद्यपि सद्वचन रूप है परन्तु अन्तरंग में वह जानता है कि मेरे पास २००) हैं। यह भूल से १००) माँगता है सो यदि भूल जाय तो १००) का लाभ ही रहेगा। पर हम तो मिथ्या नहीं बोलते। हमने तो उसे सत्य ही कहा कि जो आपका हो ले लें। यदि वह २००) माँगता तो हम २००) अवश्य दे देते। उसने अपनी गलती से कम माँगा तो हमपर कोई दोष नहीं। ऐसी गलत समझ से उसे चारी का तो दूषण लगेगा ही पर वचन बोलने की अपेक्षा यह न्यासापहार कारक वचन सुनने में सद्वचन होते हुए भी सत्य का दोष है।

इस प्रकार दुरभिप्रायपोषक सत्यवचन भी सत्याणुव्रती के व्रत की शुद्धि नहीं रखते। उसे सदभिप्राय रखते हुए ऐसे वचनों का प्रयोग करना चाहिए जिससे न व्रत अपवित्र हो और न आत्मशुद्धि का घात हो।।१७०।।

प्रश्नः— अचौर्याणुव्रतं किं स्यादतिचाराश्च तस्य के?

हे गुरो! अचौर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार क्या हैं, कृपया कहें—

(वसन्ततिलका)

ग्रामे पुरे वनपथे पतितं न दत्तम्
कौ स्थापितं परधनं यदि विस्मृतं वा।
तत्त्याग एव सुखदं व्रतमुत्तमं स्यात्
श्राद्धस्य धर्मरसिकस्य किलैकदेशम् ।।१७१।।

ग्राम इत्यादिः— ग्रामे-नगरे-वने-पथि-निवासस्थले-नदीतीरे- कौ पृथिव्यां-अन्यत्रापि वा क्वचित् परेण विसृष्टं विस्मृतं निक्षिप्तं स्थापितं धनादिकं कदापि न ग्राह्यम्। तच्चौर्यमेव महत्पापम्। तत्त्यागकरणमेव सुखदायकं स्यादचौर्यव्रतम् । धर्मपरिपालकस्य श्रावकस्य अचौर्यव्रतस्यैकदेशं तत् स्यात्किलाचौर्याणुव्रतम् ।।१७१।।

किसी भी स्थान विशेष में चाहे गाँव में हो अथवा नगर में या वन में, मार्ग में, धर्मशाला में, रेल में, मोटर में, नदीतीर में या अन्यत्रापि कहीं पर दूसरे के द्वारा भूले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए, रखे हुए, छोड़े हुए, स्थापित किए हुए या भूमि में गाड़े हुए उसके धन को ले लेना चौर्य पाप है। उसका त्याग ही उत्तम व्रत है। धर्मप्रेमी श्रावक को भी इस व्रत का एकदेश परिपालन करना चाहिए। उसे ही अचौर्याणुव्रत कहते हैं।।१७१।।

तदतिचाराः-

अब उस व्रत के अतिचार लिखते हैं-

(इन्द्रवज्रा)

चौरप्रयोगो लघु-दीर्घमाने चौरार्थवाञ्छा नृपनीतिभङ्गः ।
दुःखप्रदो न प्रतिरूपयोगः कार्यो यतः स्याद् भुवि सर्वशान्तिः ।।१७२।।

चौरप्रयोग इत्यादिः- अचौर्याणुव्रतधारिणा चौर्यपरित्यागे कृतेऽपि यदि स्वायत्तानां स्वसम्बन्धिनां पुरुषाणां चौर्यस्य कृते विविधप्रकारेण प्रयोगः क्रियते वा प्रतिपाद्यते तदा स चौरप्रयोगो नाम स्यादतिचारस्तद्व्रतस्य। व्यापारादिकार्येषु तुलादिमानस्य ग्रहणेऽधिकरप्रमाणं विक्रये तु हीनप्रमाणं वा लोभावेशात् क्रियते तदा लघुदीर्घमानकरणं नाम तदपि तद्व्रतस्य दूषणमेव। तृतीयप्रकारस्तु स्यादेवं यत् केनचित् चौर्येण धनमानीतम् । व्रतिना तु ज्ञातं यद्धनमेतत् चौर्येणैतेन समानीतमस्ति तथापि विचार्यते तेन यन्नाहं चौरः न मया प्रेरितः। स तु स्वकृतपापपरिणामानुसारेणैव चौर्यं कृतवान् । तस्मात् स एव तस्य पापस्य भागी। अहं तु मूल्यप्रदानेनैव व्यापारमार्गमनुसृत्यैव तद्द्रव्यं स्वीकरोमि इति न मे कश्चिद्दोषः। इत्यादिविचारजालेषु आत्मानं पाशयित्वा अल्पमूल्येन तद्धनं गृह्णाति अतएव तदपि चौरार्थवाञ्छानाम अचौर्यव्रतस्य दूषणमेव। यत्र राज्ये वासः स्यात् व्रतिनः तत्र राजकीयकरस्यापलापः। अथवा युद्धरते राज्ञि शासनकार्ये मन्दसरे तु सधिं दृष्ट्वा तया परिस्थित्यानुचितलाभग्रहणेच्छया नृपनीतिभङ्गः नाम चतुर्थोऽतिचारः स्यात् । व्यापारयोग्यवस्तुषु तत्प्रतिरूपवस्तूनाम्मेलनं बहुमूल्येषु अल्पमूल्यवस्तुमेलनेऽपि बहुमूल्यमेवैतत् इति सत्यापलापेन प्रकारान्तरेण छद्मना परधनापहरणं प्रतिरूपयोगः नाम व्रतस्य पञ्चमोऽतिचारः स्यात् । सर्वाण्यपि कार्याण्येतानि शान्तिभङ्गकारकानि सन्ति। अचौर्यव्रतधारिणः प्रकारान्तरेण चौर्यदूषणोत्पादकानि च सन्ति। ततस्तद्व्रतनैर्मल्याय परिहर्त्तव्यान्येतेऽतिचाराः।१७२।

अचौर्य व्रतधारी स्वकृत चोरी के अभाव में भी यदि दूसरों के द्वारा चोरी कराता है। उन्हें चोरी के उपाय बताता है तो वह चौर प्रयोग नामक अतिचार है। दूसरा अतिचार है लघु-दीर्घमानः अर्थात् व्यापार कार्य में जिन मापने तौलने की निर्णायक वस्तुओं का प्रयोग होता है उन्हें देने के समय के लिए हीन प्रमाण का रखना और खरीदने के लिए अधिक प्रमाण का रखना और इस पद्धति से प्रकारान्तर से पर का धनापहरण करना दूसरा अतिचार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा दोष यह है कि यदि हमें यह ज्ञात हो जाय कि यह द्रव्य अमुक व्यक्ति चोरी से लाया है और हम उसकी कमजोरी को जानकर उसका अनुचित लाभ उठाना चाहें। उसे डराकर धमकी देकर उसी माल को कम मूल्यपर उससे ले लें तो यह चोरी के द्रव्य की वांछा नामक तीसरा अतिचार होगा।

राज्य द्वारा बनाए हुए व्यापारों के नियमों को भङ्ग करना, राजकीय कर का छिपा कर न देना तथा बिक्री कर, नगर निगम कर और आयकर से मुक्ति पाने के लिए हिसाब गलत बनाना, छल करना तथा राज्य के युद्धरत होने पर, पर चक्र के द्वारा आक्रमण होने पर अथवा परचक्र के आक्रमण की आशंका होने पर यदि शासक शासन के कार्य में आन्तरिक व्यवस्था में ढीले पड़ जायँ तो उस संधि का दुरुपयोग करना, मनमाने भाव से सौदा बेचना और सामग्री का अतिसंग्रह कर उसे रोककर रख लेना, यह सब अपराध नृपनीति भङ्ग नामक अचौर्य व्रत का चतुर्थ दोष है।

पाँचवें प्रकार का दोष यह है कि बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की नकली चीजें मिलाकर बहुमूल्य के भाव में बेचना यह "प्रतिरूपक व्यवहार" नामक अतिचार है। इस प्रकार ये पाँचों अतिचार शान्ति के घातक हैं।

स्वोपार्जित न्यायवृत्ति से प्राप्त द्रव्य द्वारा अपना व स्वायत्त जनों का भरण-पोषण करना, अन्याय व अनीति से दूर रहना यह अचौर्य व्रत का तात्पर्य हैं। जब तक उक्त उद्देश्य को सामने रखकर कार्य किया जायगा तक तक कोई दोष व्रती को प्राप्त नहीं होता।

संसार में कषायोदय की विचित्रता है, अतः व्रती भी कभी-कभी अपनी व्रत भावना को भूल जाता है और चौर्य से दूर रहकर भी लोभावेश में कुछ ऐसे कार्य करने लगता है जिनमें साक्षात् चोरी तो नहीं होती पर प्रकारान्तर से उन कार्यों से परधनापहरण हो जाता है। दूसरे को मजबूर करना, उसके सामने कठिनतर स्थिति उत्पन्न कर देना, उसे ऐसी परिस्थिति में डाल देना कि जिससे बिना पैसा ठगाए उसका जीवन निर्वाह कठिन हो जाय तो यह सब कार्य अचौर्य व्रत के लिए लांछन स्वरूप है। परधनापहरण की वांछा के बिना ये कार्य नहीं होते। इस कारण ये अचौर्य व्रत के दूषण माने गए हैं। यद्यपि इन कार्यों में कपट-व्यवहार की प्रबलता है और कपट का पाप और भी अधिक है। तथापि यह कपट उसने इसलिए स्वीकार किया है कि मेरा व्रत बना रहे। यदि सीधे तरीके से परधनापहरण होता है तो चोरी का पाप होगा, अतः वह छल से अपने को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही ठगता है और व्यर्थ पाप का बन्धन करता है। अतः व्रती का कर्त्तव्य है कि मूल भावना की ओर सदा ध्यान रखकर व्रत का पालन करना चाहिए तब ही वह निर्दोष होता है, अन्यथा व्रत की आत्मा (असली रूप) नष्ट होकर निर्जीव (मृत) व्रत रह जाता है जिसका कुछ अर्थ नहीं होता। वह अनर्थ का ही हेतु हो जाता है।१७२।

स्वदारसन्तोषव्रत का स्वरूप

(उपजातिः)

विहाय यश्चान्यकलत्रमात्रं सुपुत्रहेतोः स्वकलत्र एव ।
करोति रात्रौ समयेन सङ्गं ब्रह्मव्रतं तस्य किलैकदेशम् ।।१७३।।

विहायेत्यादिः— मोहनीयस्योदयात् किल परसमागमेच्छोत्पद्यते। तथापि यो बुद्धिमान, योग्यसन्तानवृद्ध्यर्थं सधर्मिणः कन्यायाः धर्मसाक्षिकं पाणिग्रहणं करोति तत्रैव सन्तोषवृत्तिमाचरति स्वप्नेऽपि न परस्त्रीरभिवांछति स किल स्वदारसन्तोषव्रती। तस्य किल ब्रह्मचर्यव्रतस्यैकदेशः स्यादेव। अतः यः श्रावकोऽन्यकलत्रमात्रं विहाय स्वकलत्र एव सुपुत्रहेतोः रात्रौ समयेन योग्यवेलायां सङ्गं करोति तस्यैकदेशं ब्रह्मव्रतं भवति।।१७३।।

स्त्री के लिए पुरुष समागम की इच्छा और पुरुष के लिए स्त्री समागम की इच्छा अथवा स्वात्मभिन्न किसी भी पर पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा मात्र मोहनीय कर्म के उदय का दुष्परिणाम है। जो पुरुष विवेकी हैं वे कर्माधीन उक्त वृत्ति को स्वीकार करके भी उसमें श्रेष्ठ मार्ग का अवलम्बन करते हैं। वे अपनी कुलपरम्परा को चलाने के हेतु सधर्मा योग्य कन्या का धर्मसाक्षी से पाणिग्रह करते हैं और पञ्च देव और अग्नि की साक्षी से प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहीत स्वकलत्र में ही श्रेष्ठ सन्तान को जन्म देते हैं। स्वप्न में भी परस्त्रियों के प्रति गमन नहीं करते हैं। ऐसे सन्तोषी व्यक्ति ही स्वदारसन्तोषव्रती हैं। इसी प्रकार जो कन्याएँ अपने माता पिता आदि की अनुमति पूर्वक पञ्च देव तथा अग्नि की साक्षी से योग्य कुलीन वर का पाणिग्रहण कर उसे अपना पति स्वीकार करती हैं तथा अन्य पुरुषों की ओर स्वप्न में भी विकार भाव नहीं लाती वे शीलशिरोमणि उत्तम गृहिणी हैं।

जिनमें उक्त प्रकार से एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है वे शीलवान् स्त्री पुरुष ही उत्तम पात्र दिगम्बर जैन साधुओं के लिए दान देने के विशेष अधिकारी हैं जो दान कल्याण परम्परा का हेतु है।

कामवासना ही एकमात्र संसार की जड़ है। सम्पूर्ण पापों का मूल स्रोत यहाँ से ही प्रारम्भ होता है। कामवासना के कारण ही मनुष्य स्त्री परिग्रह को स्वीकार करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री परिग्रह से सन्तान वृद्धि होती है। उस सन्तान की अभिवृद्धि और परिपोषण के हेतु अति परिग्रह का सञ्चय होता है। परिग्रह सञ्चय के दुष्कर्म में ही पारस्परिक संघर्ष का अवसर आता है जिससे हिंसापाप का जन्म होता है। परिग्रह के लिए ही असत्यवादिता का अवलम्बन करता है। उसके लिए ही नीति अनीति का विवेक त्याग येन केन प्रकारेण पर धन का भी अवलम्बन कर चोरी का पाप करता है। इस प्रकार पाँचों पापों की जननी कामवासना है। यदि कामवासना शान्त हो जाय तो समस्त पापारम्भ समाप्त हो जाँय। पर वासना शान्त कैसे हो यह एक टेढ़ा प्रश्न है।

आचार्यों ने संसारी प्राणियों की इस कमजोरी को दूर करने का मार्ग भी प्रदर्शित किया है। वह मार्ग है स्वदारसन्तोषव्रत। जो विवेकी इसे स्वीकार कर लेते हैं वे न केवल काम-वासना को तिलाञ्जलि देते हैं, बल्कि पांचों इन्द्रियों के विषयों की वासनाओं पर भी नियन्त्रण रखते हैं। उनको कोई भी वासना अनैतिक मार्ग पर नहीं ले जा सकती। इस व्रत से मनुष्य, मनुष्य बनता है। उसकी आसुरी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। अनेक घोर दुष्कर्म जो परस्त्रीसेवियों से होते हैं उनसे वह बच जाता है।

परस्त्री और परपुरुषसेवी अनीति व अनाचार के जन्मदाता हैं। उनके उस महत्पाप का फल न केवल उन्हें बल्कि सम्बन्धित अनेकानेक प्राणियों को भोगना पड़ता है। गर्भस्राव, भ्रूणहत्यायें, बालहत्याएँ और अनाथ सन्तान की वृद्धि, इस अनैतिक वासना से ही होते हैं। मर्यादा रहित ये अविवेकी स्त्री-पुरुष कामवासना के शिकार सदा बने रहते हैं। ये अपनी माता, भगिनी व कन्या अथवा पिता, भाई और पुत्र को भी पवित्र दृष्टि से नहीं देख सकते। इनको देखकर भी उनको काम का विकार उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, वे दुर्वासना के कारण उनसे भी अनुचित सम्बन्ध करते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार पशु के समान अविवेकी नर-नारियों का न तो कोई भाई हो सकता है और न कोई भगिनी, न कोई माता हो सकती है और न कोई पुत्र। ये सब सम्बन्ध केवल स्वदार और स्वपतिसंतोष वाले पुरुष और स्त्रियों में ही संभावित होते हैं। इस प्रकार असदाचारी संसार के सम्पूर्ण सम्बन्धों को समाप्त कर अपने संसार को केवल वासनामय बना लेता है। वासनामय संसार का फल यदि कोई हो सकता है तो वह नरक निगोद ही हो सकता है। यदि इन्हें ही वह प्राप्त न हो तो और कौन से पाप इनसे बढ़कर हो सकते हैं जिनका प्रतिफल नरकादि हों।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनैतिक आचार वाले स्त्री-पुरुष मोक्षमार्ग के राही परम दिगम्बर जैन मुनियों को आहार आदि दान के विशेष अधिकारी नहीं माने गए। जिनके ब्रह्मचर्य का एकदेश व्रत है अर्थात् जो स्वदार संतोषी हैं अथवा जिन्हें पातिव्रत्य धर्म की अपेक्षा है वे ही स्त्री-पुरुष शास्त्रों में मुनिदान के विशेष अधिकारी माने गए हैं, अतः सबसे बड़ी हानि असदाचारियों को यह उठानी पड़ती है कि वे धर्म के आयतनों से भी वञ्चित हो धर्ममार्ग से पराङ्मुख होकर संसार गर्त्त को बढ़ाते हुए पथ-भ्रष्ट हो अपना विनाश स्वयं उपस्थित कर लेते हैं। अतः स्वप्न में भी पर-पुरुष या पर-स्त्री का जो सेवन नहीं करते वे विवेकी ब्रह्मचर्य के एकदेश का पालन कर व्रती संज्ञा को प्राप्त होते हैं। १७३।

परस्त्री त्याग अथवा स्वदारसंतोषव्रत के दोष

(अनुष्टुप्)

तीव्रकामाभिलाषाद्यतिचारा दुःखदाः खलाः।
त्याज्याः स्वानन्दतुष्टेन दीपेनेव कुकज्जलम्।।१७४।।

तीव्रेत्यादिः— यथा दीपकः स्वप्रकाशरूपेऽवतिष्ठमानः अन्तर्दोषान् कज्जलाकारेण सदा वमति तथैव स्वात्मानन्दरसिकेन ब्रह्मचर्यैकदेशव्रतिनः स्वस्त्रियामपि तीव्राभिलाषो न कर्त्तव्यः। कामस्य प्रवृद्धपरिणामः सदानर्थकारक एव भवति। स एव महान् दोषः व्रतभङ्गस्य हेतुर्भवितुमर्हति। यदि व्रतिनोऽन्तरङ्गे सदैव कामसन्तापः स्यात् तर्हि न स्यात्तस्य स्वात्मोपलब्धिः। तदभावे तु न स्यात्तद्व्रतमिति। तीव्राभिलाषेणैव परविवाहकरणं-इत्वरिकागमनं-अनङ्गक्रीडादयो दोषाः सञ्जायन्ते। व्रतातिचाराः खलु दुर्जना इव तीव्रदुःखदायिनो भवन्ति। व्रतानां नाशकर्त्तारस्तेऽनेकानि पापान्युत्पादयन्ति। तस्मात् स्वदारसन्तोषव्रतिना स्वस्त्रियामपि केवलं सन्तानोत्पत्त्यर्थमेव न तु भोगाभिलाषेण गमनं कर्त्तव्यम्। योग्यसन्ताने कुलवृद्धिकारके सति भोगत्याग एव श्रेयान्। अन्यथा अन्तर्वर्तिकज्जलमपरित्याज्य यथा दीपकः स्वप्रकाशं नाशयति स्वयमपि कलंकरूपो भवति तथैव स्वान्तर्दोषातिचारैः ब्रह्मव्रतैकदेशिनोऽपि स्वानन्ददोषनाशः स्यात्। जगति चापवादः स्यात्। अतः दीपकेन कज्जलमिव सदातिचाराणां परिहारः कार्य्यः।१७४।

स्वदार सन्तोषव्रती यदि काम की तीव्र अभिलाषा रखे और सदा चित्त को मलीन रखे तो वह व्रती होकर भी दोषी है। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार दीपक अपने सुन्दराकार प्रकाश के द्वारा सदा दैदीप्यमान रहता है और अपने अन्दर विद्यमान कृष्णवर्ण कज्जल को सदा वमन करता है, त्याग करता है, उसी तरह अपने आत्मानन्द स्वरूप से प्रकाशमान व्रती को भी अपने अन्तर्दोषों का सदा निरीक्षण करते हुए उनका वमन करना चाहिए तथा नवीन दोष उत्पन्न न हो इसका प्रयत्न करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामातुरता व्रतभङ्ग का प्रधान हेतु है। कामातुर अपना व्रत सदा सुरक्षित नहीं रख सकता। कामसन्ताप से संतप्त पुरुष को कर्त्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं रहता। उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। दृष्टि दूषित हो जाती है। मन सदा भटकता रहता है। अपने आपको वश में नहीं रख सकता। पागलों की तरह प्रलाप करता है। न कहने योग्य अयोग्य वचन बोलता है। कुचेष्टाएँ करता है। नीच संगति करता है। परस्त्रीसेवी में जितने दुर्गुण होते हैं वे सब कामातुर को प्राप्त होते हैं। कामातुरता से ही तो लोग परस्त्री गमन करते हैं। कामातुर के लिए स्त्रीमात्र में एक ही सम्बन्ध प्राप्त है और वह है भोगदृष्टि। माता, बहन, कन्या ये केवल कथन के लिए शब्दमात्र हैं। उन शब्दों में अन्तर्निहित पवित्र भावना का उसे दर्शन भी नहीं होता। कामातुरता सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है, अतः स्वस्त्री सन्तोषव्रती को उक्त दोष को सर्प, विष, अग्नि, सिंह और शार्दूल आदि भयंकर जीवों से भी महान् भयंकर समझकर उससे सदा दूर रहना चाहिए।

परविवाहकरण, इत्वरिकागमन और अनङ्गक्रीड़ा आदि समस्त दोष काम की तीव्र अभिवांछा से ही उत्पन्न होते हैं। व्रत के अतिचार दुर्जन की भाँति सदा पीड़ा और धोखा देनेवाले हैं। वे व्रत का नाश करते हैं और स्वयं अनेकानेक पापों को उत्पन्न करानेवाले हैं। स्वस्त्री व्रती को उत्तम सन्तान की प्राप्ति के हेतु अथवा शरीर में होनेवाले मदावेश को मिटाने के हेतु ही स्वस्त्रीगमन स्वीकार करना चाहिए। योग्य सन्तान से कुलवृद्धि होती है। योग्य सन्तान धर्म परम्परा को चलाने के लिए समर्थ होती है। इसलिए अन्तर्वर्ती कज्जल को सतत वमन करनेवाले और सदा प्रकाशमान अपने निज स्वरूप में स्थित रहनेवाले दीपक के समान स्वानन्दतुष्ट आत्मरसभोगी स्वदारसंतोषी को अपने अन्तर्वर्ती अतिचारों का परिहार कर अपने स्वरूप में रहना उचित है। तब ही वह निर्दोष व्रती रह सकता है।१७४।

प्रश्नः— परिग्रहपरिमाणव्रतचिह्नं गुरो वद।

हे गुरुदेव! परिग्रह परिमाण व्रत के क्या चिह्न हैं, कृपा कर कहें। ऐसा प्रश्न करने पर गुरु उपदेश करते हैं—

(अनुष्टुप्)

धनादीनां यथाशक्ति प्रमाणं प्रविधाय यः ।
आशाग्निशमनार्थं तु करोति दानपूजनम् ।।१७५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रहपरिमाणव्रतं स्यात्तस्य सौख्यदम् ।
ध्यानस्वाध्यायलीनस्य सारासारविचारिणः ।।१७६।।

धनादीनामित्यादिः— ज्ञानदर्शनादीन्येव हि जीवस्य निजद्रव्याणि, न तु गृहादीनि। तानि तु निजस्वभावाद् भिन्नानि परद्रव्याणि। परद्रव्यग्रहणन्तु न न्याय्यम् । तस्य परिहार एव कर्त्तव्यः। यदि प्रत्याख्यानावरणस्य चारित्रमोहनीयभेदस्योदयात् परिहर्त्तुमसमर्थस्स्यात्तर्हि परपदार्थानां एकदेशतस्तु त्यागः कर्त्तव्य एव। जन्ममृत्युजराकीर्णे भवे आशया जीवति निराशया तु म्रियते। मुक्तिमार्गे तु आशा एव मृत्युः आशारहितत्वमेव कल्याणहेतुः। आशाग्निः तु सदा दहति असन्तोषभावनाङ्कष्टरूपामुत्पादयति। निराशा तु शीतलजलेन्दुपादहिमस्पर्शचन्दनानुलेपनशीतलच्छायापरिग्रहादिवत्। हृदि शान्तिं सन्तोषं च पूरयति। तस्मात्कारणात् आशाग्निशान्त्यर्थं धनधान्यादीनां यथाशक्ति हीनकरणमेवोचितम् । तदेव परिग्रहपरिमाणव्रतमस्ति। परिमिते परिग्रहेऽपि प्रतिदिनं जिनपूजने मुनिदाने स्वाध्यायशालायां शास्त्रदाने विद्यादाने छात्राणामाहारभैषज्यपुस्तकादिवितरणे गृहविहीनेषु धनादिरहितेषु साधर्मिजनेषु च द्रव्यदानं गृहस्थस्य देशव्रतमस्ति। तद्व्रतमेव गृहस्थानां सुखप्रदायकमस्ति। यथासमयं स्वव्रतानुकूलं निर्दोषपद्धत्या स्वल्पद्रव्यस्य अर्जनादिकं विधाय ध्यानस्वाध्यायजिनपूजनादिकार्येषु तत्त्वोपदेशाध्यात्म-चिन्तादिविचारेषु च शेषसमयस्योपयोगः कर्त्तव्यः। एवंविधाचारेण गृहिणां लौकिकव्यवहारेष्वपि सौख्यम्भवति। पारलौकिकोऽपि लाभः स्यात् । तृष्णाग्निनाशात् परमसुखं च भजति अतः कर्त्तव्यमेव परिग्रहणपरिमाणव्रतमिति।१७५/१७६।

जिन्हें हम लाकर संग्रह करें ग्रहण करें वह "परिग्रह" है। आत्मा में ज्ञान दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। वही आत्मा का निज भण्डार है। उसे छोड़कर धनधान्यादि का जो यावन्मात्र संग्रह है वह सब पाप है। यह आत्मा अनादिकाल से इसी परद्रव्य ग्रहण के कारण पराधीन हो रहा है। जब तक यह परद्रव्यग्रहण को त्यागकर स्व-स्वरूप को प्राप्त नहीं करता तब तक सुखी नहीं हो सकता। अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि जिस किसी प्रकार हो प्रत्येक जीव का कल्याण पर-पदार्थ ग्रहण में नहीं, उसके त्याग में है। यदि चारित्रमोहनीय के भेद प्रत्याख्यानावरण का तीव्रोदय हो और पर-पदार्थ से मोह न छूटे तो भी उसका एकदेश त्याग अर्थात् क्रमिक त्याग करना चाहिये। इस क्रमिक त्याग को ही देशव्रत या परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहते हैं।

धन-धान्य, खेत, मकान, रुपया, सोना, चाँदी, धातु तथा वस्त्र आदि पदार्थों का अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रमाण करने शेष का त्याग करना यह त्याग की विधि है। इस त्याग से आत्मा में अनन्त आशाओं का अन्त हो जाता है और असन्तोष और तृष्णा सन्तोष सुख में परिणत हो जाती है। यह व्रत का अनुपम लाभ है। आशा अग्नि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। संसारज्वाला से दग्ध प्राणी आशा से जीवित है। निराशा से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। किन्तु मुक्ति मार्ग में निराशा से ही जीवित रहते हैं और आशा से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

आशा रूपी गढ़ा प्रत्येक प्राणी के हृदय में अथाह है, उसका अन्त नहीं है। उसमें कितना भी डालो उसकी पूर्ति नहीं होती। सन्तोषरूपी अमृत की एक बूंद से ही वह पूर्ण भर जाता है और आत्मा में शीतल जल, चन्द्रकिरण, चन्दनानुलेपन, हिमस्पर्श और शीतल छाया की प्राप्ति के सदृश शान्ति प्राप्त हो जाती है, अतः गृहीत परिग्रह में न्यूनता करना कल्याणकारी है।

अपनी परिमित तृष्णा पूर्त्यर्थ अथवा गृह की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति के हेतु व्यापारादि से धनार्जन कर शेष समय का देवपूजन, स्वाध्याय तथा अध्यात्मचिन्ता आदि के द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। साथ ही अपने अर्जित धन का उपयोग केवल स्वविषयोपभोग में नहीं करना चाहिए बल्कि जिनपूजन, मुनियों को आहारादिदान, स्वाध्यायशाला, पुस्तकदान, विद्यादान, शिक्षार्थियों आदि को आहार, औषधि, शिक्षासाधनों का प्रदान करना, निर्धन साधर्मी भाइयों को यथायोग्य सहायता देकर उन्हें धर्म में दृढ़ रखना तथा धर्मोत्साह बढ़ाना आदि उत्तमोत्तम कार्यों में करना लौकिक दृष्टि से भी सुखदायक है और पारलौकिक लाभ के लिए भी वह हेतुभूत है। इसलिए तृष्णा के दुःख को न्यून करने के लिए परिग्रहपरिमाणव्रत को स्वीकार करना श्रेष्ठतर कार्य है।१७५।१७६।

परिग्रहपरिमाणव्रतस्यातिचाराः

(अनुष्टुप्)

धनादीनां कृतस्यैव प्रमाणस्य बहि र्न च ।
गन्तव्यं तत्त्वतो भव्यैर्यतः स्यात् सौख्यदा गतिः ।।१७७।।

धनादीनामित्यादिः— व्रतानां रक्षणं सदा कर्त्तव्यम् । तद्रक्षणाय व्रतातिचारान् दूरीकृत्य स्वकृतनियमेषु व्यवहारः कर्त्तव्यः। तत्प्रमाणं खलु धनादीनां परिग्रहाणां पूर्वं स्वीकृतं न तद्बहिर्गन्तव्यं प्राणान्तेऽपि। एवं कृत एव सौख्यदा गतिर्भवति। तदभावे तु नरकादिकुयोनिषु दुःखान्युत्पादयन्ति प्राणिनः।।१७७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धन्य-धान्यादि दस प्रकार का परिग्रह है। परिग्रहपरिमाण व्रत में उनका प्रमाण इस प्रकार किया था कि मैं अपने जीवन में इतने मकान रखूँगा, इतना सोना रखूँगा इत्यादि प्रमाण द्वारा गृहीत सम्पत्ति में ही अपने जीवन का निर्वाह करता था। यदि कदाचित् लोभवश या परिस्थितिवश गृहस्थ को ऐसा प्रसंग आवे कि उसकी इच्छा अपने परिग्रह की मर्यादा के उल्लंघन करने की हो जाय तो उसे अपने पर नियन्त्रण करना चाहिए और कदाचित् भी अपनी मर्यादा का भंग प्राणान्त होने पर भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार दृढ़ता से व्रत पालन करनेवाला मनुष्य स्वर्ग गति में सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। अन्यथा इस लोक में अपवादादि तथा परलोक में नरकादि गति का उसे पात्र बनना पड़ता है। अतः अतिचार पिशाचों से सदा व्रत का रक्षण करना चाहिए। कैसी भी अवस्था में अपने व्रत में अतिचार नहीं लगना चाहिए। अतिचार धीरे-धीरे व्रत को समाप्त कर देते हैं और तब व्रती अव्रत की भूमिका में आ जाता है। एक बार व्रत से छूटा प्राणी दुबारा व्रत की भूमिका में बड़ी कठिनता से आरोहण करता है और हतोत्साह हो जाता है। अतः व्रतों में सदा उत्साह रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि अतिचारों से सर्वथा व्रतों को बचाये।१७७।

प्रश्नः—दिग्व्रतलक्षणं किं स्यात्तदतिधाराश्च के वद।

दिग्व्रत का क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन हैं? कृपाकर कहें—

(वसन्ततिलका)

पापस्य दुःखजनकस्य निरोधनार्थं
कृत्वा प्रसिद्धनगरादिदिशः प्रमाणम्।
द्रव्यार्जनाय न हि गच्छति तद्बहिर्यः
स्याद्दिग्व्रतं ह्यनुपमं सुखदञ्च तस्य।।१७८।।

पापस्येत्यादिः— पञ्चाणुव्रतनिर्देशानन्तरं तद्व्रतपरिरक्षणार्थं तत्र गुणवृद्ध्यर्थञ्च दिग्विरत्यादीनि गुणव्रतानि सन्ति। तत्र दिग्व्रतस्य स्वरूपमिदम्—दुःखोत्पादकस्य दुःखजनकस्य पापस्य हिंसादिपापपञ्चकस्य समुत्पत्तिर्यतो न स्यात् एवं विचार्य दशस्वपि दिक्षु गमनागमनयोर्मर्यादा कार्या। यस्यां दिशि यावति क्षेत्रे गमनेन गृहस्थस्य सामान्यतया निर्वाहः स्यात् तत्पर्यन्तमेव गमनस्य नियमे कृते तद्बहिर्न गन्तव्यम्। अस्य व्रतस्य एष एव विधिर्यत् किल अस्यां दिशि अमुकनगरपर्यन्तम् द्वितीयस्यां दिशि प्रसिद्धपर्वतपर्यन्तं अथवा क्रोशादिप्रमाणेन गमनागमनस्य मे मर्यादा। व्यापारादिकार्येणापि सीम्नः बहिर्न स्याद् गमनं मे। एवं कृते श्रावकस्य एकदेशरूपाण्यपि व्रतानि सीम्नो बहिःप्रदेशेषु महाव्रतानीव भवन्ति।१७८।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चाणुव्रतों के स्वरूप निर्देश करने के बाद आचार्य दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतों का स्वरूप लिखते हैं। इन गुणव्रतों से पञ्चाणुव्रतों की रक्षा होती है और उनमें गुणवृद्धि होती है।

दशों दिशाओं में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों को निश्चित करके उन स्थानों के आश्रय से कि मैं इस दिशा में इस पर्वत पर्यन्त ही अपने व्यापारादि गार्हस्थिक प्रयोजनों से आना-जाना, कार्य करना-कराना, अन्य किसी को प्रेरणा करना आदि करूँगा, इस क्षेत्र के बाहर मैं न जाऊँगा।

इस व्रत का तात्पर्य स्पष्ट है। व्रती का ध्येय यह है कि यद्यपि मेरे अणुव्रत है। अर्थात् एकदेश पाप मेरे जीवन में विद्यमान है उसका त्याग मेरे संभव नहीं है तथापि यदि कुछ निश्चित क्षेत्र में ही मैं अपना निर्वाह कर सकता हूँ तो अपनी आजीविका आदि के लिए सारे संसार में क्यों दौड़ा-दौड़ा फिरूँ। सर्व क्षेत्र को पापमय क्यों बनाऊँ। यदि मैं अपने कार्यक्षेत्र की सीमा बांध लेता हूँ तो उस क्षेत्र के बाहर मेरे सब पापों का पूर्ण त्याग बन जाता है। इस ध्येय को सामने रखकर व्रती दिग्व्रत को ग्रहण करता है।

वह अपने जीवन भर उन-उन सीमाओं का उल्लंघन व्यापार, लोभ, सुरक्षा और भोगोपभोग आदि किन्हीं कारणों के उपस्थित होने पर भी नहीं करता। अपनी सीमा के भीतर ही भीतर व्यापार करता है। यदि विपत्ति आ जाय तो उसके भीतर ही अपनी रक्षा का उपाय करता है और यदि संभव न हो तो समाधिमरण स्वीकार कर लेता है, मर्यादा को लांघता नहीं। मर्यादा के बाहर यदि कोई लाभ का सौदा मिलता है तो न लायगा, न मँगायगा। यदि कोई अपना यहाँ शत्रु हो या मित्र हो तो बैर या स्नेह के वश भी वहाँ न जायगा। यदि कर्जदार कर्ज लेकर भाग जाय तो वह सन्तोष रखेगा पर सीमा का उल्लंघन न करेगा। यदि सीमा बाहर उत्तमोत्तम भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री सहज ही उपलब्ध होती हो तो वह इच्छा निरोध करेगा, सीमा बाहर न जायगा।

इस तरह इस व्रत के पालन से गृहस्थ को निर्लोभ वृत्ति आती है। रागद्वेष हीन होता है। धन की स्पृहा कम होकर व्रत के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। भोगोपभोग में तृष्णा घटती है। संकल्प विकल्प घटते हैं। अतः दुःखों से बचने के लिए अपने शारीरिक पाप कार्यों की क्षेत्र मर्यादा हो जाने से वह पाप और उसके फल से कुछ अंशों में बच जाता है। इस व्रत का परिपालन सुखदायी है, अहिंसादि व्रतों का पोषक है, अतः अणुव्रती को यह व्रत पालना गुणकर है।१७८।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिग्व्रत के अतिचारों का निरूपण–

(अनुष्टुप्)

ऊर्ध्वाद्यतिक्रमा निन्द्या न कार्या दुःखदाः सदा ।
यतः स्वस्थो भवेत्स्वात्मा संसारार्णवपारगः ।।१७९।।

ऊर्ध्वेत्यादिः– दिग्व्रतस्य पंचातिचाराः ग्रन्थान्तरेषु निरूपिताः सन्ति। तद्यथा–ऊर्ध्वदिशायाः अतिक्रमः प्रमादात् कषायावेशात् विस्मरणाद्वा कृतमर्यादातः ऊर्ध्वमपि गमनं वायुयानादिना मर्यादातिक्रमेण भ्रमणं पर्वतादिषु उन्नतेषु कीर्तिस्तंभादिषु आरोहणं न कर्तव्यम्। कृते सति दिग्व्रतस्य प्रथमोऽतिचारः स्यात्। उक्तकारणैरेव अधोदिशायामपि कूपादिके खन्यादौ अवतरणं अधोऽतिक्रमः द्वितीयोऽतिचारः स्यात्। पूर्वादिष्वपि अखिलास्वपि दिक्षु मार्यादीकृतक्षेत्राद्बहिः केनापि कारणेन गमनं तिर्यग्व्यतिक्रमो नाम तृतीयोऽतिचारः स्यात् । पूर्वदिशि अनावश्यकतया क्षेत्रमर्यादातो हीनगमनं शेषक्षेत्रप्रमाणं प्रयोजनवशादुत्तरदिशि संयोज्य तत्र लोभाद् गमनं क्षेत्रवृद्धिर्नामा चतुर्थोऽतिचारः स्यात्। क्षेत्रव्रतस्य विस्मरणं तु पंचमः। इत्येवं पञ्चातिक्रमाः लोके शास्त्रे च निन्दनीयाः सन्ति परलोके च व्रतस्यैकदेशभङ्गरूपत्वात् दुःखफलोत्पादकाः सन्ति अतः तदेव कर्तव्यं यदात्मा आत्मन्येव स्थिरीभूय संसारसमुद्रस्य पारं गच्छेत् ।१७९।

दिग्व्रत के ग्रन्थान्तरों में पाँच अतिचार बताए हैं। ये अतिचार व्रत का एकदेश भंग कर देते हैं। व्रतभ्रष्ट मनुष्य संसार से पार नहीं हो सकता। आत्मा स्वात्मरूप से विचलित हो जाता है, इसलिए ऐसे निन्दनीय अतिचारों से सदा दूर रहना चाहिए। वे अतिचार ये हैं-प्रमाद या विस्मरण से ऊर्ध्वदेशका, उल्लंघन कर देना। अर्थात् जितनी मर्यादा पहिले की थी कि मैं ऊर्ध्व दिशा में ४० या ५० या ६० या १०० फुट ऊपर चढ़ूँगा उस मर्यादा को लांघ जाना यथा—वायुयान से भ्रमण करते समय पर्वत के ऊपर, मीनार या कीर्तिस्तम्भादिकों के ऊपर चढ़ते समय यह मर्यादा टूट सकती है। इसी प्रकार उक्त कारणों से ही अधोदिशा का उल्लंघन करना दूसरा अतिचार है। पूर्वादि आठ तिर्यग्दिशाओं का उल्लंघन करना तिर्यग्दिशाव्यतिक्रम नामक तृतीयातिचार है। चौथा अतिचार है क्षेत्रवृद्धि। वह इस प्रकार कि पूर्वादि दिशाओं में किसी ने १००-१०० योजन की मर्यादा ले रखी है। कुछ समय बाद पूर्व में तो १० योजन का ही काम पड़ा पर उत्तर में १५० योजन जाना आवश्यक ज्ञात हुआ। तब पूर्व में ५० घटाकर उत्तर में ५० योजन जोड़कर यह समझना कि हमने व्रत भंग नहीं किया यह चतुर्थ क्षेत्रवृद्धि नामा अतिचार है। व्रत की मर्यादा का स्मरण न रखना लापरवाही करना यह विस्मरण नाम का पाँचवाँ अतिचार है। इस प्रकार ये पाँच अतिचार त्याज्य हैं । तब ही व्रत निर्दोष रह सकता है।१७९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देशावकाशिकव्रत का स्वरूप–

(आर्या)

दिग्व्रतनियते देशे परमितकालं पुनश्च सङ्कोचः ।
देशावकाशिकाख्यं तद्व्रतमुदितं विशेषज्ञैः ।।१८०।।

दिगित्यादिः— दिग्व्रतनियते दिग्व्रतनिर्धारिते देशे प्रदेशे परिमितकालं निर्धारितसमयं यावत् पुनश्च संकोचः स्वल्पीकरणं देशावकाशिकाख्यं देशावकाशिकसंज्ञं तद्व्रतं स्यादिति विशेषज्ञैर्जिनागमरहस्यज्ञैर्विपश्चिद्भिरुदितं कथितं प्रतिपादितमिति यावत् ।१८०।

दिग्व्रत में आजन्म के लिए दशों दिशाओं में आवागमन के क्षेत्र की मर्यादा ली थी। देशव्रती यह सोचता है कि पूर्व दिशा में १०० योजन की मर्यादा है तथापि आज या दो चार दिन तक पूर्व दिशा में १०० योजन जाना नहीं है, अतः यदि मर्यादा का संकोच कर लिया जाय तो कोई हानि नहीं है ऐसा विचार कर दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर ही भीतर अपनी आवश्यकता को देखकर तदनुसार आने जाने के लिए क्षेत्र की मर्यादा का १ दिन २ दिन, अथवा १० दिन के लिए प्रमाण कर लेता है वह देशावकाशिकव्रत कहलाता है।

देशव्रती देशव्रत की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करता। भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के लिए अथवा व्यापारादि कार्य करने के लिए अपनी मर्यादा के भीतर ही प्रयत्न करता है, उसके बाहर नहीं।

इस कार्य के करने से उसके कषायों में और भी क्षीणता आती है, लोभवृत्ति घट जाती है, उदारता आ जाती है, त्याग और संयम की भावना जागृत हो उठती है। अतः पंचाणुव्रतों की स्थिति को पुष्ट करके उनमें गुणवृद्धि करनेवाले ये व्रत हैं, अतः ग्राह्य हैं।१८०।

देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का वर्णन–

(अनुष्टुप्)

आनयनाद्यतिचारास्त्याज्याः सन्तापकारकाः ।
यतः स्यात्स्वात्मशुद्धिस्ते निवासोऽपि निजात्मनि ।।१८१।।

आनयनेत्यादिः— आनयनं प्रैष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेपश्चेति पञ्चातिचाराः देशावकाशिकव्रतस्य सन्ति। तत्स्वरूपञ्च यथा—एतद्व्रतान्तर्गतक्षेत्रमर्यादातो बहिःक्षेत्रेषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वगमनागमनाभावेऽपि ततः कस्यचिदिष्टस्य वस्तुनः आनयनं नाम प्रथमोऽतिचारः। बहिःक्षेत्रे कस्यचित्पुरुषस्य प्रेषणम् । त्वं तत्र गच्छ एवं कुरु इत्येव प्रकारेण प्रयोगः प्रैष्यप्रयोगो नाम द्वितीयोऽतिचारः। आनयनप्रेष्यप्रयोगाभावेऽपि स्ववाक्येन बाह्यक्षेत्रस्थितान् जनान् यद्याज्ञापयति यदेवं कुरु तदेव शब्दानुपातः तृतीयोऽतिचारः। शब्दोच्चारणाभावे केवलं हस्तसंज्ञादिना स्वाभिप्रायं विज्ञाप्य बाह्यक्षेत्रे तत्रस्थितेन पुरुषेण कार्यानुष्ठापनं रूपानुपातः चतुर्थोऽतिचारः। तत्रैव क्षेत्रे पुद्गलानां लोष्टादीनां लिखितपत्रादीनाञ्च क्षेपणं पुद्गलक्षेपः पञ्चमोऽतिचारः। इति पञ्चातिचाराः देशावकाशिकस्य सन्ति। एतैर्व्रतं दूष्यते। स्वहितैषिणा सन्तापकारकाणामतिचाराणां त्यागः कर्त्तव्यः। १८१।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेपण ये पाँच अतिचार ग्रंथान्तरों में लिखे गए हैं। उन सबको आदिपद से स्वीकार करते हुए, आचार्य प्रतिपादन करते हैं कि देशव्रत में जो क्षेत्र मर्यादा दिग्व्रत की विशाल मर्यादा में और भी संकोच कर बाँधी गई है, वह जितने समय के लिए है उतने समय तक अपने क्षेत्र के बाहर के प्रदेश में न तो किसी व्यक्ति को भेजकर कार्य कराना चाहिए और न किसी वस्तु को मर्यादा के बाहर क्षेत्र में भेजना चाहिए। यदि ऐसा करे तो क्षेत्रमर्यादा करने का वास्तविक प्रयोजन नष्ट हो जाता है। अतः व्रत लेने की जो मूल भावना है उसकी रक्षा करने के लिए इन दोषों का त्याग करे। क्षेत्र की मर्यादा के भीतर ही भीतर लेना, देना, व्यापार व्यवहार आदि करना चाहिए। भले ही उसमें कष्ट हो, पर उसको सहन कर शान्त रहना चाहिए, यही तो व्रत है।

इसी प्रकार अमर्यादित क्षेत्र से कोई वस्तु या व्यक्ति को बुलाना अथवा आदेश देकर उस क्षेत्र में स्थित पुरुष से ही उस क्षेत्र के व्यापारादि कार्य को कराना यह भी दोषकारक है। यदि किसी को न भेजे, न बुलावे, न शब्दोच्चारण पूर्वक आदेश दे, पर केवल अपने संकेत द्वारा बहिःक्षेत्र में स्थित अपने कार्यकारी व्यक्ति को स्वाभिप्राय समझा दे तो भी रूपानुपात नाम अतिचार है। मर्यादा बाहर कोई वस्तु फेंकना, पत्र भेजना इत्यादि पुद्गल द्रव्य का भेजना और उससे कार्य करना यह भी अतिचार है।

ये सब अतिचारों के उदाहरण मात्र हैं। शास्त्रकारों ने प्रत्येक व्रत के जो ५-५ अतिचार बताए हैं वे उदाहरण मात्र हैं ऐसा समझना चाहिए। उन जैसे अन्य कार्य भी उसी कोटि में गिने जाँयगे। जैसे तार व टेलीफोन द्वारा समाचार भेजना शब्दानुपात है। चिट्ठी भेजना, पार्सल भेजना, मनीआर्डर भेजना आदि पुद्गलक्षेप है। इत्यादि अनेकानेक कार्य हैं जिनका नाम भले ही स्पष्ट न आया हो पर वे सब इन अतिचारों में अन्तर्गर्भित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो जाते हैं। अथवा न भी हो सकते हों तो भी वे व्रत की मूल-भावना को नष्ट करने के कारण अतिचार ही हैं।

ये सब अतिचार व्रतघातक होने से तथा आत्मा के लिए पापोत्पादक होने से सन्ताप उत्पन्न करने वाले हैं। इन सहित व्रती न तो आत्मशुद्धि को प्राप्त होता है और न निजात्मा का निवासी होता है इसलिए आत्महितैषी को इन अतिचारों से दूर रहकर स्वात्मशुद्धि व स्वहित करना चाहिये।१८१।

अनर्थदण्ड नामक गुणव्रत का स्वरूप इस प्रकार है–

(वसन्ततिलका)

स्वान्यात्मदुःखजनिका न च पापशिक्षा
देया कदापि न च हिंसकवस्तुदानम् ।
त्याज्यं तथा स्वहितशून्यधनं ह्यनर्थ–
त्यागव्रतं स्वसुखदञ्च भवेद्व्रतस्ते।।१८२।।

स्वान्येत्यादिः– गार्हस्थिकप्रयोजनं विनापि यत् किल आरम्भादिकं क्रियते तत् अनर्थदण्डः। एकदेशव्रतधारिणो यद्यपि नारम्भस्य त्यागः तथापि तज्जनितदोषस्तु तस्य स्यादेव। न तु सः एवंभूतान् आरम्भजनितान् दोषान् परिहर्तुं शक्तस्तथापि स एवं व्रतयति यत्प्रयोजनं विना भूम्यादिखननं जलपातनं पवननिःसारणं अग्निसंचारः वनस्पतिच्छेदनं आरम्भादीनां पापहेतुकानामुपदेशः हिंसायाः साधनभूतानां शस्त्रादीनां आदानप्रदानकरणं कुत्सितपुस्तकानां पठनं पाठनञ्च कस्यचित् वधस्य बंधनस्य धनक्षयस्य पुत्रादिवियोगस्य चिन्ता वांछा वा पञ्च अनर्थदण्डाः। प्रयोजनवशात् तत्करणे यद्यपि न काचिद्धानिस्तथापि तदेकदेशव्रतिना मर्यादामतिक्रम्य ते परिहरणीयाः।१८२।

गृहस्थ एकदेशव्रत का धारी है, अतः गार्हस्थिक प्रयोजन से जो आरम्भ, उद्योग और व्यापार आदि के कार्य हैं उनका त्याग उसने नहीं किया है। तथापि उसके व्रत में इस अनर्थ दण्ड व्रत से विशेषता आ जाती है। जिन कार्यों के बिना किए भी उसका निर्वाह हो जाता है उन कार्यों के आरम्भ से बचना यह अनर्थ-दण्डव्रत है। जिन गृहस्थारम्भों का उसके त्याग नहीं है उनके करने में व्रतभंग भले ही न हो पर पाप तो होता ही है। उतना त्याग और हो जाय तो अणुव्रत महाव्रत जैसे बन जाते हैं। अतः जब तक उसके महाव्रत धारण करने की सामर्थ्य भीतर से नहीं उत्पन्न हुई तब तक अणुव्रतधारी यह विचार रखता है कि मैं अत्यावश्यक होने पर ही आरम्भ कार्य करूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि बिना आरम्भ के भी मेरा निर्वाह हो सकता हो तो मैं उन आरम्भों को जो व्यर्थ ही पापबंध के हेतु हैं न करूँ। ऐसा करना भी व्रत संज्ञा को प्राप्त कर लेता है और उसे ही अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

बिना प्रयोजन भूमि खोदना, पानी सींचना, हवा करना, अग्नि जलाना या बुझाना, वृक्ष काटना, उसके पत्र व फल फूलों का तोड़ना, तथा किसी को अनेकानेक आरंभों को करने का उपदेश देना, पापारम्भ की क्रिया सिखाना, हिंसा के साधनों का प्रदान करना, स्वयं हिंसा झूठ चोरी आदि का त्याग होते हुए भी अपने पुत्र मित्रादि को जिन्हें उक्त पापों का त्याग नहीं है उन्हें यह समझकर कि मैं स्वयं तो करता नहीं हूँ और इन्हें त्याग नहीं है अतः इनको लाभ मिल जाय इस अभिप्राय से पापारम्भ के उपायों का बताना, कामवर्द्धक, हिंसा पोषक, चोरी विश्वासघात छल ठगोरी के विविध उपाय बतानेवाली पुस्तकों का पठन-पाठन करना, अथवा ऐसे खेल- तमाशे सिनेमा नाटक आदि देखना, किसी का अहित हो जाने पर हर्ष मानना, चोरी हो जाने पर प्रसन्न होना अथवा किसी के वध-बन्धन हो जाने का विचार करना, चोर कथा आदि विकथा करना, बिना प्रयोजन बाजार में हाट में गली कूचों में वेश्या व्यभिचारिणी कुट्टनी आदि के निवास स्थानों की ओर व चोर व्यभिचारी जुआरी लोगों के अड्डों पर चक्कर लगाना अनर्थदण्ड हैं। इत्यादि कार्य अपने तथा दूसरों के हित के विरुद्ध होने से नहीं करने चाहिए। इनसे कर्त्ता का कोई लौकिक प्रयोजन भी नहीं सधता किन्तु पाप का वृथा बंध हो जाता है। अतः निष्प्रयोजन पाप से बचना चाहिए।१८२।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार ये हैं–

(अनुष्टुप्)

कन्दर्पकौत्कुच्याद्यतिचारा भ्रान्तिकारकाः ।
त्याज्या ज्ञात्वेति भव्यैः स्यात् स्वस्थः स्वात्मा सदा सुखी ।।१८३।।

कन्दर्पेत्यादिः– कन्दर्पः नाम रागोद्रेकात् मनोविकारोत्पादकवचनव्यवहारः। कौत्कुच्यं नाम शरीरस्य कुत्सिता चेष्टा नेत्रगात्रसंचारणं विटपुरुषाणां वेश्यादीनां अनुकरणं विदूषकत्वव्यापारः नानाप्रकारेण कामोत्पादिका चेष्टाः अधिकतया वाग्व्यापारः प्रयोजनेन विनाऽपि वचनाधिक्यप्रयोगः मौखर्यम् । भोगोपभोगयोग्यानामपि वस्तूनां स्वप्रयोजनमतिक्रम्य संग्रहः अतिप्रसाधनम् । प्रयोजनेन विनापि विविधकार्याणां लाभादिकमविचार्य करणं असमीक्ष्याधिकरणम् । इत्यनेन प्रकारेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनर्थदण्डव्रतस्य पञ्चातिचाराः निर्दिष्टाः। वस्तुतस्तु अनर्थदण्डानामनन्तत्वात् तद्गणना न स्यात्। अनादित एव संग्रहवृत्तित्वात् असंख्यलोकप्रमाणकषायांशैरभिभूतत्वाच्च लोकानां निष्प्रयोजनं अनेकानि पापानि भवन्ति। अतः भव्यपुरुषैस्तु एतेऽनर्थदण्डाः त्याज्याः यतः आत्मा सदा स्वाधीनः सुखी च स्यात्।१८३।

हँसी करना, रागोत्पादक व्यंग्य वचन बोलना, कामोत्पादक दुश्चेष्टाओं का वर्णन करना कन्दर्प है।उक्त अभिप्राय पूरक शारीरिक दुश्चेष्टाएँ कौत्कुच्य है। जिन वचनों या चेष्टाओं से दूसरे प्राणियों को क्रोध, अभिमान, माया, लोभ आदि कषायों की प्रबलता हो उठे, झगड़े हो जाँय, मार-पीट हो जाय, कलह विसंवाद हो जाय, बैर बढ़ जाय वे भी इन दोनों अतिचारों में सम्मिलित हैं। वाचालता करना बिना प्रयोजन किसी की भी बातचीत के मध्य में अधिकता से बोलना मौखर्य है। अपने भोगोपभोग के योग्य भी हों, ऐसे गृह, आभूषण, सोना, चाँदी, रुपया, वस्त्र अथवा अन्य अनेक प्रकार के साधनों का अपनी आवश्यकता की पूर्ति हो जाने के बाद भी लोभवृत्ति से तथा अनादिकालीन परिग्रह संज्ञा, मैथुन संज्ञा, आहार संज्ञा तथा भय संज्ञा इन चतुर्विध संज्ञाओं के संस्कार से अधिकाधिक संग्रह करना तथा यह वस्त्र अच्छा लगता है इस भाव से अनेक फैसनों के पदार्थों का, जिनसे आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती किन्तु केवल रागभाव प्रबल होता है, संग्रह करना अतिप्रसाधन नामक अतिचार है। पाँचवाँ है असमीक्ष्याधिकरण अर्थात् बिना विचारे, बिना देखे, शोधे अनावश्यक रूप से भी विविध प्रवृत्तियाँ करना। ये पाँच उदाहरण रूप से अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार बताए गए हैं। वास्तव में असंख्यात लोक प्रमाण कषायें जीवों में हैं जिनकी पूर्ति न कभी हुई और न होगी। जीव अनादि से ही उन कषायों द्वारा अभिभूत है, अतः शारीरिक आवश्यकता न भी हो तो भी वह विविध प्रवृत्तियाँ, विविध चेष्टाएँ और विविध वाग्व्यापार करता है। इस भ्रांति को छोड़कर ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे आत्मा सदा सुखी और स्वाधीन रहे।१८३।

हे गुरुदेव! सामायिक का स्वरूप क्या है और उसके अतिचार कौन हैं, कहिए—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायचित्तचलनञ्च निरुद्ध्य साम्यं
धृत्वात्मबाह्यसकले भवदे पदार्थे।
लीनो भवेन्निजपदे हृदि यः स धीरः
सामायिकव्रतयुतो भवति प्रकामम् ।।१८४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वागित्यादिः— मनोव्यापारेण वाग्व्यापारेण कायव्यापारेण च यत् किलात्मनश्चलनं तदेव कर्मास्रवकारणं भवति। योगचञ्चलतया आत्मभिन्नेषु अखिलेष्वपि पदार्थेषु न साम्यबुद्धिर्भवति किन्तु इष्टानिष्टापत्तितः रागद्वेषावुत्पद्येते। रागद्वेषौ तु बन्धनहेतू। स एव संसारः। ततस्तान् योगान् एकस्मिन्नात्मस्वरूपे वा निरुद्ध्य यदि लीनः स्यात् तर्हि तस्य धीरवीरस्य सर्वत्र इष्टानिष्टबुद्धेरभावो भवति साम्यभावश्चोत्पद्यते। तदेव सामायिकम् । तत्कर्ता च सामायिकव्रती।।१८४।।

मन-वचनव्यापार और काय के अवलंबन से आत्मप्रदेशों में हलचल होती है। यही हलचल आत्मा को कर्माधीन करने में हेतु है। जब संसार के पदार्थों की ओर आत्मा का उपयोग होता है तब उस अनात्मयोगी के उन पदार्थों में आत्मसुख प्राप्त करने की कल्पना उठती है। जो पदार्थ इन्द्रिय विषयों के लिए साधक पड़ने लगते हैं उन्हें इष्ट मानकर संग्रह करता है और जो असाधक हों उनसे दूर रहना चाहता है। प्रत्येक पदार्थ में उसे भेददृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि एक आम का फल हाथ आया तो उसमें रसभाग से प्रीति और छिलका आदि के प्रति अप्रीति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार प्रीतिदायक व्यक्ति से प्रीति और अन्य से अप्रीति। कभी-कभी इष्ट पादर्थ के अनेक ग्राहक होने से भी पारस्परिक संघर्ष की स्थिति आ जाती है। संसार में यह प्रवृत्ति जीव की अनात्मबुद्धि होने के कारण अनादि से है।

सामायिक व्रत से यह रोग दूर हो जाता है। सामायिक व्रती आत्मभिन्न इन पदार्थों को ही आत्महित के बाधक मानकर उस ओर अपने मन, वचन और काय का व्यापार नहीं जाने देना चाहता। तीनों योगों की प्रवृत्ति आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व के स्वरूपालिंगन में ही करता है। यदि वह इस प्रयोग में सफल होता है तो आत्मबाह्य पदार्थों में उसे कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट कर प्रतीत नहीं होते। उनमें कोई भेद भाव नहीं होता। सब पदार्थों में साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है। वह समझता है कि ये अनात्मपूत पदार्थ हैं इनमें राग और द्वेष क्यों? पर पदार्थ मानकर उनके प्रति उपेक्षा और आत्मतत्त्व को निजस्वरूप मानकर उसके प्रति उपादेयता का भाव जागृत होता है। इस साम्य परणति का नाम ही सामायिक है। यह व्रत जिसे हो वह समझदार पुरुष सामायिक व्रत का व्रती है। यह व्रती सदा अपनी दृष्टि में यह रखता है कि आत्मबाह्य पदार्थों में कदाचित् भी राग द्वेष न हो। सबको एक ही दृष्टि से देखता है कि ये पर हैं मेरे लिए अनुपादेय हैं। सबपर समान भाव का नाम ही साम्य है। उसी साम्य भाव की प्राप्ति का प्रयत्न सामायिक है।।१८४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम स्मरण रूप सामायिक से गार्हस्थिक दैनिक पापों का नाश होता है, यह बतलाते हैं—

(अनुष्टुप्)

संरम्भादिकभेदाद्वा कायकृतादिभेदतः ।
क्रोधादिसंयुता जीवा पापञ्चाष्टोत्तरं शतम् ।।१८५।।
प्रतिदिनं प्रकुर्वन्ति दुःखदं तत्त्वतस्सदा ।
तन्नाशाय जपं कुर्याद् भक्त्या ह्यष्टोत्तरं शतम् ।।१८६।।युग्मम्।।

संरम्भेत्यादिः— कार्यकरणस्य विचारः संरम्भः। तत्साधनानामेकत्रीकरणं समारम्भः। तत्कार्यस्य प्रारम्भ एव आरम्भः। एतान् योगत्रयेण मनुष्यः यदि स्वयं करोति तदा तत्कृतमिति कथ्यते। अन्येन कारयति तदा कारितमिति। अन्यैस्तु क्रियमाणेषु कार्येषु तत्प्रशंसनं अनुमोदना। इत्यनेन प्रकारेण संरम्भादित्रयं त्रियोगेन करोति कारयति अनुमोदते च इति सप्तविंशतिप्रकाराणि पापानि कषायचतुष्काधारेण करोति चेत् अष्टोत्तरसंख्यकानि पापानि भवन्ति गृहाश्रमे प्रतिदिनमिति। तत्प्रक्षालनाय प्रतिदिनं परमात्मनः तन्नामानि अष्टोत्तरशतान्येव जाप्यानि। जपमालायां अष्टोत्तरशतगोलकानां संख्या भवत्यत एव।१८५/१८६।

गृहाश्रम में प्रतिदिन जो पुण्य या पाप के कार्य होते हैं उनका विभाजन १०८ प्रकार का किया गया है। उन १०८ प्रकार के पापों के प्रक्षालन हेतु १०८ बार परमात्मा का नाम स्मरण करना आवश्यक है। १०८ पाप कौन से हैं उनका विवरण किस भाँति हैं, आगे यह बतलाते हैं—

सर्वप्रथम मनुष्य उद्देश्य बाँधता है, कार्य करने का संकल्प करता है। इस उद्देश्य बंधन या संकल्प करण को संरम्भ कहते हैं। संकल्प के बाद उसे पूरा करने के लिए उस कार्य के पूर्ण करने योग्य साधनों को एकत्रित करने को सामारम्भ कहते हैं। साधनों के संगृहीत हो जाने पर उस कार्य का प्रारम्भ हो जाता है उसे शास्त्रकार आरम्भ कहते हैं। इस तरह इन तीनों को यह प्राणी मन, वचन व काय की सहायता से करता है, दूसरों से कराता है अथवा करनेवाले व्यक्ति के कार्य की अनुमोदना करता है। इस प्रकार ३ ३ ३ २७ प्रकार के इन पापों को क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के वश करता है। इस कारण पापों के भेद २७ ४ १०८ हो जाते हैं। जितनी संख्या में गृहाश्रम में ये पाप संभव हैं उतने दाने ही एक जपमाला में नियत किए गए हैं। यद्यपि जैनेतर बंधु भी १०८ दाने की माला जपते हैं, पर माला में १०८ दानों के रहने का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या हेतु है यह उन्हें ज्ञात नहीं। जैनाचार्यों ने उसका उक्त प्रकार से स्पष्ट विवेचन किया है। इन १०८ विधि से होनेवाले दुःखदायी संसार परिभ्रमण के हेतुभूत पापों से बचने के लिए सामायिक व्रती सामायिक के समय जपमाला के आश्रय से अथवा अपनी कराङ्गुलियों की सहायता से १०८ बार परम पूज्य परमात्मा का नाम स्मरण करे तो उसके दैनिक पापों का दैनिक प्रक्षालन हो जाता है। पापों का पहाड़ एकत्रित नहीं होता, अतः सामायिकव्रती का प्राथमिक कर्त्तव्य जिनेन्द्र के नामों का संस्मरण है।१८५।१८६।

नामस्मरण के बाद सामायिक में क्या करना चाहिए—

(अनुष्टुप्)

सत्प्रतिक्रमणं पश्चात् कार्यं निष्कामतो जनैः ।
स्वात्मशुद्धिर्यतः स्यात् कौ प्रेमवृद्धिः परस्परम् ।।१८७।।
वस्त्वन्यत्स्वात्मनो भिन्नं त्यक्त्वा ज्ञात्वेति चिह्नतः ।
स्वात्मन्येव निवासः स्यात् परं सामायिकं व्रतम् ।।१८८।।युग्मम्।।

सदित्यादिः— सांसारिकप्रयोजनमन्तरेण केवलं स्वात्मदोषशोधनाय प्रतिक्रमणं कर्त्तव्यम् । ये किल दोषाः संजातास्तेषां स्मरणं तदा भवति। व्रती तु विचारयति यत् यन्मया पापं कृतं तन्मे मिथ्या भवतु। अद्यप्रभृति एवंविधं-पापं न करिष्यामि। कृतपापतो मे मुक्तिः स्यात् । इत्येवं प्रतिक्रमो विधेयः। प्रतिक्रमेण वैरं दूरीभवति मैत्री वर्धते। विना प्रतिक्रमेण गृहस्थानां मुनीनां च व्रतानि न निर्मलानि भवन्ति। प्रतिक्रमणं व्रतिनां अत्यावश्यकं कर्म। तस्मात् प्रतिदिनं तत् कर्तव्यमेव। स्वात्मनो भिन्नानां वस्तूनां स्वरूपं सम्यक् परीक्ष्य तेभ्यो विरज्य स्वात्मन्येव स्वात्मनो निवासः सामायिकं व्रतम्भवति।१८७।१८८।

प्रत्येक व्रती के लिए प्रतिक्रमण एक आवश्यक कर्म है। बिना प्रतिक्रमण के मुनि या श्रावक अपने व्रतों में जीवित नहीं रह सकता। उसकी पदमृत्यु बहुत शीघ्र हो जायगी। प्रतिक्रमण व्रती के लिए रसायन है। दिव्यौषधि है। आत्मदोषों का स्मरण कर उसे दूर करने की भावना से व्रती जब अपने आप यह संकल्प करता है कि मैं इन पापों से मुक्त हो जाऊँ! मुझसे अब ऐसे पाप न बनें ऐसा प्रयत्न करूँगा तब वह प्रतिक्रमण का कर्त्ता माना जाता है। यदि हम अपने पापों पर स्वयं पश्चात्ताप करें तो हमारा वैरी भी शान्त हो जाता है। वह हमें क्षमा कर देता है। परस्पर प्रेम की वृद्धि होती है, अतः व्रती को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी आत्मा से भिन्न मूर्तिक या अमूर्तिक पर पदार्थों का विचार कर व चिह्नों से उनकी परीक्षा कर उनमें न उलझना तथा उन्हें आत्महित का बाधक समझ उनकी उपेक्षा करना और स्वात्मचिंतन कर स्वात्मा में लीन होना उसमें ही निवास करना सामायिक व्रत है। इस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति के लिए ही नाम स्मरण तथा प्रतिक्रमण का उपदेश दिया गया है।१८७।१८८।

सामायिक के करणीय कार्यों को ५ भागों में आचार्य विभक्त करते हैं। उनका वर्णन आगे दिया जाता है।

(अनुष्टुप्)

सिद्धार्हद्वन्दनां कृत्वा भक्त्यात्मनः स्पृहोज्झनात् ।
स्वात्मोत्थरसपानं हि श्रीदं स्याद्वन्दनाव्रतम् ।।१८९।।
चतुर्विंशतिदेवानां गुणान् स्तुत्वाऽऽत्मनोऽर्थतः ।
स्तुतिव्रतं वरं स्याद्धि चिद्रूपोत्थान्नभक्षणम् ।।१९०।।
द्रव्यादौ स्वकृतं त्यक्त्वा विभावमात्मनस्तमः ।
स्थितिरेवात्मसौख्ये हि स्यात्प्रतिक्रमणं व्रतम् ।।१९१।।
सावद्यद्रव्यसंजातं दोषं मुक्त्वात्मनः स्पृहाम् ।
शुद्धद्रव्ये स्थितिं कुर्यात् प्रत्याख्यानव्रतं भवेत् ।।१९२।।
स्वात्मास्ति शुद्धचिद्रूपो भिन्नो मे देहतः सदा ।
मत्वेत्यात्मनिवासः स्यात्कायोत्सर्गव्रतं वरम् ।।१९३।।

कुलकम् ।।

सिद्धार्हदित्यादिः— जिनवन्दना जिनस्तुतिः प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति पञ्चाङ्गानि सामायिकस्येति निरूपितानि आचार्येण। तद्विस्तरः १-लौकिकलाभादिकमनपेक्ष्य सम्यक्त्वोत्पन्न-जिनभक्तितोऽर्हतां सिद्धानामात्मरूपाणां वन्दना करणीया। अर्हन्तः सिद्धाश्च द्रव्यकर्मभावकर्मविमुक्तत्वात् शुद्धस्वात्मस्वरूपं प्रपन्नाः तेषां स्वरूपचिन्तनाद् भाक्तिकस्य स्वात्मामृतरसस्य स्वादनम्भवति। तदानन्द एव तस्य कल्याणप्रदोऽस्ति। इदमेव प्रथमं वन्दनाव्रतमस्ति। २-वृषभादिमहावीरपर्यन्तानां वर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकराणाम् अतीतानागततीर्थकराणाञ्च गुणान् स्मारं स्मारं स्वात्मन्यपि गुणाश्चैते स्वरूपेण सन्त्येव इति जिनस्तुतिप्रकरणेन स्वात्मगुणज्ञानं प्रकारान्तरेण स्वात्मोत्थगुणा एव वान्यानि तद्भक्षणात् आत्मक्षुत्राशः स्तुतिव्रतं भवति द्वितीयमिति। ३-यन्मया पूर्वं कृतोऽपराधः स मे मिथ्या भवतु। मम कृतदोषप्रक्षालनम्भवतु। इत्येवं प्रकारेण दिवसदोषान् रात्रिदोषान् ईर्ष्यापथदोषान् पक्षदोषान् चातुर्मासदोषान् वार्षिकदोषान् मरणकाले जीवनदोषांश्च स्वात्मनो निन्दागर्हाऽलोचनपूर्वक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षायलति विशोधयति चेति सप्तविधं प्रतिक्रमणं भवति स्वदोषशान्त्यर्थं सामायिकेऽपि तत्स्यात् इति तृतीयं प्रतिक्रमणं व्रतम् । ४-भूतकाले कृतकर्मणः निन्दया गर्हया च विशोधनं कृत्वा वर्तमानदोषांश्च आलोचनया विशोध्य भाविकाले एतादृगपराधो न स्याद् इति विचारणया दोषाणां स्यागः प्रत्याख्याननामकं चतुर्थं व्रतं स्यात् । ५-शरीरस्यापि ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वमापन्नः प्रलम्बितभुजयुग्मः ऊर्ध्वजानुः चतुरङ्गुलान्तरांघ्रियुग्मः सुस्थितो भूत्वा पञ्चनमस्कारमंत्रस्मरणं अष्टोत्तरशतवारं चतुःपञ्चाशद्वारं सप्तविंशतिवारं नववारं वा तत्कायोत्सर्गो नाम पञ्चमं व्रतम् । प्रतिक्रमणे प्रत्याख्याने कायोत्सर्गे स्तुतौ वन्दनायां वा निजविकृतपरिणामानां परित्यागाय सावद्यद्रव्यनिमित्तेन वा समुत्पन्नदोषनिराकरणाय देहात्मभेदज्ञानात् स्वपरस्वरूपं सम्यग्ज्ञात्वा स्वस्वरूपग्रहणे प्रयत्नः क्रियते। तस्यैव स्मरणं तस्यैव जपः तस्यैव वन्दना तस्यैव स्तुतिरिति स्वात्मोपलब्धै सर्वानप्युपायान् करोति। सामायिकाद्यावश्यकानां षण्णामेवात्र सामायिके वर्णनं कृतम्। सामायिकं तु मुख्यं इतरे पञ्चावश्यकास्तु तदङ्गीभूतास्तस्मात्तेषामत्र सामायिकव्रत एव समावेशः कृतः इत्येवं पञ्चाङ्गसमेतं सामायिकं करणीयम् । तदेव सामायिकं व्रतमिति। १८९।१९०।१९१। १९२।१९३।

जिनवन्दना, जिनेन्द्र की स्तुति करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये पाँच सामायिक के अंग आचार्यों ने उपदेशित किए है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१—लौकिक लाभ प्रतिष्ठा अथवा अन्य प्रयोजन की अपेक्षा न करके केवल श्रद्धावश उत्पन्न हुई जिनभक्ति के कारण अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा की वन्दना करना चाहिए। ये दोनों परमेष्ठी क्रमशः बहुदेश या सर्वदेश रूप से द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित होकर शुद्ध स्वात्मस्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। इनके स्वरूप चिन्तन से भक्त पुरुषों को स्वात्मा के स्वरूप का दर्शन होता है। शुद्धान्तःस्वरूप परमात्मा हमारे आत्मा के प्रतिबिम्ब जैसे हैं। उन्हें देखकर हम आत्मस्वरूप की पहिचान करते हैं। आत्मोत्पन्न अमृतरस का स्वाद हमें उनके दर्शन से प्राप्त होता है, अतः जिन की वन्दना कल्याण-प्रद है।

२—ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त वर्तमान चौबीस तीर्थंकर भगवान अथवा भूतकाल या भाविकाल में होनेवाले चौबीसों तीर्थंकर अथवा विदेहक्षेत्रों में विद्यमान सीमंधरादि बीस तीर्थंकर हैं। इन सबके गुणों का बार-बार स्मरण कर यह विचार करना कि मेरे आत्मा में भी ये गुण विद्यमान हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप तो इसी प्रकार है। इस तरह जिनेन्द्र की स्तुति के आधार से अपने स्वरूप का चिन्तवन करना आत्मा की बुभुक्षा को आत्मगुण रूपी अन्न भक्षण से शान्त करना ही जिनेन्द्र-स्तुति है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३—तीसरा अंग है प्रतिक्रमण। इसका स्वरूप इस प्रकार है यह विचार करना कि मुझसे जो प्रमादवश अपराध हुए हैं वे दूर हों। मेरे दोष मुझसे पृथक् हों। मैं निर्दोष बनूँ। इस प्रकार के विचारों से अपनी आत्मा के कृत अपराधों की आलोचना पूर्वक उनसे अपने को मुक्त करने की भावना करना प्रतिक्रमण है। व्रती पुरुष को दिन में जो दोष प्राप्त हुए हों उनको दूर करने का परिणाम दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रि सम्बन्धी दोषों को दूर करना रात्रिकप्रतिक्रमण है। इसी तरह पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक दोषों को दूर करना उक्त नाम के प्रतिक्रमण हैं। जीवन के अन्त में जीवनभर के दोषों की विशुद्धि के लिए भी प्रतिक्रमण किया जाता है। उक्त सातों प्रसंगों पर अपने दोषों का स्मरण कर आत्मनिन्दा पूर्वक उनका विशोधन करना सात प्रकार का प्रतिक्रमण है।

४—अतीत काल के दोषों को जैसे निन्दा गर्हापूर्वक तथा वर्तमान दोषों को आलोचनापूर्वक विशुद्ध करके फिर यह विचार करना कि भविष्यकाल में मैं इस प्रकार के दोषों को अपने में न लगने दूँगा। ऐसे प्रयत्न का नाम प्रत्याख्याननामा चतुर्थ अंग है।

५—अपने शरीर से ममत्व परिणाम (यह मेरा है ऐसा परिणाम) त्यागकर निर्मोह भाव को प्राप्त कर स्थिर होकर पञ्चनमस्कार मंत्र का ध्यसान करना कायोत्सर्ग नामा पाँचवाँ अंग है। दोनों हाथ नीचे उन्मुक्त छोड़ना, दोनों पैरों के बीच ४ अंगुल मात्र अन्तर रखकर खड़े होना तथ काष्ठ या पाषाण की तरह स्थिर होकर जपना यह कायोत्सर्ग की मुद्रा है। मुख्य प्रयोजन कायोत्सर्ग का काय से भी निर्ममत्व होना है। इसमें नवबार, सत्ताईस बार, चौअन बार या एक सौ आठ बार भी जाप किया जाता है। सामायिक के इन पाँचों अंगों के करने में मुख्य हेतु क्या है इस प्रश्न का विचार करना आवश्यक है।

सामायिक का उद्देश्य है समता परिणामों की प्राप्ति अर्थात् रागद्वेष से रहित आत्मपरणति स्वरूप बनना। उक्त पाँचों अंग उसके शरीरभूत हैं। उनके बिना समता परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते।

जब व्रती यह विचार करता है कि मेरा स्वरूप यथार्थतया श्रीजिनेन्द्र के शुद्ध स्वरूप की तरह रागद्वेष से विमुक्त है, निरञ्जन है, निराकार है और द्रव्य-भाव कर्म से रहित है, तब ही उसे अपने अतीत अपराधों की याद आती है। वह अपने अतीत दोषों पर विचार करता हुआ उनसे उन्मुक्त होना चाहता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जबतक मैं उक्त दोषों से रहित नहीं हूँ तबतक शुद्ध कैसा? यह तो मात्र विडम्बना होगी, अतः आत्मग्लानि उसे उत्पन्न होती है। वह सतत विचारता है कि इन दोषों से मैं कैसे छूटूँ। जबतक इनसे नहीं छूटा तबतक शुद्धि कैसी? इस प्रतिक्रमण से उत्पन्न उलझन को प्रत्याख्यान सुलझा देता है।

वह भविष्य में मैं किसी प्रकार से ऐसे अपराध न करूँगा, अपने में यह कालिमा न लगने दूँगा ऐसा दृढ़ निश्चय करता है। इसी का नाम है दोषों का त्यागरूप प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में, कायोत्सर्गरूप ध्यान में तथा जिन वन्दना जिनस्तुति आदि कार्यों में व्रती अपने विकृत परिणामों का त्याग करता है। सावद्य कार्यों के निमित्त से जो दोष उत्पन्न हो गए हैं उनका निराकरण करता है। स्व-परभेद विचार द्वारा परित्याग कर स्वग्रहण का प्रयत्न करता है। उस विशुद्ध रूप का ही स्मरण, उसी का जप, उसी की वन्दना और उसी की स्तुति करता है। इस प्रकार स्वात्मोपलब्धि का प्रयत्न सब ओर से करना ही सामायिक व्रत है। समता उद्देश्य है और ये पाँच उसी के साधक हैं। अथवा समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ऐसे छह आवश्यक भी सामायिक के अंग माने गए हैं। पाँच और छह का वर्णन केवल वर्णन की शैलीमात्र है वास्तव में दोनों एक ही हैं।

उक्त प्रकार से अपने को राग-द्वेष से विमुक्त कर साम्यावस्था की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का जो नियम है वही सामायिक व्रत है। यह व्रत प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में कम से कम २ घड़ी (४८मिनिट) मध्यम प्रमाण से ४ घड़ी और उत्तम प्रमाण से ६ घड़ी का प्रतिदिन करना चाहिए। १८९।१९०।१९१। १९२।१९३।

तदतिचाराः

अब सामायिक व्रत के अतिचार लिखते हैं–

(अनुष्टुप्)

मनोदुष्प्रणिधानाद्या अतिचारा भवप्रदाः ।
न कार्या भ्रान्तिदा भव्यैः स्वस्थः स्वात्मा भवेद्यतः ।।१९४।।

मन इत्यादिः– वाक्कायमानसानां सामायिकक्रियातिरिक्तविषयेषु क्रियाकरणं सामायिकस्य त्रयोऽतिचाराः सन्ति। योगत्रयस्यैव माहात्म्यं यत् जीवः कर्मणा बद्ध्यते योगचाञ्चल्याभावे तु न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मणामास्रवः स्यात् । सामायिके एष एव प्रयत्नः यत्पञ्चेन्द्रियविषयेषु क्रोधादिकषायेषु च योगत्रयाणाम्प्रवृत्तिर्न स्यात् । तत्प्रवृत्तौ तु दुष्कर्मणामास्रवणात् संसारपरिभ्रमणे चतुर्गतिसंसरणे वृद्धिर्भवति इति मनसा जिनगुणानेव चिन्तयेत् वचसा तानेवोच्चारयेत् कायेन जिनवन्दनादिकमेव कुर्यात् । तस्माच्चलनमेवातिचाराः सामायिके दोषप्रदाः। अनादरेण सामायिककरणं तत्क्रियाविस्मृतिश्च अतिचारौ। इत्येव पञ्चातिचारान् परित्यज्य सामायिकं कुर्यात् येनात्मा स्वात्मदेशं व्रजेत् ।।१९४।।

मन की चञ्चलता, वचनव्यापार और शारीरिक क्रिया इन तीनों योगों का सञ्चलन संसारी प्राणी के अपनी-अपनी योग्यतानुसार सदा होता रहता है। सामायिक व्रत में इन तीनों योगों को सांसारिक विषयों से और उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति में होनेवाली कषायों से बचाकर साम्यभाव की प्राप्ति के लिए लगाने का प्रयत्न किया जाता है। यदि सामायिक व्रती अपने योगों को इस प्रयत्न से हटाकर विषय कषायों में प्रमादवश चलाता है तो उसके व्रत के लिए ये तीनों दोषरूप हैं।

तीनों ही योगों की चञ्चलता से यह जीव कर्मों के द्वारा बँधता है, क्योंकि जीव में कर्मों का प्रवेश इन्हीं के द्वारा होता है, कषायभाव इनका दृढ़ बंधन आत्मा के साथ कर देते हैं। यदि योगों की चञ्चलता मिट जाय तो कर्मों का प्रवेश ही आत्मा में नहीं हो सकता और आस्रव के अभाव में संसार-चक्र का परिभ्रमण भी मिट जाय।

यदि योग की प्रवृत्ति साम्यभाव से च्युत हो जाय तो भी उसे जिनगुण चिन्तवन में, जिनेन्द्र के नामोच्चारण में और जिनवन्दनादि कार्यों में ही लगाना चाहिए न कि विषयकषायादि के चिन्तवन आदि में। इन तीन अतिचारों के सिवाय सामायिक का चौथा अतिचार है सामायिक के कार्य में आदरभाव न होना। अनादर होने पर सामायिक की क्रियाओं का विस्मृत हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। अतः सामायिक की क्रियाओं का भूल जाना यह पाँचवाँ अतिचार है। इस प्रकार सामायिक व्रत के पाँच अतिचारों का निरूपण किया।

सदोष आचरण ही अतिचार है। जिस व्रत को स्वीकार किया यदि उसके पालन करने में व्यक्ति उद्देश्य को भूल जाता है तो वह व्रत सदोष बन जाता है। उसके पास व्रत की खोल रह जाती है और उसका सारभाग नष्ट हो जाता है। सामायिक व्रती भी सामायिक को इसलिए स्वीकार किए है कि इसके द्वारा मैं उस परम साम्यावस्था को प्राप्त हो जाऊँ जो कि अन्तिम ध्येय है। यदि वह सामायिक सम्बन्धी समस्त बाह्य क्रियाओं का आलंबन कर संतुष्ट हो जाय, अपने मूलोद्देश्य को भूल जाय तो मन, वचन, काय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की अन्यथा प्रवृत्ति हो जाना स्वाभाविक है तथा मानसिक असावधानी से सामायिक में चित्त न लगना उसकी समस्त क्रियाओं के प्रति अनादर भाव का होना ही सम्भव है। जिस कार्य में अनादर भाव है उसके कार्य भूल जायँ, यह भी सुसंगत है। इस प्रकार एक अतिचार अन्य अतिचारों का जनक है और ये व्रत से भ्रष्ट होने का द्वार खोल देते हैं।

संसार भ्रान्ति के दाता अतिचारों से या इसी प्रकार के अन्य संभावनीय दोषों से जो अपने को मुक्त कर सके, उसी आत्मा में स्वात्मस्थित होने की सामर्थ्य है। यही सच्चा स्वास्थ्य है, यही आत्मा के लिए निरोगावस्था है। इस दुखद अवस्था को प्राप्त करना ही सामायिक व्रत का ध्येय है। अतः अतिचारों से अपने को मुक्त करना चाहिए ताकि हम स्वस्थ और सुखी बन सकें।१९४।

प्रश्नः—प्रोषधोपवासस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप मुझे बताइए—

(इन्द्रवज्रा, उपजातिश्च)

सर्वेन्द्रियाणां सुखदं हि धर्म्यध्यानं यथावद् गृहिणां च न स्यात् ।
तत्पर्ववारेषु चतुर्विधञ्चाहारं कषायं विषयं विचार्य ।।१९५।।
त्यक्त्वोपवासः क्रियते स्वधर्मे सदा स्थितैः यैस्सुगतिश्च तेषाम् ।
श्रेष्ठोपवासोभवतीह लोके पूर्वोक्तवाक्ये न च सङ्कनीयम् ।।१९६।।युग्मम्।।

सर्वेत्यादिः— गृहस्थावस्थायां सर्वसुखस्थानं धर्म्यध्यानं सदा न भवति। अतः तत्प्राप्त्यर्थं अष्टम्यां चतुर्दश्यां च सदा विषयभोगान् क्रोधादींश्च परित्यज्य चतुर्विधञ्चाहारं शरीरमददायकं मत्वा विहाय स्वधर्मे निवासः उपवासः कथ्यते। ये व्रतिनः पूर्वोक्तप्रकारेण उपवासं स्वीकुर्वन्ति तेषां सदा सुगतिः स्यात् । दुर्गतिश्च न स्यात् । इत्यास्मिन् उपदेशे शङ्का न कर्तव्या, धर्म्यध्यानेन दुष्कृत्यानामभावात् । यतो दुष्कर्मणामप्यभावो भवत्यतो निष्पापिनस्ते सुगतिमेव यान्ति। क्रमशः पंचमगतिं मोक्षमपि प्राप्नुवन्ति। इति सम्यग् विचार्य निःशंकतया प्रोषधोपवासव्रतमङ्गीकरणीयम् ।१९५।१९६।

गृही गृह की अनेक झंझटों के कारण सम्पूर्ण सुख का निधान जो आत्मध्यान या धर्म्यध्यान है उसे सदा नहीं कर सकता है, अतः जिस प्रकार प्रातः, सायं या मध्याह्न काल में कुछ नियमित समय के लिए वह सर्व पापारम्भ का त्याग कर अपनी साम्यावस्था को अपने समीपस्थ करने के प्रयत्न स्वरूप सामायिक को स्वीकार करता है। उसी प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्ताह में एकबार अष्टमी और चतुर्दशी के पुण्य पर्व में भी वह उस साम्यावस्था को रात्रि-दिन समीपस्थ करने का प्रयत्न करता है। इसी क्रिया का नाम प्रोषधोपवास व्रत है।

इस व्रत के पालन करने के लिए उसे सर्वप्रथम यह विचार करना पड़ता है कि मुझे आज जबतक उक्त व्रत का समय है किसी भी प्रकार का कषाय भाव चाहे वह क्रोध हो, मान हो, मायाचारी हो, लोभ हो, अथवा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, गुगुप्सा हो अथवा स्त्री-पुरुष या अनुभय रूप विकृत परिणाम हों उसने अपने को सर्वथा बचाना है। इनमें से कोई भी कषाय या नोकषाय मुझपर अपना प्रभाव न ला सके, इसके लिए वह अपने को संवृत रखता है।

कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही वह पञ्चेन्द्रिय के विषयों को उस दिन अङ्गीकार नहीं करता। ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना समय व्यतीत करता है। नाना रसों के स्वादरूप रसनेन्द्रिय के विषयों से बचने के लिए या तो आहार मात्र का त्याग करता है अथवा नीरस आहार ग्रहण करता है। घ्राणेन्द्रिय के विषय त्याग के लिए सुगन्धित पुष्प, तेल, इतर अथवा चंदन, केशर आदि पदार्थों का उपयोग नहीं करता। चक्षुरिन्द्रिय के विषय को जीतने के लिए देशाटन करने, नाटक, सिनेमा या अन्य दृश्यों को देखने से अपने को दूर रखता है। मधुर संगीत, वाद्य आदि कर्णेन्द्रिय के विषयों से अपने को बचाता है। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को इस प्रकार वश में रखता है जैसे कछुआ किसी भी विपत्ति की आशंका से अपने हाथ, पैर, मुख आदि सम्पूर्ण अवयवों को एकत्रित कर संकुचित कर छिपा लेता है और अपने पृष्ठ बलपर आनेवाले सम्पूर्ण आघातों को सह लेता है पर अपने अन्य किसी भी अंग पर चोट नहीं आने देता।

उक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए शारीरिक उन्मत्तता पर विजय प्राप्त करने के लिए, इन्द्रियों का मान मर्दन करने के लिए, विषयों को जीतने के लिए, मन को वश में रखने के लिए और पापारम्भ की सम्पूर्ण क्रियाओं से अपने को बचाने के लिए वह उसदिन जबतक व्रत का समय है आहार का भी त्याग करता है।

इस तरह कषाय, विषय और आहार का त्याग कर निद्रापर विजय प्राप्त कर अपने समय का धर्मध्यान द्वारा सदुपयोग करने वाला व्रती प्रोषधोपवासी कहलाता है। प्रोषधोपवास के उक्त चिह्न हैं या स्वरूप हैं। यह निःसंदेह सुगति का कारण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रोषधोपवास में प्रोषध और उपवास दो शब्द मिश्रित हैं। इसका अर्थ है कि प्रोषध अर्थात् पर्व के दिन करना। उपवास शब्द का अर्थ है उप-समीपे वसतीति उपवासः अर्थात् सर्वारम्भ को छोड़कर जो अपने समीप आ जाये अर्थात् अपनी आत्मा का अवलम्बन करके रहे। सारांश यह कि आहार, व्यापार, परिग्रह, पंचेन्द्रियविषय, भोगविलास तथा कषाय भावों के वश न होकर आत्मा की सच्ची साम्यावस्था स्वाधीनावस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न ही उपवास है।

प्रोषध का अर्थ सकृद्भुक्ति अर्थात् एक बार भोजन करना है ऐसा भी कई ग्रन्थकारों ने लिखा है। इस व्रत के उत्तम मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद भी किए गए हैं।

उत्तम प्रोषधोपवास वह है—जो अष्टमी, चतुर्दशी के पूर्वदिन में एकाशन पूर्वक प्रारम्भ होता है तथा पर्व के दूसरे दिन एकाशन के बाद समाप्त होता है। अर्थात् अष्टमी का प्रोषधोपवास सप्तमी और नवमी को एकाशन और अष्टमी को उपवास (निराहार) करने से होता है। इसी प्रकार त्रयोदशी और पूर्णिमा या अमावस्या को एकाशन पूर्वक चतुर्दशी को उपवास (निराहार) करना चतुर्दशी का प्रोषधोपवास कहलायगा। धारणा के दिन से पारणा के दिन तक यह १६ प्रहर का उपवास होता है। मध्यम प्रोषधोपवास की रीति यह है कि केवल अष्टमी को या चतुर्दशी को उपवास करना। यह व्रत सप्तमी या त्रयोदशी के संध्याकाल से प्रारम्भ हो जाता है और नवमी या पूर्णिमा अथवा अमावस्या के प्रभातकाल समाप्त होता है। अतः यह १२ प्रहर का उपवास मध्यम व्रत कहलाता है। पारणा के दिन दो प्रहर के बाद भोजन ग्रहण करने के कारण यह १४ प्रहर का भी कहलाता है। जघन्य प्रोषधोपवास व्रत वह कहलाता है कि जो व्यक्ति १६ या १२ प्रहर तक निराहार नहीं रह सकता। उसे आहार के बिना आकुलता हो जाती है, अतः वह पर्व के दिन रसरहित, स्वादरहित सादा भोजन अल्पमात्रा में ग्रहण कर अगले दिन उसी समय तक निराहार रहता है अतः उसके ८ प्रहर पर्यन्त आहार का त्याग रहने से वह जघन्य व्रत कहलाता है।

ये तीनों ही व्रती आहार न करने मात्र से अपने को कृतकृत्य नहीं मान सकते। अर्थात् आहार छोड़ देने मात्र से वे उक्त प्रोषधोपवास व्रत के व्रती हो गए ऐसा नहीं है किन्तु अपने नियमित समय में सम्पूर्ण पाप और आरंभ का तथा विषय और कषायों का त्याग कर व्रत का समय महाव्रती के विशुद्ध परिणामों जैसा व्यतीत करे। धर्मध्यान पूर्वक समय-यापन करे। स्वाध्याय धर्मचर्चा धर्मगोष्ठी करे तो वह व्रत है अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहीं-कहीं उत्तम और मध्यम प्रोषधोपवास का उक्त रूप स्वीकार करते हुए भी जघन्य प्रोषधोपवास के स्वरूप में अन्तर माना है। वे ऐसा लिखते हैं कि पर्व के दिन और रात्रि के ४ प्रहर ऐसे आठ प्रहर निराहार रहना उपवास करना जघन्य व्रत है। पर यह व्रत इस रीति पर भी १२ प्रहर का होगा। कारण कि पर्व की पूर्व रात्रि में वह आहार त्याग न करे केवल अष्टमी या चतुर्दशी के प्रभात से ही आहार का त्याग करे यह व्रती के लिए संभव नहीं है। रात्रि भोजन का त्याग तो उसे मूलगुणों में ही हो चुका है। व्रत प्रतिमा में वह रात्रि भोजन का त्यागी न हो यह बात संभव नहीं। ऐसी स्थिति में उक्त रीति का आठ प्रहर का उपवास संभव नहीं मालूम होता। यह अधिक सुसंगत है कि दो भोजन दिन के कहे गए हैं। वह अष्टमी या चतुर्दशी का एक भोजन कर दूसरा भोजन त्याग कर देता है और अष्टमी चतुर्दशी के दोपहर से नवमी के दोपहर तक ८ प्रहर (२४घण्टे) निराहार रहता है। इस प्रकार वह जघन्य व्रती होता है। किसी भी प्रकार का व्रती हो उसे व्रत मात्र में विशुद्ध परिणाम और धर्मध्यान करना चाहिए तभी उसका व्रत व्रतसंज्ञा को प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।१९५।१९६।

तदतिचाराः

अब प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार बतलाते हैं--

(उपजातिः)

सन्मार्जनेनैव विना पृथिव्यां विलोकनेनैव विना पदार्थाः।
ग्राह्या न तेषां त्यजनं न कार्यं यतो भवेत्कौ स्वपरात्मरक्षा ।।१९७।।

सन्मार्जनेनैवेत्यादिः— विषयेच्छाकषायोद्रेकाभ्यां विरहितो व्रती यानि कार्याणि करोति तेषु सर्वेष्वपि पूर्वमेव विचिन्तयति यत्सत्कार्यनिमित्तेन केषामपि जीवानां बाधा न स्यात् । यदि व्रती इत्येवंप्रकारेण विचारविरहितः अनवेक्षिते अशोधिते वा भूम्यादिके गच्छति जीवरक्षामविचार्य वस्तूनि गृह्णाति स्थापयति च मलमूत्रादिकमप्येवमेव यत्र कुत्रापि निक्षिपति स्वयमपि अशोधिते संस्तरे स्वपिति तिष्ठति अनादरभावेन अनैकाग्र्येण सालसेन परिणामेन प्रमादपरणत्या वा कर्त्तव्याकर्त्तव्ये विस्मारयन् कार्याणि करोति तदा तस्य व्रतं सदोषं (सातिचारम्) एव भवति। एवं करणेन न स्यात् पररक्षा न च स्वात्मरक्षा। परहिंसया स्वस्यैव हिंसा भवति, कर्मबन्धहेतुत्वात् । व्रतादीनां पालनं तु संवरार्थमेव क्रियते। तत्र दोषोत्पादने न भवति संवरः। अतो न स्यात् स्वात्मनो रक्षा। तस्मात्सदा प्रयत्नतो व्रतं पालनीयम्।।१९७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रोषधोपवास व्रती विषयों की इच्छा और कषायभाव से रहित होने के कारण जो भी कार्य करता है उसमें यह विचार अवश्य रखता है कि मेरे किसी भी कार्य के द्वारा किसी भी जीव को बाधा उत्पन्न न हो।

यदि वह ऐसा विचार न रखे, और बिना देखे तथा बिना शोधे ही चले, जीव रक्षा का विचार किए बिना ही वस्तुओं को उठाये या रखे, अशोधित स्थान व आसन पर बैठे या शयन करे, शास्त्र स्वाध्याय सामायिक आदि तथा जिन पूजनादि कार्यों में भी यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करे, जहाँ कहीं भी जिस किसी भी प्रकार मल-मूत्र आदि शारीरिक-मलों को त्याग करे, आदर व ग्राह्येच्छा रहित आलस्य पूर्वक लापरवाही से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बिना विचार किए यदि कार्य करे व्यवहार करे तो उस व्रती का व्रत सदोष अर्थात् सातिचार है।

स्व-पर रक्षा व्रत का लाभ है। सदोष व्रती उक्त लाभ से वंचित रहता है। परघात की अभिलाषा न रहते हुए भी, उनके प्रति क्रोधादि कषायों का भाव न रहते हुए भी अपने प्रमाद मात्र या असावधानी से परघात हो जाता है। इस असावधानी का कारण है चित्तवृत्ति की अनेकाग्रता। चित्त यदि अनेक विचारों में अनेक चिन्तनों में मग्न रहता है तब व्रत पालन में या तत्संबंधी कार्यों के करने में स्वयं ही गलती हो जाती है। अतः व्रती को व्रत के प्रति आदर भाव रखकर चित्त की सावधानी रखनी चाहिए। यदि सावधानी रहे तो उक्त दोष उत्पन्न नहीं हो सकते।

स्वपरिणामों की अस्थिरता ही बंध का कारण है। परिणामों की स्थिरता के हेतु ही व्रत उपवासादि हैं। तब ही वे संवर (कर्मो का न आ सकना) के लिए कारण होते हैं। संवर होने से स्वात्मरक्षा ही होती है। इस प्रकार से पररक्षा की सावधानी में हमारी वास्तविक रक्षा है। संसारी प्राणी सदा ही कर्म के आगमन, बंध, उदय और उदीरणा से त्रस्त है। इस सनातनी प्रक्रिया को जब तक बन्द न किया जाय तब तक यह प्राणी सुखी नहीं बन सकता। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय और चारित्र ये संवर के हेतु आचार्यों ने बताए हैं। इससे यह प्रमाणित है कि निर्दोष व्रत का यदि पालन किया जाय तो यह आत्मा नवीन कर्म बंधनों से नहीं बंधता। इस विचार से भी उक्त सम्पूर्ण दोषों को टालकर व्रत के समय साम्यभाव पूर्वक रहकर उसका सुन्दरता से विधिवत् निर्वाह करे जिससे स्व-परकल्याण हो।१९७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नः—भोगोपभोगव्रतस्य किं चिह्नमत्ययाश्च के?

हे गुरुदेव! भोगोपभोग व्रत का क्या स्वरूप है और उसके अतिचार कौन कौन हैं, कृपया मुझे बताइए—

(वसन्ततिलका)

मोहादिकर्मरिपुसंघविनाशनार्थं कृत्वा प्रमाणमिति वस्त्रधनादिकानाम् ।
यः प्रत्यहं निजपदे निवसेत्कृतार्थी भोगोपभोगविरतः स भवेद् व्रतेशः।।१९८।।

मोहेत्यादिः— परिग्रहप्रमाणव्रते धनधान्यादिवस्तुषु प्रमाणं कृतमासीत् । तथापि तत्रापि मोहनिवारणार्थं सकृद् भोगयोग्यानां भोगपदार्थानां भोजनगंधादीनां असकृद् भोगयोग्यानामुपभोगपदार्थानां वस्त्रादीनाञ्च नियतकालपर्यन्तं नियमरूपं अनियतकालपर्यन्तं यावज्जीवं यमरूपं वा यत्परिमाणं क्रियते तदेव भोगोपभोगपरिमाणव्रतमिति व्रतमिदमखिलेषु व्रतेष्वपि ईशवत् श्रेष्ठमित्यर्थः। अतः सर्वेष्वपि परपदार्थेषु ममत्वपरणतिं विहाय स्वात्मस्वरूपे निवासः करणीयः। इदमेवोद्देश्यं सर्वेषामपि व्रतानाम् । स भोगोपभोगविरतस्तु भोगोपभोगप्रमाणव्रते नियतांशेषु भोगानामुपयोगानाञ्च परित्यागात् शेषांशेषु च परिगृहीतेष्वपि अग्राह्यबुद्ध्युत्पादकत्वात् सन्निहितो वर्तते। अतः स सर्वेष्वपि व्रतिषु ईशत्वं प्राप्नोति।१९८।

पञ्चाणुव्रतों में पाँचवाँ परिग्रह परिमाण व्रत है। इस व्रत में श्रावक ने गृहीत परिग्रहों को न्यून करने के लिए धन, धान्य, वस्तु, गृह, सुवर्ण, चाँदी आदि दसप्रकार के पदार्थों को जो दैनिक उपयोग के होने से परिगृहीत हैं घटाया था। अल्प परिग्रह से ही अपना व्यावहारिक कार्य चल सके ऐसा विचार कर प्रमाण नियत किया था। इस भोगोपभोग प्रमाण व्रत द्वारा उनमें भी क्षीणता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जो पदार्थ दैनिक उपयोग में आते हैं पर जो एक बार काम में आकर नष्ट हो जाते हैं उनका दूसरी बार उपयोग नहीं हो सकता ऐसे पदार्थ भोग संज्ञा को प्राप्त होते हैं। जैसे भोजन के सब पदार्थ, शरीर पर लगने के तेल, उपटन, सुगंधित अन्य पदार्थ, नस्य, अञ्जन, गीत, नृत्य आदि। जो भोजन उदरस्थ किया गया है वह लौटाकर पुनः नहीं किया जा सकता। जो तेल फुलेल शरीर पर लगा दिया गया है वह एक बार में ही समाप्त हो गया। दूसरी बार उपयोग की आवश्यकता होने पर दूसरा भोजन पदार्थ या दूसरा तेल उपयोग में लाना पड़ेगा। व्यक्तिगत रीति पर इन पदार्थों का उपयोग इसी प्रकार किया जा सकता है। यही बात नस्य और अञ्जन की है। संगीत के जो शब्द तथा नृत्य के जो हाव भाव एक बार सामने आए वे नष्ट हो गए, दूसरी बार दूसरे शब्दों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग गायक करेगा तथा दूसरी बार पुनः उसी प्रकार की चेष्टा नर्तक करेगा। वे ही शब्द अथवा वहीं हाव भाव वापिस लौटाया नहीं जा सकता। केवल पुनरुक्ति हो सकती है।

जो पदार्थ एक बार काम में आने पर भी स्थिर रहते हैं तथ जिन्हें दूसरी बार भी काम में लाया जा सकता है उन्हें 'उपभोग' संज्ञा प्राप्त है। जैसे वस्त्र, शय्या, गृह, लाठी, बाग-बगीचे, टेबिल, कुर्सी, खेत, सड़क, बोतल, चित्र और दर्पण आदि। इन पदार्थों के कुछ काल तक स्थिर रहने से ये अनेक बार उपभोग में लाए जा सकते हैं, अतः उपभोग कहलाते हैं। यदि विषय ग्रहण करने वाली इन्द्रियों द्वारा विभाजन करें तो रसना और श्रोत्र द्वारा गृहीत विषय भोग की श्रेणी में आते हैं तथा स्पर्शन घ्राण और चक्षु द्वारा गृहीत पदार्थ दोनों प्रकार के पाए जाते हैं। उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए कि शरीर पर जो तेल भोजन और उपटन आदि पदार्थ उपयोग में आते हैं वे भोग हैं। शय्या और शीत वारणार्थ वस्त्र आदि पदार्थ स्पर्शन के विषय होते हुए भी अनेक बार उपयोग में आते हैं, अतः उपभोग हैं। नस्य या इतर आदि घ्राण के भोग हैं। एकबार काम में लेने के बाद वे नष्ट हो जाते हैं। पुष्प जो कई बार सूँघा जा सकता है वह उपभोग है। पुष्पमाला को कहीं कहीं भोग में परिगणित किया है वह इस व्यवहार की अपेक्षा किया है कि पुष्पमाला का उपयोग एकबार सूँघने या गले में डालने के बाद दूसरी बार या दूसरे व्यक्ति के लिए वह अयोग्य मानी गई है ऐसा लोक व्यवहार है। पर यदि व्यवहार के चलने के नियमों की ओर ध्यान न देकर एक ही पुष्पमाला का दिन में १० बार उपयोग करें या १० व्यक्ति उसका उपयोग करें तो कर सकते हैं। इस अपेक्षा उसकी उपभोग में भी गणना की जा सकती है। नेत्र के विषयभूत पदार्थ विभिन्न दृश्य स्थिर भी रहते है अतः उपभोग रूप भी हैं, और बिजली की चमक तथा सिनेमा के परिवर्तनशील चित्र आदि भोग रूप भी हैं। वे एक बार दिखाई देते ही छाया रूप होने से समय-समय में परिवर्तित होते जाते हैं। अन्य समय में अन्य चित्र की अथवा उसी चित्र की दूसरी छाया के दृश्य दिखाई देते हैं। इस प्रकार भोगोपभोग का स्वरूप आचार्यों ने बताया है।

इन पदार्थों के उपयोग से केवल विषय और कषाय ही परिपुष्ट होते हैं अथवा कषायोद्रेक से ही हम इन पदार्थों का उपयोग करते हैं, इनका संग्रह करते हैं और इनमें ममत्व भाव करते हैं। यदि हम अपनी विषयेच्छा को कम कर सकते हैं तो हमें इनका जितना कम से कम ग्रहण हो उतना इनका कम से कम उपयोग करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय और कषाय ये दोनों ही संसार में दुःखप्रद हैं। इनके वश प्राणी स्वात्मस्वरूप की भूमिका को त्याग कर अन्य भोग और उपभोग के पदार्थों के ग्रहण की ओर दौडता है तथा उनके संयोग की तरह उनका वियोग न हो इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। स्वेष्ट आत्मीक ज्ञान, दर्शन, अनन्त सुख और बल से विमुख हो परपदार्थों में ही इष्ट कल्पना करता तथा उन्हें ही इष्ट मानकर निजस्वरूप को भूला रहता है। जिन्हें इष्ट माना है उनके ग्रहण और संग्रह में यदि कोई बाधक कारण है तो उसे अनिष्ट समझ कर दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों में जो इष्टानिष्ट कल्पना प्राणी को उत्पन्न हो गई है उसके कारण इष्ट के संयोग के लिए तथ अनिष्ट के निराकरण करने के लिए दिनरात चिन्तन करता है। जिससे इसके इष्टसंयोगज और अनिष्टवियोगज आर्तध्यान होता है जो इसे निरन्तर कर्मबंधन के चक्र में बाँधे रहता है। इष्ट संयोग के अभाव में अथवा अनिष्ट पदार्थ के संयोग में दुःख उत्पन्न होता है। उस पीड़ा को दूर करने के लिए 'पीड़ाचिन्तन' आर्तध्यान होता है। साथ ही भविष्य में यह प्रयत्न करूँ कि मुझे इष्ट संयोग अधिक से अधिक हो, ऐसे भावी भोगों की चिन्ता में मग्न होने से 'निदान' नामक चौथा आर्तध्यान होता है। इन चारों आर्तध्यानों के कारण हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह की दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इन पापों को इष्ट संयोग का कारण मान इनके करने में आनन्दित होता है, जिसे रौद्रध्यान कहते हैं। इस प्रकार भोगोपभोग के हेतु आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का अवलम्बन करनेवाला मोही प्राणी संसार गर्त्त में गिरता है। इस स्थिति से बचाने के लिए यह भोगोपभोगप्रमाणव्रत समर्थ है। इस व्रत के स्वीकार करने से स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है।

इस व्रत द्वारा कुछ भोगोपभोगों का त्याग हो जाता है। यदि उनका त्याग आजीवन के लिए होता है तो इसे 'यम' कहते हैं और जिन भोगोंपभोगों का नियत समय के लिए त्याग होता है, उसे 'नियम' कहते हैं। दोनों प्रकार के त्याग हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्ति को दूर कर हमें अन्तर्मुख करते हैं। इस व्रत में जिन विषयों का त्याग नहीं हो सका है उन विषयों को व्रती हेय ही मानता है और उनके त्याग का भी प्रयत्न करता है। वह सदा यह सोचा करता है कि इन सबके सम्पूर्ण त्याग का भी अवसर यदि मुझे प्राप्त हो जाय तो मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।

जो भोग या उपभोग हिंसावर्द्धक हैं, जिनमें त्रसघात होता है या बहुघात होता है अथवा जो मदोत्पादक होने से आत्म-विस्मृति के कारण हैं, रोगोत्पादक हैं, अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोकनिंद्य हैं उनका तो यावज्जीवन 'यमरूप' त्याग होता है। शेष पदार्थों में भी हेयबुद्धि होने से यम अथवा नियमरूप से उनके त्याग का कार्य तबतक चलता रहता है जबतक सम्पूर्ण परपदार्थों का परित्याग न हो जाय। बिना परपदार्थों के त्याग के निजात्मद्रव्य में प्रवेश नहीं होता। अतः यह व्रती निज पद में निवास के हेतु इस व्रत को स्वीकार करता है।१९८।

भोगोपभोगप्रमाणव्रतके अतिचार–

(अनुष्टुप्)

सचित्ताद्यतिचाराश्च केवलं दुःखदायकाः ।
दोषा न धार्मिकैः सेव्याः स्वस्थः स्वात्मा भवेद्यतः ।।१९९।।

सचित्तेत्यादिः– सचित्ताहारः सचित्तसंबंधाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिषवाहारः दुःपक्वाहारश्चेति पञ्चातिचाराः भोगोपभोगव्रतस्येति। आहारशब्दस्य ग्रहणमित्यर्थो ग्राह्यो न तु भोजनमात्रम् । भोगेष्वुपभोगेषु च यत्सचित्तं जीवसहितं अस्ति तत् भोजनं वस्त्रादिकं वा न ग्राह्यम्। तद्ग्रहणे जीवबाधायाः संभावना वर्तते। सचित्तत्यागप्रतिमायामपि एतद्व्रतमस्ति तदुपरि च। तथैव द्वितीयादिषु प्रतिमासु च। यत्र किल सचित्तवनस्पत्यादीनां आहारे त्यागस्तत्र प्रमादतः यदि तत्स्यात्तदातिचारः स्यात् । केचित्कथयन्ति यत् द्वितीयादिप्रतिमासु न सचित्तभोजनस्य त्यागः क्रियते तथापि सुनिश्चितमर्यादातः उपरि चूर्णादीनां जलादीनां औषधादीनांश्च कदाचिदुपयोगः प्रमादतः स्यात्तदपि सचित्तभोजननामाऽतिचारः स्यात् अथवा सचित्तजलादीनां स्नानादिकर्मणि सचित्तानां त्वग्वस्त्रादीनामुपयोगः सचित्तपुष्पादीनां वा भोगः सचित्तत्यागप्रतिमासु सचित्ताहारः स्यात् । ततः पूर्वासु प्रतिमासु द्वितीयादिषु प्रतिमारूपेण सचित्तत्यागाभावेऽपि समुचितेष्वपि भोगेष्वुपभोगेषु यदि सचित्तत्यागः नियमरूपेण नियतसमयपर्यन्तमस्ति तदा मर्यादाकाले प्रमादतः तदुक्तप्रकारेण सचित्तसेवने स्यादतिचारः। तथैव सचित्तभूमिषु गमनागमने अनवीक्षितमार्गपरिग्रहः अशोधितार्थानां सहसा ग्रहणम् एतादृगन्यदपि स्यादतिचारः। तात्पर्यमेतत् यदत्र व्रतातिचारनिरूपणे सचित्तमिदमुपलक्षणम्। यदि व्रतेऽस्मिन् भोगोपभोगयोः स्वेच्छया सचित्तत्यागः कृतस्तदा प्रमादतस्तदुपयोगे स्यादतिचारः। तद्वत् यदि केनापि व्रतिना घृतादीनां रसानां त्यागः क्रियते नृत्यगीतागंधादीनां वा भोगोपभोगादीनां नियतकालमनियतकालं वा त्यागः क्रियते तथा यदि प्रमादतस्तदुपयोगः स्यात् तदा सोऽपि स्यादतिचारः। यथैव सचिताहारस्तथैव सचित्तसंबंधाहारसचित्तसंमिश्राहारयोरपि व्याख्या कार्या तथैव तावप्यतिचारौ स्याताम् । कामोद्दीपकानां पदार्थानामुपयोगे स्यादभिषवो नाम अतिचारः। यदि स स्याद् भोगेषु तदा भोगातिचारः स्यादुपभोगेषु तदोपभोगातिचारः स्यात् । दुःपक्वानामर्धपक्वानां पदार्थानां फलादीनां अन्नादीनामुपयोगे च दुःपक्वातिचारः स्यात् । एवं व्रतदूषणोत्पादकाः पापोन्मुखाः दोषाधायकाः किलातिचाराः व्रतिभिर्न सेवनीयाः। निरतिचारव्रतपालने हि स्वात्मा स्वस्थः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्यात् । अन्यथा संसारपरिभ्रमणमूलबीजभूतकर्मणामास्रवणात् तत्फलानुभवनरूपदोषयुक्तत्वात् सरोगावस्थायामिव स्यादस्वस्थः।१९९।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बतलाए गए हैं (१) सचित्ताहार, (२) सचित्तसंबंधाहार (३) सचित्तसंमिश्राहार, (४) अभिषव और (५) दुष्पक्वाहार। इन पाँचों से उक्त व्रत दूषित होता है।

(१) सचित्ताहार—सचित्त का अर्थ है सजीव अर्थात् जीव सहित पदार्थ। जिन पदार्थों के सेवन करने में उस पदार्थ में स्थित जीव को बाधा उत्पन्न होती है उसका सेवन सचित्ताहार है। ऐसे पदार्थ भोजनादि भोगरूप और वस्त्रादि उपभोगरूप होते हैं। यद्यपि त्रस जीव सहित पदार्थों के आहार का त्याग तो व्रती के इसके पूर्व अष्टमूलगुणों में ही हो गया है अतः उसके ऐसे पदार्थों के ग्रहण की संभावना ही नहीं की जा सकती किन्तु वनस्पत्यादि एकेन्द्रिय सहित होने से जो सचित्त कहलाता है उसके ग्रहण की संभावना ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि सचित्ताहार का त्याग पञ्चम प्रतिमा से होता है तब द्वितीय प्रतिमा के भोगोपभोग प्रमाणव्रत वाले के सचित्ताहार दोषाधायक क्यों है? यदि यहाँ ही दोषाधायक होने से उसका त्याग हो जाता है तब पाँचवीं प्रतिमा किसलिए है? वहाँ क्या त्याग करता है? यह एक प्रश्न है। इसका समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि यद्यपि यह व्रती त्रसहिंसा का त्यागी है और स्थूल तो क्या सूक्ष्म भी त्रसादि की संभावना जहाँ की जा सकती है उसका भी दूर से परिहार करता है। तथापि ऐसे पदार्थ जिनकी मर्यादा शास्त्रों में नियमित समयतक बताई है। जैसे छने जल की एक अन्तर्मुहूर्त की और आटा अथवा पिसे हुए दूसरे अन्नादि पदार्थों की ग्रीष्म, वर्षा ओर शीत ऋतु में क्रम से ५, ३ और ७ दिन की है। परन्तु इन पदार्थों की मर्यादा समाप्त होने पर प्रमाद या भूल से यदि वे सेवन में आ जायँ तो वह भी सचित्ताहार है।

इसी प्रकार सचित्तत्याग प्रतिमावाले को स्नानादि कार्यों में प्रमाद से कच्चे जल का, या वृक्षों की सचित्त छाल का उपयोग करने में आ जाय तो सचित्ताहार का दोष प्राप्त होगा। चूँकि भोगोपभोग परिणाम व्रत द्वितीय प्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाता है तथा एकादश प्रतिमा तक रहता है, जिसके मध्य में सचित्तत्याग नामक पाँचवी प्रतिमा है अतः प्रतिमा में ये अतिचार जिस प्रकार से संभावनीय हैं उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ विद्वानों की विवेचना इस सम्बन्ध में ऐसी है कि इस व्रत में यहाँ (द्वितीय प्रतिमा में) सचित्ताहार (एकेन्द्रियादि सचित्ताहार) का त्याग नहीं है। तथापि यदि व्रती अपने भोगोपभोग में ग्रहण करे तो मात्र अतिचार है, व्रतभंग नहीं। यहाँ इसका अतिचाररूपेण त्याग है, व्रतरूपेण नहीं। किन्तु सचित्तत्याग प्रतिमा में व्रतरूपेण त्याग है। यह विवेचना विद्वन्मान्य पं० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में की है। कुछ विद्वानों की यह विवेचना है कि अमर्यादित पदार्थ का सेवन मूलगुणों का अतिचार होना चाहिए, भोगोपभोग परिमाण का नहीं। त्रस सहित पदार्थ के भक्षण का त्याग मूलगुणों में हुआ है। अतः अमर्यादित पदार्थ का सेवन तथा अमर्यादित (छने हुए भी) जल का सेवन मूलगुणों का ही अतिचार होगा।

ये मूलगुण पाक्षिक के ही सातिचार होते हैं ओर प्रथम प्रतिमा में निरतिचार होते हैं, अतः उक्त अतिचार दर्शन प्रतिमा में ही लागू हो सकते हैं, व्रतादि प्रतिमा में नहीं।

उक्त विवेचनों को ध्यान में रखते हुए इन अतिचारों की सही व्याख्या जानना आवश्यक है। हम ऐसा समझते हैं कि यद्यपि यह सही है कि सचित्ताहार (त्रसादि सहित) का मूलगुणों में त्याग है। अतः अमर्यादित पदार्थों का, जिनमें आगम के आदेशानुसार त्रस की संभावना हो जाती है, प्रमाद से ग्रहण करना अतिचार है। दर्शन प्रतिमा में मूलगूण निरतिचार हैं। अतः यहाँ इन अमर्यादित पदार्थों का सेवन करना छोड़ देना उचित है। यदि प्रमाद से उक्त सेवन हो जाय तो प्रतिमा के लिए अतिचार है। द्वितीय प्रतिमावाले के भी तथा और आगे पंचमादि प्रतिमावालों के भी अतिचारों की संभावना है तथापि वे अतिचार मूलगुणों के ही होंगे न कि भोगोपभोग परिमाण के। तब यहाँ भोगोपभेगपरिमाण में 'सचित्ताहार' से तात्पर्य क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है।

मेरी समझ ऐसी है कि यह भोगोपभोग व्रत है। भोगों और उपभोगों की संख्या नियत नहीं है, अतः इस व्रत में यदि अतिचार होगा तो वह किसी एक पदार्थ के निमित्त से नहीं बताया जा सकता। जिनका इस व्रत में त्याग है, यदि प्रमादतः अतिचार लगेगा तो उन त्यागे हुए विषयों में ही लगेगा। अन्य में नहीं। जब कि त्यागे हुए विषयों में अनेकानेक पदार्थ हैं तब उनमें से किसी एक का नामोल्लेख कर उसे अतिचार में बतलाना यह सूचित करता है कि वह उपलक्षण है, अर्थात् मात्र उदाहरण स्वरूप है। इससे यह फलित हुआ कि यहाँ सचित्ताहार आदि में सचित्त पद उपलक्षण है। तब इसकी व्याख्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार करनी चाहिए कि सचित्तादित्याग किए हुए भोगोपभोग रूप पदार्थों का प्रमाद से ग्रहण सचित्ताहार है। जैसे यदि किसी द्वितीय प्रतिमाधारी ने सचित्त वनस्पति आदि का भोगोपभोग प्रमाण के रूप में नियत काल तक अष्टमी चतुर्दशी अथवा आष्टाह्निक आदि पर्वों में त्याग कर रखा है। अथवा स्वेच्छा से यमरूप (आजीवन) उसका त्याग किया है। तब ऐसी अवस्था में यदि प्रमाद से सचित्त का आहार में, स्नानादि में मर्यादा काल में ग्रहण हो जाय तो वह सचित्ताहार नामक अतिचार होगा। इसी प्रकार यदि किसी भोगोपभोगत्याग व्रती ने अपने इस व्रत में सचित्त त्याग करके घृत मिष्ट आदि किसी रस विशेष का नियत या अनियत समय के लिए त्याग किया है। अब यदि प्रमाद या भूल से मर्यादा के भीतर त्याग की अवधि पूरी न होने पर भी उक्त घृत और मिष्ट रस का सेवन करने में आ जाय तो वह सचित्ताहारादि के स्थान में घृताहार घृतसम्बन्धाहार और घृतमिश्राहार ऐसे अतिचार के रूप में बोला जायगा। अथवा मिष्टाहार, मिष्टसम्बन्धाहार और मिष्टमिश्राहार कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि सचित्ताहार सचित्तसंबंधाहार से तात्पर्य केवल सचित्त से ही नहीं है। सचित्तादिभोगत्यागाहार और सचित्तादिभोगसंबंधिताहार से है। आदि शब्द से जो भी भोग या उपभोग इस व्रत में नियत या अनियत समय के लिए त्याग किए हों उनका मर्यादा काल के भीतर प्रमाद से ग्रहण करना उक्त व्रती के लिए उक्त व्रत का अतिचार होगा ऐसी व्याख्या करना सुसंगत है।

उपभोग के संबंध में भी ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिए। सचित्त उपभोग का यदि नियत या अनियत समय के लिए त्याग किया है तो उसे उक्त मर्यादा काल तक उसका निर्वाह करना चाहिए। यदि वह प्रमादतः मर्यादाकाल के भीतर उन सचित्त पदार्थों का उपभोग करे। जैसे वृक्षों की छाल आदि सचित्त वस्त्रों का उपभोग, सचित्त पुष्पमाला का उपभोग, सचित्त मार्ग पर गमनागमन, हरी घास पर बैठना व सोना आदि तो ये सचित्तोपभोगत्यागव्रत के अतिचार होंगे। यहाँ भी 'सचित्त' शब्द उपलक्षण है। सचित्त के स्थान में दूसरे प्रकार से भी यदि उपभोग का त्याग किया है तब मर्यादाकाल में उसका सेवन भी अतिचार होगा। जैसे-यदि किसी भोगोपभोग व्रत में यह नियम किया है कि मैं इतने समय तक सुवर्ण के आभूषण नहीं पहिनूँगा अथवा रंगीन वस्त्रों का उपयोग न करूँगा। ऐसी स्थिति में यदि वह भूल या प्रमाद से उनका उपयोग कर ले तो सुवर्णाहार, चित्रवस्त्राहार इन नामों से उक्त अतिचार का उल्लेख होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ आहार शब्द का प्रयोग ग्रहण अर्थ में है ऐसा हम पहिले ही लिख चुके है, अतः आहार शब्द पर शंका न करनी चाहिए। आहार का अर्थ मात्र भोजन यहाँ नहीं है। यदि ऐसा माना जायगा तो ये अतिचार मात्र भोगपरिमाणव्रत के होंगे। उपभोगपरिमाणव्रत में अतिचारों के वर्णन के अभाव का प्रसंग आयगा।

सचित्तसम्बन्धाहार और सचित्तमिश्राहार इन दोनों अतिचारों का तात्पर्य स्पष्ट है। सचित्त द्रव्य से अथवा त्यागे हुए अन्य रसादि भोग या किसी उपभोग रूप पदार्थ से सम्बन्धित या उससे मिश्रित पदार्थ का भूल से सेवन करना सचित्तसम्बन्धाहार तथा सचित्तसम्मिश्राहार है। इस प्रकार की व्याख्या द्वितीय, तृतीय अतिचार की करनी चाहिए।

भोगरूप हों या उपभोगरूप कामोद्दीपन करानेवाले पदार्थों का सेवन अभिषवाहार है। अतिपक्व, अर्धपक्व, फलादि व अन्नादि का उपयोग करना दुष्पक्वातिचार है।

ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थों के अनुसार त्यागने का संकेत यहाँ आचार्य श्री कुन्थुसागरजी ने किया है। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन अतिचारों के दूसरे नाम दिए हैं। उनके द्वारा उल्लिखित भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार ये हैं—

१-भोगोपभोगरूप इन्द्रिय विषयों के प्रति प्रीति-भाव रखना।

२-पूर्व समय में बाल्यावस्था या तरुणाई में किये गये भोगोपभोगों को बार-बार याद करना।

३- नियमित और प्राप्त भोगोपभोगों में अत्यन्त वृद्धि रखना।

४-आगामी काल में मैं ऐसे पदार्थ भोगूँगा। अब अमुक ऋतु आ रही है। उसमें ऐसे-ऐसे पदार्थ प्राप्त होंगे। मुझे उनका त्याग तो है नहीं, खूब भोगूँगा, ऐसी तृष्णा रखना।

५—विषय त्याग रहते हुए भी और उसे ग्रहण न करते हुए भी यह अनुभव कल्पना से करना कि मैं अमुक पदार्थ का भी भोग या उपभोग कर रहा हूँ।

इन अतिचारों के वर्णन से भी स्पष्ट है कि भोगोपभोग व्रत के अतिचार केवल भोजन मात्र से संबंधित नहीं हो सकते, इसलिए सचित्त शब्द को उपलक्षण मानकर ऊपर जैसा हमने दिखलाया है वैसी व्याख्या करना आगमानुसार उचित होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी समन्तभद्रजी ने भोगोपभोगत्याग व्रत की व्याख्या में (१) त्रसहिंसा सहित (२) अनेक स्थावर (निगोद) की हिंसा सहित, (३) नशा या प्रमाद बढ़ानेवाले, (४) रोगोत्पादक और (५) लोक विरुद्ध ऐसे पाँच प्रकार के पदार्थों का त्याग करना आवश्यक बताया है। इन पदार्थों का त्याग यावज्जीवन है। अन्य भोग्य या उपभोग्य पदार्थों में से यथासंभव नियत समय के लिए विषयवैतृष्ण्य के अभिप्राय से भी त्याग करना आवश्यक है। इस व्याख्या के अनुसार व्रती सचित्त (एकेन्द्रिय बनस्पत्यादि) द्रव्य का यद्यपि द्वितीय तृतीय चतुर्थ प्रतिमा में त्यागी नहीं है तथापि तृष्णा घटाने के अभ्यास के लिए उसका नियमित काल के लिए त्याग करता है। यही कारण है कि अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षण पर्व और अष्टाह्निका आदि के पुण्य दिवसों में हरी (सचित्त वनस्पति) के त्याग की प्रथा जैन समाज में पाई जाती है।

कोई-कोई सज्जन यह तर्क करते हैं कि व्रत के दिन केवल हरी का त्याग कर दिया पर भोजन बनाने में भी तो आरंभ होता है और कच्चा पानी पीने में भी सचित्त भोजन होता है तब यह कैसा त्याग है? यह तर्क ठीक होता यदि तर्क करने वाले सज्जन उक्त तर्क के आधार पर हरी के साथ-साथ जल का तथा अन्य आरंभ का भी त्याग कर देते। उनके लिए उनका तर्क लाभदायक होता और संभवतः दूसरों के लिए भी आदर्श हो जाता, पर ऐसा देखा नहीं जाता। तर्ककर्त्ता वे होते हैं जो स्वयं कोई त्याग नहीं करते और अंशमात्र भी त्याग करने वालों की उच्चता हमसे ज्यादा न मानी जाय इस अभिप्राय के अहंकार के कारण उक्त प्रकार का तर्क उपस्थित कर या तो उन्हें व्रत से छुड़ाकर अपनी श्रेणी में लाना चाहते हैं या समाज के सामने उस अंशमात्र त्यागी को मूर्ख सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस रीति से जो तर्क अपने भी गिरने का साधन हो और अन्य को भी गिराने वाला हो वह कुतर्क है। उसका फल वह है जो धर्म और धर्मात्मा की अविनय का होता है, अथवा किसी प्रतिज्ञाबद्ध को प्रतिज्ञाभ्रष्ट करने के प्रयत्न का होता है।

यदि यह तर्क केवल प्रश्न के रूप में जानकारी प्राप्त करने के लिए ही वास्तव में किया जाय तो दोषास्पद नहीं है। इस तर्क का यह समाधान है कि गृहस्थ देशव्रती है। यह क्रमशः पूर्ण व्रत की ओर जा रहा है। जितना त्याग जहाँ कर सकता है करता है। अभ्यास करते-करते वह पूर्ण व्रती बनेगा। गृही का व्रत महाव्रत की प्राप्ति के लिये अभ्यास रूप व्रत है। अभ्यासकर्ता को उत्साहित करना चाहिये न कि कुतर्क द्वारा उसे गिराना चाहिये। सचित्तमात्र का या एकरसमात्र का या एकबार भोजनमात्र का त्याग करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यासरूप संयम है, भोगोपभोगपरिमाणव्रत है अतः कुतर्क को यहाँ स्थान नहीं। पर्व में सचित्त त्याग का विशेष प्रयोजन यह भी है कि इससे इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम दो संयमों की एक साथ साधना होती है। अन्य रसत्याग में मात्र इन्द्रिय संयम सधेगा अतः सचित्त वनस्पति का त्याग सरल तथा अधिक संयम का साधक है।

उक्त सब बातों पर विचार रखकर व्रत पालनेवाला यदि अपने व्रत को निर्दोष बनाने का सतत प्रयत्न करता है तो भी वह व्रती संज्ञा को प्राप्त होता है। ऐसा होते हुए भी यह संभावना की जाती है कि कभी प्रमादवश उसके व्रतों में अतिचार आदि दूषण प्राप्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्तादि के द्वारा अपने परिणामों को शुद्ध करके पुनः व्रत पर आरोहण करना चाहिये। प्रमाद से व्रत में दूषण लगजाने पर ऐसा विचार करना कि अब तो व्रत नष्ट हो गया हैं अब फिर पालने से क्या फायदा बहुत गलत विचार है। दूने उत्साह के साथ उस व्रत को पुनः पालना चाहिये।

व्रती का तो मूलोद्देश्य ही पदार्थों की लम्पटता से अपने को छुड़ाकर स्वात्मावलम्बी बनाने का है, अतः वह तब तक चुप नहीं बैठ सकता जब तक अपने उद्देश्य में सफल न हो। वह पापोन्मुख करनेवाले दोषाधायक इन तथा इन जैसे अन्य अतिचारों से अपने व्रत को बचावे जिससे वह इस परवलम्बनरूप महारोग से उन्मुक्त होकर स्वस्थ हो जाय।१९९।

प्रश्नः—अतिथिसंविभागस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।

गुरुदेव! अतिथिसंविभाग नामक व्रत का क्या स्वरूप है, कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वानन्दसौख्यनिरताय चतुर्विधाय
संघाय धर्मरसिकाय निजान्यसिद्धयै।
दानं क्षमादिजनकं हि चतुर्विधं यो
भक्त्या ददाति स जनोऽतिथिसंविभागी।।२००।।

स्वेत्यादिः— अतिथये संविभागः अतिथिसंविभागः। कोऽसावतिथिः? यस्यागमने गमने वा न तिथिर्नियता सोऽतिथिः इति तस्य व्युत्पत्तिः। तात्पर्यन्त्विदं यत् स्वगृहागताय रत्नत्रयपवित्रिताय दिगम्बराय भक्त्या आहारादिदानं यः करोति सः स्यादतिथिसंविभागव्रती। महाव्रतिनो दिगम्बराः साधवः स्वोदरगर्त्तपूरणार्थमसाधनाः वित्तहीनाः निरारम्भाः सन्ति। सर्वसाधनानां धनस्य च तैस्त्यागः कृतः स्वेच्छया। ते महाजनाः परावलम्बान् परित्यज्य स्वावलम्बिनः सन्तः विचरन्ति वने वने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वात्मगुणसंपत्त्या स्वानन्दरसमास्वादयन्तः तज्जनितपरमाचिन्त्यानिन्द्रियसौख्यमनुभवन्तः तपस्यन्ति ते विजने। न तेऽनुभवन्ति कदाचिद् मनागपि दुःखमात्राम् । स्वात्मस्वरूपविमुखं पौद्गलिकं शरीरं न पोषयन्ति। पंचेन्द्रियविषयेषु निस्पृहास्ते क्रोधमानमायालोभादिभिर्मुक्ताः सन्तः स्वात्मन्येव निवसन्ति। एवं धर्मरसिकेभ्यस्तेभ्यः विशुद्धं तपसि सहायभूतं नातिरूक्षं नातिपौष्टिकं तत्प्रकृतियोग्यं भोजनादिकं प्रतिदिनं निर्दोषपद्धत्या दातव्यम् । उत्तमपात्रास्ते कलिकाले तु एतादृशानां महात्मनां विरलता दृश्यते, तदा कस्मै देयं दानमित्यपि प्रश्नः सञ्जायते। इत्यत्राचार्याः उत्तरयन्ति यत् मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकाभेदेन विभिन्नाय चतुर्विधाय संघाय आहारभैषज्यशास्त्राभयरूपं चतुर्विधमपि दानं यथावसरं यथायोग्यं यथावश्यकं देयम् । इत्यनेन प्रकारेण दानेन दातुर्गृहिणः दानपात्रस्य च कल्याणं भवति। धर्मपात्राणान्तेषान्तु धर्मसिद्धिर्भवति। तत्सहायकर्तृणान्तु गृहिणां महत्पुण्योपार्जनं भवति। इत्युभयसिद्धिप्रदायकमेतद् व्रतमस्ति। धर्मप्रीत्या प्रतिग्रहणं-उच्चस्थाने निवेशनं-पादप्रक्षालनं-तेषामादरः-तेषु विनयः-विशुद्धेन मनसा-विशुद्धेन वचसा-विशुद्धेन कायेन-विशुद्धमाहारादिकं देयम्। एवं नवधा भक्त्या श्रद्धया-सन्तोषबुद्धया-विवेकेन-उदारतया-धीरतया-स्वशक्तिमनिगूह्य यद् ददाति श्रावकस्तस्य स्यादतिथिसंविभागव्रतम् । प्रतिदिनं स्वयोग्यनिर्मापितभोजनादिद्रव्येषु अतिथिजनाय यद्विभागः क्रियते तद्गृहिणः धर्मस्नेहसूचकम्महत्कार्यमस्ति। एतेन तस्य प्रकृतिः सदोदारा भवति। त्यागमार्गे तु सहायिका सा प्रकृतिः सदादरणीया। श्रावकव्रतस्य मुकुटमणिरिव एतदतिथिसंविभागव्रतमस्ति।२००।

श्रावक के १२ व्रतों में अन्तिम व्रत अतिथिसंविभाग है। यह व्रत उसके सम्पूर्ण व्रतों का मुकुटमणि है। इस व्रत के द्वारा वह अपने भीतर उदार भावनाओं को प्रोत्साहित करता है और त्याग के मार्ग पर आनंद के साथ वृद्धि को प्राप्त होता जाता है।

अतिथि उन्हें कहते हैं जिनके आने व जाने की कोई निश्चित तिथि यानि दिन न हो। महाव्रती दिगम्बर साधु आत्मसाधना के हेतु वन में विचरण करते हैं। आत्मा और शरीर के भेद का विज्ञान प्राप्त हो जाने से वे शरीर के सम्पूर्ण साधनों का त्याग कर चुके हैं। केवल स्वात्मगुणों के प्रेमी, उनकी प्राप्ति के उद्देश्य से ही अनेकापदाओं का आश्रय करने वाले धनरहित व परिग्रहरहित वे तपोधन एकान्त प्रदेशों में आत्मध्यान करते हैं।

आत्मगुणों की सम्पत्ति के स्वामी आत्मानन्द रस के आस्वादी परम अचिन्त्य अतीन्द्रिय सुख के भोक्ता वे महामुनि कठिन से कठिन तपस्याओं का अवलंबन करने पर भी किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं मानते। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में तथा क्रोध, मान माया, लोभ आदि कषायों में सर्वथा निस्पृह होकर वे अपनी धर्म संपत्ति को सम्हालने में ही लगे रहते हैं। उनका यही एक मात्र व्यापार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे सर्वोत्कृष्ट पात्र महामुनियों को दोष और अन्तरायों को, जिनका वर्णन इस ग्रंथ के पूर्व भाग में (मुनिधर्मप्रदीप में) आयुका है, टालकर विशुद्ध परिणामों से उनकी प्रकृति के अनुकूल, न अतिरूक्ष, न अतिगरिष्ठ, सौम्य आहारादि द्रव्य दान में देना अतिथिसंविभागव्रत है।

लोक में व शास्त्र में दान की सर्वत्र महिमा गाई जाती है। देना सर्वोत्कृष्ट कार्य हैं इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि इस शुभ कार्य से हमें त्याग की महत्ता का बोध होता है। हम स्वयं भी त्याग करते हैं, और देते भी उन्हें हैं-जिन्होंने अपने जीवन में त्याग की प्रतिष्ठा की है। इस तरह त्यागियों के प्रति स्नेह जागृत होने से त्याग की भावना जागृत होती है। परावलंब को छोड़ने और स्वावलंब को प्राप्त करने का यह दान बहुत सुन्दर मार्ग है। इसका आदि है पर अन्त नहीं। अनन्त क्षायिकदान गुण के अवलंबी सिद्ध परमात्मा के पुनीत स्वरूप के अवलंबन मात्र से अनन्त जीव मुक्ति पद प्राप्त करते हैं। उनका यह पवित्र दान अनंत काल तक चलेगा, अतः इस महान् अनंत कार्य का प्रारम्भ व्रती श्रावक परपदार्थ के त्याग से करता है।

उत्तम पात्र दिगम्बर मुनिजनों के न प्राप्त होने पर आर्यिका व्रती-श्रावक-श्राविका आदि मध्यम पात्रों को अथवा वे भी न मिल सकें तो जघन्य पात्र व्रतरहित होने पर भी जो धर्म का श्रद्धालु हो उसे दान देना उचित है। इस प्रकार मुनि आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार के संघ को अपनी श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विवेक, उदारता और धैर्यपूर्वक शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। उक्त सात गुण सहित दाता जब पात्रों का प्रीति पूर्वक प्रतिग्रह करता है, उन्हें उच्चस्थान देता है, उनके पाद प्रक्षालन करता है, उनका आदर और विनय करता है, और उदार पवित्र मन से, उत्तम वचनों के साथ, पवित्रता के साथ आहार आदि देता है तब वह श्रावक की नवधा भक्ति कही जाती है। गुणवान् श्रावक के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया दान कल्पलता के समान उत्तमोत्तम फल को प्राप्त होता है।

इस तरह उत्तम श्रावक द्वारा उत्तम पात्रों के लिए उत्तम विधि से दिया गया उत्तम वस्तुओं का दान उत्तम दान या अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है। उत्तम वस्तु से तात्पर्य यहाँ पर बहुमूल्य वस्तु से नहीं है। देय वस्तु की उत्तमता इस संबंध से जानी जाती है कि देय वस्तु संयमी पुरुष के ज्ञानार्जन ध्यान तप आदि आवश्यक धर्म कार्य में सहायक शरीर के लिए कहाँ तक उपयोगी है। साधु व त्यागी धर्मात्मा पुरुष जो धर्म की साधना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं वे शरीराश्रय से। शरीर में क्षुधा-तृषा अनादि का रोग है। इतनी ही पराधीनता है जिसका सर्वथा त्याग साधु नहीं कर पाता। वह वस्त्र का त्यागकर दिगम्बर हो जाता है; शीत व उष्ण तथा वर्षा की असह्य वेदनाओं की परवाह नहीं करता। धन की लिप्सा, कुटुम्बियों का स्नेह, गृह का मोह, दास-दासियों की सेवा, शारीरिक शृङ्गार आदि सब का त्याग कर देता है। वह त्याग उसका जीवनपर्यन्त के लिए है। तथापि भूख-प्यास आदि नियमित समय तक ही सह सकता है। उसे अभिभावित करने पर शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाने से धर्मसाधना में बहुत बड़ी बाधा आ जाती है, अतः वे आहार के निमित्त श्रावक के घर आते हैं। गृहस्थ के साथ उनका मात्र इतना ही संबंध है। यदि इतना कार्य श्रावक के आश्रय से पूर्ण करने की आवश्यकता न होती तो साधु वन छोड़ नगर का शायद कभी आश्रय ही न करता। मुनि दर्शन को श्रावक वन-वन भटकते और शायद मुश्किल से कहीं दर्शन पाते।

इस तरह शरीर की शक्ति को तप में सहायक जानकर स्थिर रखने के लिए आहार की आवश्यकता है। वह आहार देने का शुभावसर सदाचारी श्रावक को प्राप्त होता है। सर्वारम्भ परिग्रह के प्रति अपने स्नेह का त्याग करनेवाले उसे महान उदार अतिकष्टसहिष्णु निरिच्छ पुरुष को कोई चक्रवर्ती भी अपने सर्वस्व का निछावर कर मात्र विशुद्ध आहार के और कुछ नहीं दे सकता। स्वर्ग का इन्द्र महान् विभूति का धारक होता है। अनेक ऋद्धियाँ तथा संपत्तियाँ उसकी दासी के समान सेवा करती हैं। वह चाहता है कि इन त्रैलोक्य प्रतिष्ठित साधुओं की मैं कुछ सेवा करूँ। पर वह हताश हो जाता है कि मैं कैसे सेवा करूँ? मेरी तो कोई भी सेवा साधु ग्रहण नहीं करते। आहार मात्र जो लेते हैं वह भी अव्रती देवादिक के द्वारा नहीं। व्रती विशुद्ध श्रावकों द्वारा ही ग्रहण करते हैं। श्रावक चाहे वह मात्र मूलगुण धारी पाक्षिक ही क्यो न हो, इस नाते से वह इन्द्र से भी श्रेष्ठ है।

भोजन के सिवाय मुनिजनों को यदि कुछ दिया जा सकता है तो वह रोगित अवस्था में औषधि का दान है। यह औषधि भी वे केवल भोजन के साथ उसे यथाभोजन मानकर ले लेते हैं। भोजनातिरिक्त समय में उसे भी ग्रहण नहीं करते। मात्र शरीर पर लगाने की औषधि का प्रयोग ही अन्य समय पर किया जा सकता है। खाने-पीने की औषधियों का नहीं। यह औषधि भी त्रसघातादि दोषों से सर्वथा रहित हो और भोजन सामग्री की तरह ही विशुद्ध हो तो ही वह उनके लिए ग्राह्य होगी। अशुद्ध औषधियों का उपयोग साधुजन कभी नहीं करते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दैनिक स्वाध्याय (ज्ञानार्जन) के हेतु यदि कोई श्रावक भक्तिपूर्वक कोई आगमग्रन्थ उन्हें दे तो आवश्यकता होने पर उसे साधु ग्रहण कर लेता है। यह शास्त्र उसका परिग्रह नहीं है। मात्र स्वाध्याय हेतु ग्रहण करता है। स्वाध्याय पूर्ण होने पर उसे वे किसी श्रावक को, किसी मन्दिर में या किसी अन्य साधु को प्रदान कर देते हैं।

साधु सेवा के लिए जीवरक्षार्थ पीछी तथा शारीरिक शौचादि बाधा होने पर शुद्धि के लिए उपयोग में आनेवाले जल को रखने का कमंडलु भी दिया जा सकता है। वर्षा या शीत ऋतु के समय कोई कुटी या कोई छोटा सा स्थान यदि बना हुआ हो तो साधु वर्षायोग में ४ मास और अन्य ऋतु में ४-५ दिन ही साधारणतया उपयोग में लेते हैं।

इनके सिवाय बीमारी में कोई शारीरिक सेवा तथा विपत्ति आने पर कोई सुरक्षा उपाय यदि श्रावक करे तो कर सकता है। उक्त सेवाओं के अलावा साधु को कुछ नहीं दिया जा सकता और न कोई अन्य सेवा ही वे ग्रहण करते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु के हेतु जो दान दिया जाता है वह आहार, औषधि, शास्त्र और स्थान ये चार ही हैं अन्य नहीं। जैनाचार्यों ने दान के चार ही भेद किए हैं। कहीं-कहीं नाम में कुछ अंतर है। कोई-कोई शास्त्रकार शास्त्र-दान के स्थान पर उपकरण-दान शब्द का उपयोग करते हैं। उसकी व्याख्या यह है कि मात्र ज्ञान और संयम के साधनभूत उपकरण देना। ज्ञानोपकरण जैसे शास्त्र है वैसे ही संयम के लिए सहायक पीछी और कमण्डलु हैं। इस आधार पर भोजन के हेतु बरतन तथा वस्त्र आदि का दान उपकरण दान कहना न्याय तथा आगम सम्मत नहीं है; क्योंकि ये दोनों परिग्रह हैं संयम के साधन नहीं हैं।

हाँ, वर्तमान में चश्मा और घड़ी का उपयोग दिगम्बर साधुओं के द्वारा होता है। इनमें चश्मा शास्त्राभ्यास में भी सहायक है और मार्गदर्शन में जीव बाधा दूर करने में भी उसका उपयोग होता है अतः ज्ञान और संयम दोनों का सहायक होने से दिया जा सकता है, किन्तु वह सुन्दरता की दृष्टि से कीमती न देना चाहिए और न उन्हें लेना भी चाहिए। घड़ी न संयम का साधन है और न स्वाध्याय का, अतः उसका दान उपकरण दान नहीं, अतः न यह देना चाहिए और न साधु को अपने पास रखना ही चाहिए। साधु के लिए प्रातः सायं और दोपहर सामायिक के काल हैं। प्रातःकाल सूर्योदय से, सायंकाल सूर्यास्त से और मध्यान्ह काल मध्यसूर्य से सहज ही जाना जाता है। करोड़ों ग्रामीण जनों को बिना घड़ी के ही समय ज्ञान दिन में तो सहज ही होता है, रात्रि में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी नक्षत्रों के उदयास्त से ज्ञान कर लेते हैं। अतः घड़ी का आदान-प्रदान संयम साधक न होने से उपकरण दान में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। हाँ, चातुर्मास आदि समय में वर्षा योग के कारण मोघाच्छन्न सूर्य होने से अथवा दैनिक कार्यक्रम से विभिन्न धर्माराधनाओं के हेतु समय की प्रतीति में बाधा होती हो तो श्रावक उस स्थान पर स्थानप्रबन्ध की तरह यदि घड़ी लगा दे तो उससे समय देखने में साधु को कुछ बाधा नहीं, पर उस वस्तु को अपने साथ हमेशा रखा नहीं जा सकता।

वस्त्र और बर्तन की तरह वैटरी, फाउन्टेन पेन, ग्रामोफोन के रिकार्ड, शब्दग्राही (रिकार्ड बनानेवाली) मशीनें, वस्त्र की कुटीरें, चटाइयाँ, और बैठने के काष्ठासन आदि भी साधु अपने साथ नहीं रख सकता। ये सब परिग्रह में सम्मिलित हैं, अतः इनका दान भी उपकरण दान नहीं हैं। साधु के आने पर श्रावक इन चीजों को अर्थात् बैठने को उच्चासन हेतु काष्ठासन, वेत्रासन तथा तृणासन दे सकता है। उनके लिए सामान्य कुटी और स्थान के अभाव में वस्त्र की कुटी बनाकर उसमें ठहरने को स्थान दे सकता है। रिकार्डिंग मशीन द्वारा उनके भाषण को रिकार्ड कर सकता है। ये सब साधन गृहस्थ द्वारा यथासमय उपयोग में लाए जा सकते हैं। पर साधु इन साधनों का उपयोग स्वीकार करके भी इन साधनों को स्वीकार नहीं कर सकता। इनका स्वायत्तीकरण परिग्रह ही है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि परिग्रह का दान साधु को नहीं दिया जा सकता। किन्तु मात्र ज्ञान और संयम के साधनभूत सुनिश्चित पदार्थों का दान ही जिनकी चर्चा ऊपर आ गई है, उपकरण दान के नाम से किया जा सकता है।

आवासदान के स्थान में अभयदान शब्द का भी उपयोग ग्रन्थान्तरों में किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्थान का दान उनकी रक्षा की दृष्टि से है वैसे ही अन्य अवसरों पर आवश्यकता होने पर उनकी हर प्रकार रक्षा करना, रुग्णादि अवस्था में सेवा करना अभयदान है। आर्यिकाओं को उक्त दानों के सिवाय एक साड़ी का दान भी दिया जा सकता है। श्रावक दान के लिए पात्र माना गया है अतः दान के प्रकरण में किए गए भेदों में उसके योग्य भी पदार्थों की गणना की जा सकती है जो उसके व्रतों में सहायता दें। उसे निराकुल बना सकें, किन्तु उसके परिगृहीत व्रत के लिए बाधक न हों। जैसे क्षुल्लकों के लिए लँगोटी और खण्डवस्त्र। ऐलकों के लिए मात्र लँगोटी वस्त्रों में दी जा सकती है। क्षुल्लक एक भोजन पात्र भी साथ रख सकते हैं, अतः उन्हें एक भोजनपात्र भी दान में दिया जा सकता है। शेष प्रतिमाधारी श्रावकों तथा अव्रती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टियों को उनके सम्यग्दर्शन व्रत और क्रियाओं के लिए साधनभूत साधनों का देना, अथवा उनके व्रतों में बाधक कारणों को दूर करना दान है। जैसे—

आजीविका रहित गृहस्थ को आजीविका के अहिंसक साधन प्रदान करना, अन्नादि देना, व्यापार को पूँजी देना आहारदान है। बीमारी की स्थिति में औषधियों द्वारा व वैद्य द्वारा सहायता पहुँचाना, उसकी शारीरिक सेवा टहल करना औषधिदान है। भोजनालय और औषधालय द्वारा सर्वसाधारण क्षुधित और रोगियों की सेवा करुणादान है। सज्ज्ञान वर्धक पुस्तकें देना, पठन-पाठन के अन्य साधन देना, उक्त कार्य के लिए अध्यापक नियत करना, विद्यादान के स्थान बनवाना और छात्रवृत्ति देना आदि ज्ञानदान है। गृहस्थ के धन-जन की सुरक्षा करना, विपत्ति में साथ देना, उत्पीड़न होने पर मदद देना, उनके धर्म साधनों पर बाधा उपस्थित हो जाय, आततायियों द्वारा आजीविका छीनी जाय, धार्मिक व सामाजिक सुविधाओं पर कुठाराघात हो, विपत्ति आ जाय, चोर व डाकुओं का उपद्रव बढ़ जाय, अग्निदाह आदि आकस्मिक आपत्तियाँ आ जायँ तो इन सबको यथाशक्ति तन, मन व धन से दूर करने का प्रयत्न करना अभयदान है।

इन सब चारों दानों को देते समय यह भावना रहती है कि धर्मात्मा पुरुष अपना धर्मसाधन करें और मैं उनके धर्मसाधन के लिए जो भी सेवा कर सकूँ उसका करना मेरा कर्तव्य है। जो दान उक्त उद्देश्य से नहीं किया गया, मात्र करुणा से दुःखी प्राणियों के लिए किया जाय वह करुणादान है। समकक्ष के श्रावकों में पारस्परिक सहानुभूति तथा प्रेम बढ़ाने के हेतु भोजन कराना, विवाहादि अवसरों पर व्यवहार के रुप में रुपया, जेवर वस्त्रादि देना, मरणादि के दुःख में व्यवहार का निर्वाह कर उनके कुटुम्बियों की सहायता करना यह सहयोग पद्धति पर देना समवृत्ति दान है। अपने कुटुम्ब वर्ग को जिनका यद्यपि हमारे मरणोत्तर काल में हमारी संपत्ति पर स्वयं अधिकार प्राप्त होगा तथापि हम अपने जीवन काल में ही यदि संपत्ति से मोह त्याग कर उन्हें दें तो वह अन्वयदत्ति नामक दान है।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं जो अन्वयदत्ति कोई दान नहीं है, वह तो कुटुम्बियों का अधिकार प्राप्त द्रव्य है। दाता न भी दे तो अधिकारी कुटुम्बी स्वयं ले ही लेता। अतः इसे दान में परिगणित नहीं करना चाहिए।

यह प्रश्न उचित है। इसका समाधान यह है कि अन्वयदत्ति की गणना श्रेष्ठ दानों में है, पर वह पात्र की दृष्टि से नहीं। जैसे शास्त्रदान, पात्रदान और करुणादान में पात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की सुविधा की प्रधान दृष्टि है, इसमें दाता को तो पुण्य बंध होने से परोक्ष फल है, प्रत्यक्ष में तो पात्र की सेवा ही है, वैसे अन्वयदत्ति में नहीं। इसमें पात्र के लाभ की दृष्टि गौण है, स्वयं के लाभ की दृष्टि अधिक है। स्वयं दाता का लाभ इसमें साक्षात् है परोक्ष नहीं। कारण यह है कि अपनी सम्पत्ति से अपने जीवन काल में मोह त्याग कर उत्तराधिकारी को देना अपने को संसार कीच से निवृत्त करने का उपाय है। वह श्रावक संपत्ति से तथा कुटुम्ब से भी मोह रहित हो आत्मसाधन के लिए धर्माचरण को अंगीकार करता है। अतः उसका साक्षात् लाभ है।

वह अपना धन अपने द्वारा पोषण किए जानेवाले पोष्य वर्ग, अपने द्वारा गृहस्थ श्रावक के नाते किये जानेवाले देवपूजन, गुरु-सेवा, पात्र-दान आदि धार्मिक कार्य के निमित्त उत्तराधिकारी पुत्र आदि को सौंपकर आप गृहारम्भ से निवृत्त हो जाता है। यह दान स्वयं दाता के लिए अत्यन्त लाभदायक है, अतः इसकी गणना भी दान के भीतर है।

क्षुधित के लिए भोजन की तरह कामी के लिए स्त्रीदान, रतिदान व आराम और विषय-साधनों के लिए बाग-बगीचा का दान, गीतदान, नृत्यदान, नाटक-सिनेमा-दान, तेल व इत्र का दान अथवा अन्य पाप के साधनों का दान मोह, संसारवर्द्धक व पापोत्पादक होने से कुदान है। ऐसे दानों से महत्पापों का सञ्चय होता है, अतः ये अग्राह्य हैं, नरकादिबन्ध के हेतु हैं। इनके साथ दान शब्द का उपयोग करना भी पाप का हेतु है।

अतः दान या अतिथिसंविभागव्रत का पालन विवेक के साथ ही सम्भव है, अविवेक के साथ नहीं। श्री जिनेन्द्र की अर्चा, पूजन, अभिषेक, रथयात्रा, धर्म-प्रभावना, ज्ञानवर्धक पुस्तकों का प्रचार, धर्मोपदेश देना, जैनधर्म के प्रचार, उसकी स्थिरता, उसकी कीर्ति के बढ़ाने हेतु जो-जो कार्य किए जायँ उनमें जो द्रव्य का, समय का तथा जीवन का उपयोग करते हैं वे सब उत्तम दानी हैं। दान स्वार्थ त्याग का दूसरा नाम है। अतः न केवल धन त्यागने से मनुष्य दानी होता है। किन्तु स्वार्थ त्याग किसी भी रूप में किया जाय यदि उसका उद्देश्य पवित्र है तो वह सब उत्कृष्ट दान है।

कुछ सज्जनों की ऐसी धारणा है कि धनी पुरुष ही दान का अधिकारी है। दरिद्र के पास कुछ है ही नहीं तब दान क्या दे? इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी विचार करना अत्यावश्यक है। जैनागम के अनुसार सर्वोत्कृष्ट दान तो मुनि के लिए दिए गए आहार औषध आदि हैं। साधु के हेतु किए गए दान में द्रव्य के खर्च की प्रमुखता नहीं है किन्तु श्रद्धा और भक्ति भावना की मुख्यता है। देना तो मात्र आहार है और वह भी अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हेतु जो सादा साधारण शुद्ध भोजन आपने तैयार किया हो उसमें से ही कुछ अंश देना है, अतः इसमें द्रव्य के खर्च का प्रश्न ही नहीं है। धर्म प्रेम का ही प्रश्न है।

दानी से दानी व्यक्ति भी करोड़ों का दान कर सकता है पर अपने पास यदि सीमित भोजन हो, और अन्य कोई भोजनार्थी आ जाय तो उसे अपना भोजन देने में कष्ट होगा। वह उसके एवज में उससे चौगुना या अठगुना भी द्रव्य उसे दे सकेगा पर जो उसके उपयुक्त रखा हुआ सीमित भोजन है उसे नहीं दे सकेगा। ऐसा होने पर भी यदि उसका प्रिय पुत्र या अन्य इष्टतम संमुख आ जाय तो वह ममता से उस भोजन को अपने इष्टतम को प्रेम से खिला देगा। उस समय कुछ भी कष्ट का अनुभव न करेगा बल्कि ऐसा करने में उसे प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार गृहस्थ भी अपने हेतु बनाए हुए नित्य के साधारण जीवन में सहायक जीवनोपयोगी भोजन में से समय पर पधारे हुए अनन्य श्रद्धा के भाजन गुरुजन के आ जाने पर बड़ी ममता, विनय और भक्ति के साथ उनकी आवश्यकता पूर्ति के लिए दान कर देता है और बड़ी प्रसन्नता से अपने जीवन को धन्य मानता है।

धनी केवल उस धन का त्याग करता है जो उसके पास आवश्यकता से अधिक संगृहीत है। निर्धन उस धन का त्याग करता है। जो उसके पास उसकी अधिक से अधिक जरूरी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए संगृहीत है। धनी केवल धन दे सकता है पर निर्धन साधु की तथा अन्य धर्मात्माओं की अथवा साधर्मियों की अथवा दुःखी जनों की तन से व करुणा बुद्धि से सेवा, श्रद्धा, विनय और सहानुभूति यथायोग्य कर सकता है यदि वह करे तो। अतः उक्त प्रश्न निराधार है।

मनुष्य जितना अधिक अपने विषय साधनों का त्यागी है वह उतना ही बड़ा दानी है। सर्वारम्भ परिग्रह के त्यागी भगवान् अर्हन्तकेवली के क्षायिक दान नामक गुण कहा गया है। यदि द्रव्याश्रित ही दान हो तो भगवान् अर्हन्त सर्वोत्कृष्ट क्षायिक दान के दाता कैसे बन सकते हैं, अतः 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' स्वपर अनुग्रह के लिए स्वार्थ का त्याग दान है यह भगवान् गृद्धपिच्छकी दान की व्याख्या सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है।

भगवान् अर्हन्त तीन लोक के धनी हैं। समवसरणादि महान् विभूति उनके है। इन्द्रादि असंख्य देव तथा विद्याधर चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े उनके सेवक हैं, अतः इस सब विभूति को त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के कारण वे अनन्तदानी हैं ऐसा भी कोई-कोई शंकाकार समाधान कर लेते हैं पर यह समाधान सही नहीं है यह आगम के सामान्य ज्ञाता भी जानते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर भगवान् अर्हन्त सम्पूर्णतया रागद्वेष रहित होने से पूर्ण वीतराग हैं। उक्त विभूतियाँ इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के भक्ति के फलस्वरूप समवसरण आदि में एकत्रित हैं। उनमें भगवान् को न राग है और न उनका स्वामित्व है। आप स्वामी हैं, तीन लोक के धनी हैं, अनुपम विभूति के धारक हैं इत्यादि वाक्यों का उपयोग भक्तिवशात् ही किए जाते हैं। वस्तुतः उन पदों का जो वाक्यार्थ है वह सही नहीं है। यथार्थ यह है कि तीन लोक के हितकारक होने से त्रिलोक के प्राणी उन्हें अपना स्वामी कह सकते हैं। उनकी भक्ति के वश जिस समवसरण की रचना इन्द्रादि करते हैं उतनी विभूति तथा सर्वोत्कृष्ट सामग्री अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती इसलिए अनुपम विभूतिवान् कह देते हैं। पर उनकी वास्तविक विभूति तो उनके आत्मीय गुण हैं। बाह्य विभूति के रूप में तृणमात्र भी उनके द्वारा गृहीत नहीं है। तब जिन पदार्थों का ग्रहण ही नहीं है अथवा जिनके ग्रहण करने का भाव या रुचि ही नहीं है उनको ये त्याग कर क्षायिक दानी हैं ऐसा समझना भूल है।

क्षायिक दानी तो सिद्धपरमात्मा भी हैं। वहाँ तो कोई समवसरणादि भी नहीं है। इससे सिद्ध है कि परम वीतराग प्रभु अर्हन्त या सिद्धावस्था में सिद्ध अपने परम पवित्र स्वरूप दर्शन से ही असंख्य प्राणियों के उद्धारक हैं उनके भव दुःख से उद्धार होने में निमित्त हैं, अतः इस निमित्त से वे दानी हैं। उनसे अधिक त्यागी कौन हो सकता है जिन्होंने न केवल बाह्य परिग्रह को किन्तु आन्तरिक रागद्वेष को भी त्याग दिया है अतः वे सर्वोत्कृष्ट त्यागी या दानी हैं।

इस प्रकार उक्त परमदाता की पदवी प्राप्त करने की अभिलाषा से ही गृहस्थ उक्त मार्ग पर पदार्पण करनेवाले साधुवर्ग की, धर्मात्मा गृहस्थ की तथा सम्यग्दर्शन संयुक्त प्राणी की यथायोग्य वैयावृत्ति या अनेक प्रकार की सहायता करता है, यही अतिथिसंविभाग व्रत है।२००।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार

(अनुष्टुप्)

ये सचित्तनिक्षेपाद्या अत्ययाः पञ्चसंख्यकाः ।
ते त्याज्या दुःखदा भव्यैः सुखी स्वात्मा भवेद्यतः ।।२०१।।

य इत्यादिः— सचित्तनिक्षेपः सचित्तापिधानं परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति ये पञ्चातिचारा उक्ता अतिथिसंविभागव्रतस्य तेषामेवात्र वर्णनमभिप्रेतम् । तद्विस्तरः—(१) सचित्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पत्रादौ अप्रासुकजलादिसंयुक्ते भाजने अपक्वे मृद्भाजने वा आहारादिदेयद्रव्यस्य निक्षेपे सति तद् द्रव्यं न दानयोग्यम् । (२) तद्वत् सचित्तेन पत्रादिना अपक्वेन जलादिना संयुक्तेन भाजनेन पूर्वोक्तमृद्भाजनेन वा पिधाने न तद् द्रव्यं दानयोग्यं स्वीकृतम् । तथापि तद्द्रव्यस्य दाने स्यादुपयोगः तदा तौ स्यातामतिचारौ दानव्रतस्य। सचित्तद्रव्यं न स्वीक्रियते साधुजनैस्तथापि यदि तत्र प्रमादेन श्रावकैरेवं विधीयते तथा दातुर्विवेकाभावात् तौ तस्य स्यातामतिथिसंविभागस्यातिचारौ। अत्रापि सचित्तपदमुपलक्षणम्। सचित्तवत् अन्यानादेयपदार्थसंयुक्ते भाजने निक्षेपस्तथैव तेन भाजनेन पिधानञ्च स्यादतिचारः। दात्रा श्रावकेण खलु सविवेकेन भवितव्यम् । विवेकाभावेनैव स्यादतिचाराणां सम्भावना। (३) परव्यपदेशः यद्द्रव्यं स्वस्य नास्ति तदपि साधवे यदि ददाति तदा तत्परव्यपदेशनामातिचारः। अथवा स्वकीयमपि द्रव्यं न स्वयं ददाति परान् दानकरणे व्यपदेशयति स्वयं तु कार्यान्तराणि करोति तदापि स्यात्परव्यपदेशः। स्वस्यैव द्रव्यस्य दानस्याधिकारः न तु परस्वामिकस्य द्रव्यस्य तथापि प्रमादतः विवेकरहितभक्तितो वा तद्दाने स्यादतिचारः। (४) अन्यदातुः मात्सर्येण दानकरणमपि स्यादतिचारः। स्वेच्छया सहजौदार्यपरिणामेनैव दानं कर्तव्यम्। परासूयया परहीनताप्रदर्शनेन स्वोच्चताप्रकाशनाभिप्रायेण वा दानं न स्याच्छ्रेष्ठम् । तस्मात् यदि कश्चिदेव करोति तर्हि स्यादतिचारः। (५) समागताय पात्राय समये दानं देयम् । तत्रापि कार्यान्तरवृत्तितया भोजनादिद्रव्यनिष्पत्तौ तन्निष्पत्तिकालपर्यन्तं वा समयं व्यतीत्य दानकरणं कालातिक्रमनामातिचारः स्यात्। परव्यपदेशकालातिक्रमस्थाने केनचिद् ग्रंथान्तरे अनादरेण दानं दानस्य विस्मरणं तद्विधेर्विस्मरणं इति द्वावतिचारावुक्तौ। सर्वेऽप्येतेऽतिचाराः दानव्रतस्य। सविवेकेन श्रावकेण खलु दानं देयम् । सप्तगुणसमाहितेषु श्रावकेषु न स्यादतिचाराणां संभावना। तथापि कदाचित्स्यात्प्रमादतस्तर्हि ते दुःखदाः भवन्ति ततो भव्यैस्सदा ते त्याज्याः।२०१।

इस अतिथिसंविभाग व्रत में पाँच प्रकार के अतिचारों की संभावना ग्रंथों में बताई गई है। उनकी ओर ही यहाँ आचार्य का संकेत है कि वे अतिचार अविवेकपूर्ण होने से व्रत के दूषक हैं, अतः उनका फल दुःख ही है। यह समझकर उक्त अतिचार या उन जैसे अन्य भी अतिचार भव्य पुरुषों को नहीं लगाने चाहिए जिससे व्रत निर्मल हो और उसके परमोत्तम फल को प्राप्त कर वे सुखी बन सकें। अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन कार्यों के करने से मूलतः व्रत नष्ट न होते हुए भी अंशतः खण्डित होते हों अथवा जिनसे व्रतों में दोषोत्पादन हो ऐसे कार्य प्रमाद से हो जायँ तो वे अतिचार नाम पाते है। यहाँ अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार निम्न भाँति कहे गए हैं— (१) सचित्तनिक्षेप, (२) सचित्तपिधान। अर्थात् सचित्त द्रव्य कमलपत्र या कच्ची मिट्टी के वर्तन आदि में भोजन योग्य द्रव्य को रखकर दान देना अथवा उससे ढक कर रखे हुए आहारादि द्रव्य को दान में देना उक्त दोनों अतिचार हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुजन सचित्त द्रव्य ग्रहण नहीं करते। वे यह देखने नहीं आते कि आपने अपने विवेक से कार्य किया है या नहीं। वे अपके वचन पर भरोसा करके ही आहार को विशुद्ध मानकर आहारादि द्रव्य में से लेते हैं। यदि गृहस्थ उसमें भूल करे तो उसे अतिचारादि दोष है, साधु के लिए नहीं। साधु को यदि प्रतीत हो जाय तो साधु भी उस दोष के परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त लेते हैं। अतः विवेकी श्रावक को इन दोषों से बचना चाहिए। सचित्त शब्द भी उपलक्षण है। ये दोनों अतिचार केवल सचित्त द्रव्य के निमित्त से ही नहीं हैं किन्तु सचित्त जैसे अन्य त्याज्य पदार्थों के संपर्क से सहित पदार्थों का दान भी उक्त अतिचारों में सम्मिलित होगा।

सचित्त शब्द की व्याख्या में इस समय कुछ विवाद खड़ा है। उसकी चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा, अतः विचार किया जाता है। वैसे तो सचित्त का अर्थ सजीव है। त्रसादि जीवसहित पदार्थ भी सचित्त शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं पर ऐसे सचित्त से यहाँ तात्पर्य नहीं है। ऐसे सचित्त का त्याग तो श्रावक के पाक्षिक अवस्था में ही हो चुका है। यहाँ सचित्त से तात्पर्य एकेन्द्रिय पंच स्थावर जीव सहित पदार्थों को सचित्त मानने से है।

वृक्ष में वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव है। यतः उसमें एक ही जीव है अतः उससे टूटे हुए पत्र या फलफूल आदि चाहे वे कच्चे हों या पक्के हों अचित्त ही है ऐसी मान्यता इस काल में उत्पन्न हुई है और यह मान्यता कुछ विद्वानों द्वारा प्राचीन एवं शास्त्रोक्त मानी जाने लगी है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या यह मान्यता आगमानुकूल है या नहीं। हमारी (टीकाकार) की समझ से सचित्त का उक्तार्थ सही नहीं है। वनस्पति वृक्षादि यद्यपि जीव एकेन्द्रिय से अधिष्ठित होते हैं तथापि उसके प्रत्येक पत्र पुष्प फलादि में पृथक-पृथक एकेन्द्रिय जीव होते हैं। वे वृक्ष में ही लगते हैं, इससे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वे वृक्ष के अंग हैं, जैसे हमारे हाथ पैर वगैरह ऐसी मान्यता सही नहीं है।

जब एकेन्द्रिय जीव के अंगोपांग नामकर्म का ही उदय नहीं है तब वृक्ष के पत्रफलादिकों को मनुष्य के हाथ-पैर की तरह एक जीव के शरीर के अंग मानना आगमविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि जहाँ सचित्त निक्षेप नामक इस अतिचार का वर्णन है वहाँ उसकी व्याख्या में पूज्यपादस्वामी ने या राजवार्तिक में भगवान् अकलंकदेव ने "सचित्ते पद्मपत्रादौ" ऐसा अर्थ किया है अर्थात् सचित्त कमलप्रत्र आदि में रखा हुआ आहार देना अथवा उससे ढका हुआ द्रव्य देना सचित्तनिक्षेप या सचित्तपिधान नामक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतिचार है, अतः इस व्याख्या के रहते हुए पद्मपत्र को सचित्त न मानना आगम विरुद्ध है।

यदि वृक्ष में संलग्न पत्र को ही सचित्त माना जायगा तो उक्त व्याख्या के अनुसार ये दोनों अतिचार संभव ही नहीं हैं। कारण यह कि यह सर्व विदित है कि कमल तालाब में उत्पन्न होता है, अतः सरोवर के जल के मध्य में रहने वाले संलग्न पत्र ही सचित्त पत्र होंगे और उस स्थान में न तो श्रावक ही आहार देने खड़ा होगा और न कोई मुनि सरोवर के जल के मध्य में खड़े होकर आहार ग्रहण करने जाँयगे। उक्त सचित्त की व्याख्या के अनुसार तो सचित्त पद्मपत्र में रखे या ढके हुए आहार संबन्धी अतिचार तब ही संभव होंगे जब श्रावक और मुनि सरोवर के जल में घुसकर पद्मपत्र के पास जाँय और वहाँ वृक्ष लग्न पत्र में ही आहार रखा जाय या ऐसी ही हालत में उससे ढका जाय। दोनों बातें संगत नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि अपने भोजन गृह में लाए हुए कमल या केले आदि के पत्र में यदि आहार रखा जाय तो उसे सचित्त निक्षेपाहार मानना उक्त दोनों महान् आचार्यों को इष्ट है, इसलिए ही उक्त व्याख्या उन्होंने की है।

उक्त मान्यता का संक्षेप में विचार कर हम आगे बढ़ेंगे। इस मान्यता को लोक परम्परा का भी अनुमोदन प्राप्त नहीं है। जैन गृहस्थ न केवल दिगम्बर किन्तु श्वेतांबर परम्परा में भी अष्टमी, चतुर्दशी; दशलक्षणी पर्व, अष्टाह्निका पर्व अथवा अन्य व्रत के दिनों में हरी वनस्पति शाक आदि का भोजन में उपयोग नहीं करते। यदि वह अचित्त द्रव्य माना गया होगा तो इस प्रकार की परम्परा न होती। हरी शाक, फल आदि को सचित्त न मानने वाले कुछ विद्वानों और साधुओं द्वारा आजकल गृहस्थों को यह समझाया जाता है कि तुम्हारा शाकाहार का व्रत के दिनों में त्याग मिथ्यात्ववर्धक है, आगम विरुद्ध है। अतः व्रत में भी शाकाहार किया करो, ऐसी विपरीत प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है, किन्तु युक्ति, तर्क और आगम प्रमाण के सिवाय परम्परा भी वस्तु के निर्णय में प्रमाणभूत होती है। उस परम्परा में शाक आदि सचित्त ही माने गए हैं और इसी से गृहस्थ व्रत के दिनों में उनका उपयोग नहीं करता ।

कोई-कोई साधु ने तो ऐसा भी हठ किया है कि जो गृहस्थ अष्टमी आदि पर्व में हरित शाकाहार को सचित्त मानकर न खायगा उसके हाथ से आहार ग्रहण नहीं करेंगे। साधु की इस अनुचित प्रतिज्ञा से श्रावक धर्म संकट में पड़ गए हैं। वे यह सोचने लगे कि यद्यपि पर्व में हरित खाने में आगम विरुद्धता है तथापि न खाने से साधु के आहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होते तो भी एक महान् दोष है। ऐसे धर्म संकट में प्राण अटक जाने पर कुछ सज्जन साधु के आहार न देने के पाप से भयभीत हो सचित्ताहार पर्व में करने लगे और कुछ ने आगम विरुद्धाचरण के भय से ऐसा नहीं किया। भले ही वे उस साधु को आहार नहीं दे सके। उन्होंने आहार दान का संवरण कर लिया पर आगम विरुद्ध मान्यता को स्थान नहीं दिया। विद्वज्जन और साधुगण उक्त विवेचन पर विचार करें और जो आर्षमार्ग के अनुकूल हो उसे ही स्वीकार करें।

(३) यदि दाता स्वाधिकृत द्रव्य को दूसरे को सौंपकर आप कार्यान्तर के लिए चला जाय तो यह परव्यपदेश नामक दान का तृतीय अतिचार है। अथवा परकीय द्रव्य को दान में देवे तो यह भी परव्यपदेश है। वर्तमान काल में श्रावकजन फल आदि वस्तु या रुपया दूसरे श्रावकों को दे देते हैं। इस अभिप्राय से कि वे वह वस्तु या उस धन से द्रव्य खरीद कर मुनियों को आहार दान में दे दें। यह पद्धति सदोष है। दाता यदि ऐसे द्रव्य का दान देता है तो वह परव्यपदेश है।

अनेक सज्जन दाता श्रावक को जो द्रव्य प्रदान करते हैं वे इस संकल्प से देते हैं कि यह द्रव्य हम आपको मुनिदान के लिए देते हैं और गृहीत श्रावक ऐसे द्रव्य को ले लेता है। यदि उस वस्तु का जो फल या दूध आदि के रूप में हो और यदि उस दिन साधु उक्त द्रव्यों को आहार में ग्रहण न करे तब ऐसी दशा में उस वस्तु का उपयोग कौन करे? यह भी विचारणीय है। क्या दाता इस तरह संकल्पित द्रव्य को अपने उपयोग में लाने का अधिकारी है, कदापि नहीं। ऐसा करने से वह अनधिकार परद्रव्य का उपभोग करने के कारण अपने व्रत में दोष लगायेगा क्योंकि इस पद्धति में उसका उपभोग व्रती श्रावक को भी हो जाता है, अतः न तो ऐसे संकल्प से द्रव्य देना चाहिए और न लेना चाहिए। यह निर्माल्य की तरह है।

गृहस्थ यदि देना ही चाहे तो श्रावक को ही संकल्प करके दे दे। गृहीता श्रावक उस द्रव्य का स्वामी बन जाने पर उस द्रव्य को दान में भी दे सकता है और स्वयं भी उसका उपयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में फिर किसी भी प्रकार के दोष की संभावना इस सम्बन्ध में नहीं रहती। वस्तु देनेवाला श्रावक अपने मन में भी यदि संकल्प रखेगा कि यह हम मुनिदान हेतु दूसरे श्रावक को दे रहे हैं तब यदि वह मुनिदान में नहीं लग सकी तो उसे दुःख होगा। इसलिए इस सम्बन्ध में मनःसंकल्प भी उचित नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) मात्सर्य—वह दोष है जो गृहस्थ को स्वेच्छा से दान न देने पर भी दूसरे की ईर्ष्या से उसके दान देने पर होता है। अनेक श्रावक अपने अन्य सहधर्मी भाइयों को दान देते हुए देखकर उत्साहित होकर स्वयं दान में प्रवृत्त होते हैं, उनको यह अतिचार या दोष नहीं है। जो श्रावक देना नहीं चाहते पर अपने प्रतिपक्षी दूसरे श्रावक को दान करते देख और उसकी कीर्ति बढ़ते देखकर उसे नीचा दिखाने के अभिप्राय से उससे बढ़कर दान देने को प्रस्तुत हो जाते हैं उनका यह भाव मात्सर्य नामक दोष है। इस प्रकार का दान यद्यपि दान की पद्धति से दिया गया है तथापि मूल भावना में ईर्ष्या होने से दान सदोष है।

(५) कालातिक्रम—समय पर दान न देकर असमय में देना। आहार निमित्त साधु के आने व उसके प्रतिग्रहण कर लेने पर आहारादि के तैयार होने के लिए समय देने के अभिप्राय से अथवा स्वयं को अन्य कार्य की आवश्यकता होने कें कारण साधु के पूजनादि कार्यों में इतना समय लगा देना कि जिससे आहार का काल उल्लंघन हो जाय तो यह कालातिक्रम नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

अनादर से दान देना तथा दान देने की विधि, समय, योग्यता और विशुद्धि आदि को भूल जाना भी दान के अतिचार हैं। इनका भी उल्लेख परव्यपदेश और कालातिक्रम के स्थान पर किन्हीं आचार्यों ने किया है। दान के वे भी अतिचार हैं।

विवेकी श्रावक दाता के सप्त गुणों को धारण करके दान दे तो उक्त अतिचारादि दोष प्राप्त नहीं होते। ये दोष दाता के लिए दुःखदायक हैं, अतः दान के पूर्ण फल को प्राप्त कर जो सुखी बनना चाहते हैं उन्हें अतिचारादि दोष दूर कर व्रतों को निर्दोष बनाना चाहिए। आहारदान की प्रधानता से कहे गए इन अतिचारों की औषधि, आवास और शास्त्र दान में भी यथायोग्य रीति से संभावना कर उनसे बचना चाहिए। २०१।

उपसंहार

द्वादशव्रतचिह्नानि तदतीचारकाश्च ये ।
ज्ञातास्ते वद मे शेषप्रतिमालक्षणं गुरो ।।

हे गुरुदेव! श्रावक के १२ व्रतों का स्वरूप तथा उनके अतिचार मैंने अच्छी तरह ज्ञात कर लिए हैं। अब श्रावक की शेष ९ प्रतिमाओं का क्या स्वरूप है, तथा उनकी परस्पर क्या विशेषता है, कृपाकर मुझे बतावें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय सामायिकप्रतिमाका स्वरूप

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायनिचयं समतां विधाय
शुद्धात्मधर्मविषये सुखदे स्वभावे।
चिद्रूपचैत्यनिलये निवसेत्सदा यः
सामायिकप्रतिमया स विभूषितः स्यात् ।।२०२।।

त्यक्त्वेत्यादिः— श्रावकस्य अष्टौ मूलगुणाः द्वादशोत्तरगुणाश्च सन्ति। सर्वेषामप्येतेषां स्वरूपं निरूपितं प्राक्।

अत्र प्रश्नः—यद्यपि व्रतप्रतिमायां द्वादश उत्तरगुणा सन्ति तथापि तृतीयादिप्रतिमासु कानि तानि व्रतानि सन्ति यतः प्रतिमाभेदः स्यात् ? द्वितीयाप्रतिमायामपि सामायिकशिक्षाव्रतमस्ति तदेव सामायिकं तृतीयप्रतिमायामस्ति न किंचिदन्तरमनयोः। कस्मात् तर्हि प्रतिमाभेदः क्रियते? इत्यत्रोत्तरयति— द्वितीयप्रतिमायां ये द्वादशोत्तरगुणाः कथिताः तेषु पञ्चाणुव्रतानि तु व्रतरूपाणि निरतिचाराणि सन्ति शेषाणि सप्त शीलरूपाणि सन्ति न व्रतरूपाणि, तेषां व्रतरूपत्वं तु तृतीयादिप्रतिमास्वेव। इदमेव तयोरन्तरम् । सामायिकस्य स्वरूपं सामायिकशिक्षाव्रतस्वरूपेण प्रतिपादितम् । तदेव सामायिकं अभ्याससरूपेण प्रातः सायं वा उभयोरपि कालयोर्वा कालत्रयेषु प्रातःमध्याह्नसायन्तनेषु वा द्वितीयप्रतिमायां क्रियते। सामायिकस्य कालः जघन्यो घटिकाद्वयं मध्यमो घटिकाचतुष्टयं उत्तमस्तु घटिकाषट्कमस्ति। इत्यस्यायमपि अर्थः यत् एकवारमेव क्रियते तदा तत्स्यात् घटिकाद्वयपर्यन्तम् । प्रातः संध्यायाश्च द्विवारं यदि सामायिकं क्रियते तदा तत्स्याद् घटिकाचतुष्टयपर्यन्तम् । सन्ध्यात्रयेऽपि यदि सामायिकं कुर्यात् तदा तत्स्याद् घटिकाषट्कपर्यन्तम् । अथवा प्रातः घटिकाद्वयं चतुष्टयं षट्कं वा तथैव मध्याह्ने संध्याकाले च क्रियमाणे जघन्यमध्यमोत्तमरूपं सामायिकं स्यात् । सामायिकप्रतिमायां न्यूनतः घटिकाद्वयपर्यन्तं उत्कृष्टतस्तु घटिकाषट्कपर्यन्तं सन्ध्यात्रयेऽपि करणीयम् । तत्रैव सामायिकं निरतिचारं व्रतरूपम्भवति। तस्मात् कषायविषयेभ्यः स्वात्मानं नियम्य इष्टानिष्टबुद्धिं परित्यज्य समभावमङ्गीकृत्य योग्यकाले योग्यक्षेत्रे योग्यासने सविनयेन शुद्धेन मनसा कायेन वचसा च सुखदे स्वभावे शुद्धात्मधर्मविषये चिद्रूपचैत्यनिलये सदा यो निवसेत् सः सामायिकप्रतिमया विभूषितः स्यात्।२०२।

श्रावक के १२ व्रतों में सामायिकशिक्षाव्रत है, यह व्रत द्वितीय प्रतिमा में श्रावक द्वारा धारण किया गया था तथापि वहाँ यह शीलरूप था। व्रतप्रतिमावाला सामायिक करने की आदत डालता है, अभ्यास करता है और उसके अतिचारों को भी बचाने का प्रयत्न करता है तथापि यह कठिन व्रत है अतः अतिचार लग ही जाते हैं। इस प्रतिमा में यह व्रत सातिचार ही हो सकता है निरतिचार नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक का समय प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल है। तीनों कालों में कम से कम २ घड़ी, मध्यम रीति में ४ घड़ी और उत्तम रूप में ६ घड़ी सामायिक करना चाहिए। कोई कोई ऐसा कहते हैं जो सामायिक का काल मात्र २ घड़ी ही है। जो व्रत प्रतिभाधारी केवल प्रातःकाल ही सामायिक करते हैं वे २ घड़ी काल मात्र करने के कारण जघन्य सामायिक करते हैं। जो प्रातः सायं दोनों कालों में करते हैं वे मध्यम ४ घड़ी सामायिकवाले हैं। इसी प्रकार तीनों संध्याओं में दो-दो घड़ी सामायिक करना ६ घड़ी समयवाली उत्तम सामायिक है। सामायिक प्रतिमावाला उत्तम सामायिक ही स्वीकार करता है, न कि मध्यम या जघन्य। व्रत प्रतिमावाला क्रमशः जघन्य मध्यम और उत्तम सामायिक का अभ्यास करता है। उभय व्याख्यानों का निष्कर्ष इतना है कि सामायिक प्रतिमा में सामायिक शिक्षा व्रत पूर्णता को प्राप्त होता है। द्वितीय प्रतिमा में यह केवल अभ्यासात्मक है अतः अतिचारादि दोष उसे प्राप्त हो जाते हैं।

सामायिक प्रतिमावान् जो एकान्त हो, जन संपर्क रहित हो, जीवजन्तु की बाधा रहित हो, अति शीत या अति उष्ण न हो ऐसे योग्य क्षेत्र में योग्य काल का विचार कर खड्गासन या पद्मासन से अथवा अर्धपद्मासन से अत्यन्त विनय भाव से पंचपरमेष्ठी की भक्ति को हृदय में धारण कर उनके आदर्श पर पहुँचने की भावना रखता हुआ मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियों की चंचलता को रोक कर उन्हें स्थिर कर स्वात्मध्यान करता है।

सुख में, दुःख में, धनिकता और दरिद्रता में, मृत्तिका और रत्न में, शत्रु और मित्र में, इष्ट के संयोग में और उसके वियोग में, महल में और श्मशान में, निन्दा करनेवाले में और अपनी प्रशंसा करने वाले में, अपने को मारने वाले में और अपने पर शस्त्र प्रहार करनेवाले में प्रत्येक विरुद्ध स्थिति के रहते हुए भी जो अपने को समान बुद्धिवाला बना सकता है वही सच्चा सामायिकी है। ऐसी समता बुद्धि का निवासी ही विषय कषायों से अपने को बचाकर शुद्ध चिन्मय स्वात्ममन्दिर का प्रतिष्ठित देवता है। वही संवर और निर्जरा को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ही इस खड्गधारावत् कठोर व्रत के सच्चे स्वामी हैं। बिना सामायिक के मुक्ति प्राप्त नहीं होती। जितने भी व्रत हैं उन सबका एकमात्र उद्देश्य समता भाव की प्राप्ति ही है। यद्यपि साधु प्रतिसमय अपने परिणाम ऐसे ही समता रूप रखते हैं तथापि उस भावना को उन्नत बनाने के लिए संध्यात्रय में सामायिक करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थ भी देशव्रती है और महाव्रत का अभिलाषी है अतः उस महत्त्वशाली अवस्था को प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टि से वह इस प्रतिमा में नियत काल तक उसे स्वीकार कर उतने समय महाव्रती की तरह विशुद्ध परिणामवाला बन जाता है। द्वितीय प्रतिमावाला इस व्रत का आरंभ करता है तथा तृतीय प्रतिमा में तथा उससे आगे-आगे की प्रतिमाओं में उस व्रत का पालन करते हुए वृद्धि होती है और तब दिगम्बर मुनि अवस्था में उसका पूर्णरूप प्राप्त करने की योग्यता आती है।

मन बड़ा चञ्चल है। अनादि से बिगड़े हुए संस्कार इस पर हैं। उन संस्कारों को दूर कर वायुवेग से भी अत्यन्त चञ्चल और बिजली की चमक से भी अधिक परिवर्तनशील उस मानसिक वृत्ति को सुसंस्कारों से संस्कारित करना बहुत कठिनतम कार्य है। यही एक मात्र कार्य है जिसकी सिद्धि के लिए मुनिजन जीवनभर प्रयत्न करते हैं। अनेक प्राणियों ने तो अनेकानेक जन्मों में मुनिव्रत धारण कर इस पर आरोहण किया है। तब कहीं जाकर सफलता पाई है। अनेक इतने प्रयत्नों पर भी सामायिक को प्राप्त करने में असफल रहे हैं। इस प्रकार इस एकमात्र लक्ष्यभूत सामायिक की प्राप्ति के लिए बहुत सावधानी के साथ सामायिक प्रतिमावान् गृहस्थ नियत समय तक प्रतिज्ञाबद्ध होकर प्रयत्न करता है। गृहस्थ के सप्त शीलों में सामायिक शील यहाँ पूर्ण होता है।

पूर्व या उत्तर मुख होकर खड़े होकर नमस्कार मन्त्र का नौबार स्मरण कर उस दिशा में होनेवाले केवली, श्रुतकेवली, आचार्य, उपाध्याय, साधुजन, जिनमन्दिर, जिनतीर्थ, चरणचिह्न और भगवान् के समवसरण आदि मंगलभूत वस्तुओं को बारंबार स्मरण कर प्रदक्षिणात्रय के प्रतीक तीन आवर्त पूर्वक उन सबको प्रणाम करे। ऐसा ही चारों दिशाओं में करके पुनः पूर्व या उत्तर मुख हो जाय जैसा पूर्व में था। इसके बाद त्रिलोक में स्थित पंचपरमेष्ठी का तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों का, तीर्थों का, समवसरणादि समस्त धार्मिक स्थानों का स्मरण कर उन्हें प्रणाम कर बैठ जाय अथवा खड़े रहकर सामायिक करे।

सर्व प्रथम अपने जीवनकाल के या दैनिक जीवन के पापों और अपराधों का विचार कर उनकी आलोचना करे। भगवान् से कृत कर्मों के लिए क्षमा याचना करे। इसके बाद आगे कभी ऐसे पाप का अपराध मैं न करूँ ऐसा विचार कर उनका त्याग करे। इस तरह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान विधि को करके विषय कषायों की चिन्ता से सब प्रकार से मुक्त होकर समता भाव का आसेवनकर स्वात्मावलंबियों व श्रेष्ठ पञ्च परमेष्ठियों की वन्दना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करे व उनके गुणों की स्तुति करे। ऐसा करते करते व संसार की दशा का विचार करते करते बारह भावनाओं का आलंबन कर शरीर से भी ममत्व त्याग स्वात्मध्यान का अभ्यास करे। इसका नाम सामायिक है। पञ्चनमस्कार मंत्र का जप, सामायिक पाठ वाचन, अन्य कविकृत स्तुतियाँ व वन्दना के पाठ ये सब उक्त कार्य के लिये आलंबनभूत हैं। इनका आश्रयकर अपने मूलोद्देश्य की पूर्ति करे।

इस तरह सामायिक प्रतिमा का स्वरूप है। यह व्रती पूर्वोक्त पाँच अतिचारों का बचाव तो करता ही है साथ ही सामायिक में और भी अनेक दोष आ जाते हैं जिनको ३२ दोषों में नियुक्त कर उनके त्याग का उपदेश दिया गया है उनसे बचने का भी प्रयत्न करना चाहिये। यही बात आचार्य आगे प्रतिपादन करते हैं।२०२।

(अनुष्टुप्)

द्वात्रिंशद्दोषाः कथिताः सामायिकविनाशकाः ।
त्याज्याः स्वात्मा यतः स स्याच्छुद्धचिद्रूपनायकः ।।२०३।।

द्वात्रिंशदित्यादिः— सामायिकस्य विनाशकाः द्वात्रिंशद्दोषाः सन्ति। तथा कृते सति न किंचिदुत्तमं फलं भवति। अनादरात्-गर्वात् कीर्तिसंपादनाभिलाषात्-परपीडामवगणय्य-कायमस्थिरीकृत्य-वक्रमुखेन-संकुचितशरीरेण-ऊर्ध्वाधोभागसंचलनेन-दुष्टपरिणामसहितेन-आगमाम्नायविरुद्धेन-सभयेन-ग्लानिसहितेन-स्वबुद्धिविद्याधनगौरवमनुभवता-ज्ञानकुलोच्चत्वमनुभवता-चौरवत् प्रच्छन्नरूपेण-सामायिककालमुल्लंघ्य-भयोत्पादककर्मणा-सावद्यवचनोच्चारणपूर्वक-परनिन्दया-भ्रूयुगं-चालयता-संकोचयता वा यत्र तत्रावलोकयता- स्थानप्रतिलेखनमकृत्वा-च अव्यवस्थितमनसा-यत्किंचिदपि विचारयता-गुनगुनेति यत्किंचिदपि उच्चारयता-भेकवत् मध्ये मध्ये उच्चैर्वच उच्चारयता-विस्मृतितया खण्डं पाठमुच्चारयता-वा लौकिकवांछायुक्तचित्तेन-यद्वा सामायिकं न करणीयम्। तथाकरणे तस्य किंचिदपि साफल्यं न भवति। निर्दोषसामायिकेन कर्मणां आस्रवो न भवति, संवरपुरस्सरं निर्जरा भवति संवरनिर्जराभ्यामेव मुक्तिर्भवति तस्मात् भवदुःखभीतेन सादरं यथासमयं विशुद्धपरिणामेन प्रमादरहितेनैव सामायिकं प्रीतिपूर्वकं कर्त्तव्यं यतः स आत्मा शुद्धचिद्रूपनायकः स्यात्।।२०३।।

सामायिक में ३२ प्रकार के दोषों की संभावना शास्त्रों में बताई गई है। अनादर से, गर्वयुक्त, दूसरों से कीर्ति मिले इसलिए, दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करते हुए, अपने शरीर को स्थिर न रखकर, अंग चलाचल करते हुए, तिरछे मुख से अथवा संकुचित शरीर से, ऊँचानीचा शरीर करते हुए, दुष्परिणामों से, आम्नायविरुद्ध, भयसहित, ग्लानिसहित, या अपने बड़प्पन का अनुभव करते हुए, अपनी उच्चजाति कुल का गौरव समझते हुए और चोर की तरह छिपते हुए, सामायिक के काल का उल्लंघन कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक करना उचित नहीं है। इसी तरह दुर्वचन, पापवचनोच्चारण पूर्वक, परनिन्दावचन उच्चारण पूर्वक, भौंह चढ़ाकर या संकुचितकर, स्थान की शुद्धि न करते हुए भी चारों दिशाओं में दृष्टि फेरता हुआ सामायिक न करे।

अव्यवस्थित चित्त से अथवा जो समय पर मन में आवे उसका विचार करता हुआ, चाहे जो कुछ बोलता हुआ, गूँगे की तरह गुनगुनाता हुआ, मेढक की तरह बीच में जोर जोर से चिल्लाता हुआ, विस्मृति के कारण अशुद्ध तथा खंडित पाठ पढ़ता हुआ लौकिक लाभ की इच्छा से जो सामायिक करता है उसकी सामायिक सदोष होती है। उक्त ३२ दोषों को तथा इसी प्रकार के अन्य दोषों को जैसे सामायिक में अँगड़ाई लेना, हाथ-पैर पसारना, अंगुली चटकाना, नख तोड़ना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, लवंगादि चबाना, शारीरिक शृंगार व वस्त्रों की सम्हाल पर बार-बार ध्यान देना, असूया से किसी का बुरा चिन्तन करना, किसी को अनिष्ट कार्य करते देख चिन्तित होना, क्रोध करना और सामायिक के बाद अमुक कार्य करूँगा ऐसी चिन्ता करना इत्यादि अनेकानेक दोष सामायिक में प्राप्त होते हैं, उनसे बचना चाहिए।

सामायिक सब प्रकार से अपने को संकोचकर आत्मध्यान में अपने को लगाने का कठिनतर कार्य है। अनादि कालीन राग-द्वेष के संस्कार बिना कारण भी प्रति समय सामने आते रहते हैं। व्यवहार में यदि कोई यात्रा की तैयारी कर रहा है तब उसमें व्यस्त होने से अन्य इन्द्रियों के विषयों को उक्त समय भूल जाता है। इसी प्रकार जब नाटक देखता है तब कर्ण और नेत्र के विषयों के सिवाय स्पर्शन रसन और घ्राण के विषयों की ओर चित्तवृत्ति नहीं जाती। पर सामायिक के समय चित्त के घोड़े को दौड़ने के लिए खुला मैदान है अतः साधारण समय की अपेक्षा वह न जाने कहाँ-कहाँ की दौड़ लगाता है। इसलिए अत्यन्त सावधानी के साथ अपने मन, वचन और काय को स्थिर करके अपना उपयोग ध्यान में लगाना चाहिए। सामायिक संवर और निर्जरा का कारण है। निर्जरा और संवर ही मुक्ति प्राप्ति के हेतु हैं, अतः संसार के दुःख से जो भयभीत हैं उन्हें आदरसहित, निराकुलता से, विशुद्ध परिणाम बढ़ाते हुए प्रमाद रहित होकर तथा अत्यन्त सावधानी से सामायिक करना चाहिए।

सामायिक प्रतिमावान् के लिए सामायिक का कार्य मुख्य है। सामायिक के समय उसकी स्थिति महाव्रती की है। उतने काल तक आचार्यों ने उसे उपचार से महाव्रती ही कहा है। शिक्षाव्रत के नाते ही यह मुनिव्रत की शिक्षा देनेवाला व्रत है। इसलिए इसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक को यह समझ कर बैठना है कि मैं इतने समय के लिए मुनि हूँ। मेरे पाँचों पापों का यद्यपि पूर्णतया त्याग नहीं है तो भी सामायिक के काल तक मैं सर्वदिशाओं में आवागमन का तथा पाँचों पापों का सर्वथा त्याग करता हूँ। दुष्टविचारों का, दुष्टवचनों का तथा कार्य संबंधी अन्य सम्पूर्ण कार्यों का मुझे त्याग है। मुनि के समान ही साम्यभाव के धारक उस श्रावक के सामायिक काल में यदि चोर चोरी करता हो, पुत्र मरण को प्राप्त हो जाय, स्त्रीवियोग हो जाय, गृहदाह हो जाय, कठिनतर उपसर्ग सामने आ जाय, वज्रपात हो जाय और सर्पादि दुष्ट जन्तु शरीरपर आ जाय तो भी सामायिक से विचलित नहीं होता।

विचलित न होने का यह अर्थ है कि वह चित्त में विकल्प उत्पन्न नहीं करता। वह धन कुंटुंब और विषयों से तथा शरीर से भी उतने काल निर्मोही है। स्थिति तो यथार्थ में ऐसी ही होनी चाहिए। तब ही अनास्रवण अर्थात् संवर और निर्जरा होती है।

सामायिक एकान्त में, जनकोलाहलशून्य और बाधा रहित स्थान में करनी चाहिए। इस नियम का तात्पर्य ही यह है कि चित्त की चञ्चलता के कारण पहले ही दूर कर दे। फिर भी यदि उक्त कारण आ पड़े तो चित्त को ग्लानियुक्त न करे। स्थान छोड़े नहीं, शरीर मोड़े नहीं। कठिन से कठिन हानि को समता पूर्वक सह ले।

इस समय एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनेक प्रतिभावान् सज्जन जो तीसरी प्रतिमा के धारी हैं अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओं का पालन करते हैं; ग्यारहवीं प्रतिमा धारण कर जिन्होंने क्षुल्लक व्रत भी धारण किए हैं अथवा ऐलक हैं, आर्यिकाएँ या क्षुल्लिकाएँ हैं अथवा दिगम्बर मुनि हैं। इनमें जो रेल, मोटर, वायुयान आदि द्वारा यात्रा करते हैं वे सामायिक उन सवारियों में ही करते हैं या समय चले जाने पर किसी भी अन्य समय में सामायिक करते हैं सो यह उचित है या नहीं।

उत्तर इसका सहज है। यह प्रश्न ही इस बात का सूचक है कि सामायिक के स्वरूप को देखते हुए यात्रा में (रेल मोटर आदि में) सामायिक नहीं हो सकती और चूँकि ज्ञानवान् विद्वान् त्यागी वर्ग भी रेल में सामायिक करता है तब उसके परिणाम स्थिर कैसे रह सकते हैं।

यथार्थ में सामायिक प्रतिमावाले को अपनी सामायिक को प्रमुख मानकर अन्य काल में ही रेलयात्रा आदि करनी चाहिए। भले ही ऐसा करने में समय अधिक लगे,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग में उतर जाना पड़े, कुछ पैदल यात्रा भी करनी पड़े। यदि इतना त्याग भी मन में न आया हो तो सामायिक प्रतिमा या आगे की प्रतिमाएँ स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

जिस व्रत को पालन करने की सामर्थ्य न हो उसे अभिमान से, लौकिक कीर्ति की अभिलाषा से अथवा तात्कालिक उन्नत भावना से धारण कर लिया हो तो उसका यथोचित निर्वाह करना ही अपने लिए श्रेयस्कर है। यदि पालन करना शक्य न हो तो जितने व्रतों का निर्दोष पालन हो उतनी ही प्रतिमाएँ रखनी चाहिए। शेष की भावना रखनी चाहिए।

ऐसा करने से प्रतिज्ञा भंग होगी, अतः ऐसा उपदेश देना कार्यकारी नहीं है ऐसी आशंका यहाँ हो सकती है। इसका समाधान यह है कि जो कोई व्रती व्रत पालना चाहता है और कोई उसे व्रत त्याग का उपदेश देते हैं तो उपदेशक अवश्य पापी हैं। ऐसा उपदेश 'पापोपदेश' होगा, तथा दूसरों को व्रत भ्रष्ट कराने का महान् दोष उपदेष्टा को लगेगा। यहाँ यह स्थिति नहीं है। स्थिति यह है कि भावनावश या दुर्भावनावश किसी ने प्रतिमा ग्रहण कर ली है और वह उसका निर्वाह नहीं कर रहा है तो उसके लिए प्रथम उपदेश तो यही है कि उसे हर प्रकार की शक्ति लगाकर अपने को व्रत के वास्तविक रूप पर ले आना चाहिए। इतनी प्रेरणा के बाद भी यदि कोई व्रत नहीं पालता है, केवल व्रत की खोल ओढ़े हैं, तब उसे यह उपदेश ही दिया जा सकता है कि इस झूठी खोल को ओढ़कर दूसरों को धोखा न दे और अपने को कूप में न ढकेल। इससे जिनामार्ग की अप्रभावना भी होती है। इसलिए यदि कोई अपनी शक्ति और परिणाम विशुद्धि के अनुसार व्रतों का (प्रतिमाओं का) पालन करेगा तो जितना पालन करेगा उतना लाभ मिलेगा। यद्यपि पूर्व व्रत का यह भंग होगा और व्रत भंग का दोष उसे आयगा, पर वह तो इससे पूर्व भी आता था; क्योंकि व्रत तो उससे पलता नहीं था, केवल उसका ढोंग (वेष) था। इस मिथ्या वेष से वह भी धोखे में था और दूसरे भाइयों को धोखा देता था। इस मायाचारी से वह बच जायगा। अतः विशेष कहने से क्या? मिथ्या वेष रखकर ऊँचा बताने की अपेक्षा नीचा भेष रखकर शक्ति के अनुसार ऊँचा व्रत पालना उत्तम है। इससे व्यक्ति को तो दोष होगा पर उसे मार्ग को दूषित करने का जो महान् पाप है वह न होगा।

रेल, मोटर आदि सवारी में बैठकर सामायिक करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। मात्र समय पर उसकी यादगार है। यदि येन केन प्रकारेण भी सामायिक नहीं कर सकता तो पछताता है। न तो वहाँ एकान्त है, न योग्य क्षेत्र है और न स्थिरता है। जहाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक में शरीर का भी हलन चलन करना निषिद्ध है वहाँ सामयिकी मजे में सवारी पर सवार हो सैकड़ों मील चला जा रहा है। स्त्री पुरुष बच्चों का संघर्ष होता जाता है। सामान का परिग्रह साथ है उसे कोई ले न जाय यह चिन्ता है। टिकट कलेक्टर मांगने आ जाय तो धर्मसंकट है। स्टेशन पास आ रहा हो तो जपने या पाठ पढ़ने की अतिशीघ्रता है। ऐसा कोई दोष नहीं जो न लगता हो। दोष लगना तो दूर की बात है वहाँ तो सामायिक व्रत का पालन ही नहीं है।

जो व्रत प्रतिमाधारी हैं जिन्हें सामायिक सातिचार है वे भी रेल पर सामायिक नहीं कर पाते हैं। उन्हें समय पर केवल स्तुति वन्दना आदि पाठ के द्वारा सामायिक के काल को उत्तम रीति से व्यतीत करना चाहिये और यात्रा की समाप्ति के स्थान पर योग्यतानुसार सामायिक करना चाहिये। यद्यपि ऐसा करने में काल का उल्लंघन होगा और यह अतिचार होगा तथापि प्रसंगतः अतिचार व्रत प्रतिमा में लग सकता है इसीलिए उसके ये व्रत निरतिचार नहीं हो सकते। इन अतिचारों से रहित सामायिक की प्राप्ति के लिए यह तीसरी प्रतिमा है। यहाँ भी यदि जानबूझकर यात्रा को प्रमुख कार्य मानकर व्रत को गौणकर दोष लगाए जायँ तब तीसरी प्रतिमा का वर्णन ही व्यर्थ हो जायगा।

सारांश यह है कि विवेक से ही कार्य करना श्रेयस्कर है। अन्यथा हानिप्रद भी है। ऐसा नहीं है कि जितना सधे उतना अच्छा। यदि ऐसा ही है तो उच्च भेष की घोषणा नहीं करनी चाहिए, जो बने सो ही पालन करे। कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमा का स्वरूप है। उसका यथोचित निर्वाह करनेवाला ही उसके वास्तविक लाभ को प्राप्त कर सकता है।२०३।

प्रोषधोपवास नामक शीलव्रत की पूर्णता चतुर्थ प्रोषधोपवास नामक प्रतिमा में होती है, अतः उसका स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायविषयान् गृहकर्मसक्तिं
भुक्तिं प्रमादजननीञ्च चतुर्विधां यः।
कुर्वंश्च पर्वदिवसेषु सदोपवासं
नूनं चतुर्थप्रतिमाव्रतपालकः सः।।२०४।।

त्यक्त्वेत्यादिः— सप्तशीलेषु शिक्षाव्रतेषु वा मुनिव्रतशिक्षाराधनार्थेषु प्रोषधोपवासव्रतस्य निरूपणं कृतम् । यत्प्राक् प्रोषधोपवासः व्रतप्रतिमायां शीलरूप आसीत् स एव चतुर्थप्रतिमायां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रतरूपोऽस्ति। अत्रैव तस्य परिपूर्णता भवति। व्रतेऽस्मिन् पर्वदिवसेषु अष्टम्यां चतुर्दश्याञ्च कषायविषयान् क्रोधाहङ्कारकपटलोभादिकान् पञ्चेन्द्रियविषयान् गृहकर्मसक्तिं व्यापाराद्यारम्भासक्तिं प्रमादजननीं चतुर्विधां भुक्तिञ्च त्यक्त्वा यः सदोपवासमुत्तममध्यमजघन्यभेदगर्भं यथानियमं कुर्वन्नास्ते स नूनं चतुर्थप्रतिमाव्रतपालकः स्यात् । प्रोषधोपवासस्य त्रयो भेदाः प्राक् प्रतिपादिता एवातो नेह प्रतन्यते। उप-समीपे स्वात्मनि निवासः स्यादुपवासः। स्वात्मध्यानं स्वस्यैवालम्बनं स्वोद्धारस्यैव चिन्तनं स्वात्मभिन्नशरीरचिन्तापरित्यागः पञ्चेन्द्रियविषयचिन्तात्यागः कषायनिमित्तभूतार्थचिन्तापरित्यागः गृहोद्योगारम्भयोरपि चिन्तापरित्यागः कौटुम्बिकमोहविरागः समताभावश्च चतुर्थप्रतिमायां नियमेन स्यादिति तात्पर्यम् । २०४।

पहिले व्रत प्रतिमा में सामायिक शील की तरह शिक्षाव्रतों में प्रोषधोपवास भी एक शील रूप से वर्णित किया है। उस व्रत का प्रारंभ यद्यपि व्रत प्रतिमा में ही हो गया है तथापि उस व्रत की परिपूर्णता अर्थात् निरतिचार आवश्यक परिपालन इस प्रतिमा में होता है। वहाँ यह व्रत अभ्यासरूप में था, अतः अतिचारों की संभावना थी, यहाँ चतुर्थ प्रतिमा में अब वह व्रतरूपता को प्राप्त हो जाता है, अतः उसका निरतिचार प्रतिपालन इस प्रतिमा में आवश्यक है।

यह बताया जा चुका है कि श्रावक के उत्तर व्रत कुल १२ हैं। जिनका प्रारम्भ द्वितीय प्रतिमा में हो जाता है। किन्तु उन व्रतों की पूर्णता वहाँ नहीं होती है। वहाँ केवल पञ्चाणुव्रत निरतिचार पालन होते हैं। शेष सात उत्तरगुण शीलव्रत हैं। अर्थात् व्रती उन्हें अपने अभ्यास में लेता है और तद्रूप अपने स्वभाव को बनाता है। इस प्रयत्न में अनभ्यास के कारण कभी अतिचारादि दोष लग जाते थे। अब उन सातों की पूर्णता के हेतु ही आगे की सम्पूर्ण प्रतिमाएँ हैं।

श्रावक के व्रत एकदेश हैं। एकदेश का अर्थ है असंपूर्ण। अपूर्णता में अनेक भेद होते हैं पूर्णता का कोई भेद नहीं होता। एक रुपया में एक आना रूपये का अपूर्णरूप है। और पन्द्रह आना भी अपूर्णरूप है। तथापि दोनों में कई गुना अन्तर है। इसी प्रकार देशव्रती होने पर भी द्वितीय प्रतिमा के और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा के श्रावकों में बहुत बड़ा अन्तर है। श्रावक जितनी प्रतिमा बढ़ता जाता है उतना ही श्रावक व्रतों को पूर्णकर महाव्रतों की प्राप्ति की ओर जा रहा है।

सामायिक व्रत में जिस प्रकार सामायिक का काल उसी व्रत की तरह व्यतीत करने का उपदेश दिया था उसी प्रकार इस प्रतिमावाला श्रावक अपने पर्व के दिनों का अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशी का सम्पूर्ण समय साम्य भाव से व्यतीत करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह उस दिन कितना भी घोर उपसर्ग आवे क्रोध नहीं लाता। कितनी ही हानि हो किसी को धोखा नहीं देता। कितना भी लाभ का सुयोग हो लोभ नहीं करता। भोजन मात्र का परित्याग करने से अथवा रसरहित भोजन अंगीकार करने से रसनेन्द्रिय के विषय से दूर रहता है। तेल, इत्र, पुष्प, केसर, धूप आदि घ्राण इन्द्रिय के विषयों का उपयोग नहीं करता। विभिन्न प्रकार के दृश्य, नाटक, खेल तमाशे नहीं देखता। अनेक प्रकार के नाटक संगीत वाद्य नृत्यादि जो कर्णेन्द्रिय के लिए मनोरम विषय हैं उनके सुनने का त्याग करता है। अपनी मानसिक वृत्ति को वश में रखकर धर्मध्यान में लगाता है।

स्वाध्याय, पूजन, धर्मोपदेश, धर्मश्रवण, धर्मध्यान इतना ही उसका कार्यक्रम उस दिन का है। उसके सम्मुख पुत्र हो या मित्र हो या शत्रु हो सब पर समव्यवहार करता है। किसी से रागद्वेष नहीं करता। मोह का त्याग करता है और पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक आत्मस्वरूप के प्राप्त करने की चिंता रखता है।इस व्रत में केवल भोजन का त्याग प्रमुख नहीं है। विषय, कषाय, रागद्वेष आरंभादि गृहकार्य और निद्रा आलस्यादि प्रमाद ये मुख्यतया वर्जनीय हैं। इनका प्रभाव अपने ऊपर न हो इसलिए आहार का त्याग करना पड़ता है। जो पूर्णतया आहार त्याग में असमर्थ हैं, बिना आहार के परिणाम स्थिर नहीं रहते, संक्लेश होता है, वे एक बार आहार करके भी इस व्रत का पालन करते हैं। वह आहार रस रहित हो, जिह्वा का स्वाद न रहे और भूख के कष्ट को दूर कर अपने उपयोग की अस्थिरता मिटाकर धर्मध्यान में सहायक हो सके यह प्रयत्न होना चाहिए।

भोजन के त्याग के क्रम में एक बार भोजन, अल्पभोजन, रसरहित भोजन या सम्पूर्ण भोजन का त्याग ही शास्त्रविहित है। इन्हें एकाशन, ऊनोदर, रसपरित्याग और अनशन ऐसा क्रमशः शास्त्रोक्त नाम प्राप्त हैं। वर्तमान में इस त्याग में भी कुछ मनोकल्पित पद्धतियाँ स्वीकार कर ली गयी हैं। यथा-पर्व के दिन अन्न का त्याग कर फलादि का, दुग्धादि रसों का व मेवा आदि गरिष्ठ पदार्थों का सेवन। कुछ व्रती अन्नादि आहार ग्रहण कर भी जल का त्याग कर देते हैं और दुग्धादिपान द्वारा जल की कमी को पूरा करते हैं। टीकाकार की दृष्टि में ये दोनों विधियाँ आगम में कहीं नहीं बतायी गयी हैं।

अन्नाहार का त्याग करके अन्य आहार रखने का क्रम सल्लेखना में बताया गया है। जहाँ आहार मात्र के त्याग की भावना है वहाँ आहार की कमी की पूर्ति के लिए अन्न के स्थान में विभिन्न रसों व फलों के ग्रहण की बात नहीं कही गई है, किन्तु नीरस आहार का विधान है। यदि पेय पदार्थों का उपयोग भी है तो केवल दुग्ध या छाछ आदि या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके बाद गरम जलमात्र की विधि बताई गई है। अथवा रात्रि भोजन त्याग में चतुर्विधाहार का त्याग न कर सकनेवाले को तीन प्रकार के आहार के या दो प्रकार के आहार के या एक प्रकार के ही अन्नाहार के त्याग की चर्चा है। उसका प्रयोजन इतना ही है कि अन्नाहारत्यागी रात्रि में अन्य पदार्थों का ही उपयोग कभी-कभी करेगा। अन्नाहारी तो नित्य आहार करेगा। अन्न तो प्रधान भोजन है। यदि वह दिन में नहीं किया गया तो वह रात्रि में नियमित चलेगा जो ठीक नहीं। यदि दिन में अन्नाहार द्वारा शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो गई है तो फिर रात्रि में आहार ग्रहण न करे और धीरे-धीरे संपूर्ण आहार के त्याग का अथवा दो तीन प्रकार के आहार के त्याग का प्रयत्न करेगा।

उक्त दोनों अवसरों से प्रतिमाधारी के पर्व के दिन का आहार त्याग दूसरे प्रकार का है। नहीं तो अनशन, अवमौदर्य और रस त्याग आदि का विधान ही क्यों है, अतः ये नए प्रकार के त्याग, त्याग के उद्देश्य को पूरा नहीं करते, अतः ग्राह्य नहीं हैं। विधि विहित नहीं हैं। अपितु त्याग के मार्ग की अपेक्षा रसनेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्ति कारक होने से अग्राह्य हैं।

प्रथम तो कल्पित प्रवृत्ति करना उचित नहीं है और यदि करना भी हो तो वह उस प्रतिमा या व्रत के उद्देश्य को पूरी करती हो तभी वह ग्राह्य हो सकती है, अन्यथा वह एक आत्मवञ्चना होगी।

इसी प्रकार जो लोग मात्र चतुर्विधाहार का त्याग कर देते हैं और क्रोधादि पर विजय प्राप्त नहीं करते, इन्द्रिय विषयों से विरक्ति नहीं करते, व्यापार या आरंभादि की प्रवृत्ति बराबर बनाए रखते हैं वे भी व्रत के उद्देश्य को पूरा नहीं करते। व्रती को हर प्रकार का प्रयत्न कर अपनी प्रवृत्ति को उस रूप में लाना चाहिए जिससे कि उसकी वैराग्य भावना को प्रोत्साहन मिले, परावलम्बन छूट जाय, स्वावलंबन की वृद्धि हो। यही मुक्ति का मार्ग है, अन्यथा वह संसार का ही मार्ग होगा।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। निवृत्ति ही इसका उद्देश्य है। प्रवृत्ति का उपदेश यहाँ कदाचित् भी नहीं है। यदि कहीं है भी तो निवृत्ति मार्ग पर बढ़ने के लिए महान् प्रवृत्तियों को रोककर अल्प प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया गया है। अतः व्रती को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारी वृत्ति और हमारे कार्य उक्त उद्देश्य की पूर्ति की ओर जा रहे हैं या नहीं। यदि जा रहे हों तब तो उसके व्रत निर्दोष पलते जायँगे और यदि नहीं तो वह क्रमशः अव्रती दशा को प्राप्त होगा। ऐसे व्यक्ति स्वाभिमान के वश होकर व्रत के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाह्यरूप को बनाए रखते हैं और अन्तरंग में उससे रहित हो जाते हैं। यह मायाचार पूर्वक क्रिया अव्रत की क्रिया है। इतना ही नहीं, मायाचार के कारण वह दुर्गति का भी कारण है। अन्यधर्मात्माओं की ठगी का कारण होने से धर्म का मार्ग भ्रष्ट करने के कारण वह नरकादि दुर्गतियों का भी कारण है। अतः व्रत के उद्देश्य को पूर्ण करते हुए आगमोपदेशित पद्धति के अनुसार प्रोषधोपवास करनेवाला चतुर्थ प्रतिमा का धारी है।।२०४।।

प्रश्न :— पञ्चमप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! पञ्चम प्रतिमा का क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें—

(वसन्ततिलका)

अग्न्यादिपाकरहितस्य फलादिकस्य
कार्यं न सेवनमितीह निजात्मविद्भिः।
आत्मा स्वयं ह्यनुपमो विमलो यतः स्यात्
स्वस्थो मनोक्षविजयी कृतकृत्यभाक् सः।।२०५।।

अग्नीत्यादिः— यत् सचित्तं पत्रादिकं फलादिकं वा अग्न्यादिपाकरहितं अप्रासुकमित्यर्थः तस्य निजात्मविद्भिः सेवनं कदापि न कार्यम् । अग्न्यादिसंस्काररहितानि जलानि फलानि पत्राणि पुष्पाणि मूलानि च सचित्तानि भवन्ति। तेषु स्थावरप्राणिनां सद्भावो विद्यते। यद्यपि श्रावकेण किल त्रसघातस्यैव त्यागः कृतः न स्थावरघातस्य तथापि दयापरस्य किलास्य वर्तते एवं परिणामः यत् सचित्तं द्रव्यं न भोक्तव्यं अचित्तेनैव स्वोदरपूरणकरणं श्रेयः। सचित्तेषु पुष्पाणां त्यागः मधुव्रत एव कृतः। कन्दानां मूलानाञ्च बहुस्थावरघातत्वात् अनन्तनिगोदाश्रयत्वाच्च अभक्ष्यत्याग एव त्यागः कृतस्तथापि उदाहरणरूपेण सचित्तेषु तेषामत्र चर्चा कृता। प्रत्येकानाम्फलानां तद्रूपाणां पत्रादीनाञ्च चतुर्थप्रतिमापर्यन्तं ग्रहणमासीत् ततस्तेषां पञ्चमप्रतिमायां त्यागो विधीयते। भोगोपभोगेष्वेवं विवेककरणेन तद्व्रतस्याभिवृद्धिर्भवति। इन्द्रियविषयविजयेन स्वात्मा विमलीभवति। निजात्मनः समीपतां याति व्रती। स्वाराधितव्रतसम्पत्त्यभिवृद्धितः स आत्मा अनुपमो विमलः स्वस्थो मनोक्षविजयी कृतकृत्यश्च भवति।।२०५।।

वृक्ष से पृथक् होने पर भी पत्र, फल, पुष्प, कन्द और मूल आदि सचित्त (एकेन्द्रिय जीव सहित) होते हैं। इनमें कन्द, मूल और पुष्पों का त्याग पूर्व में अभक्ष्य त्याग में हो चुका है तथापि सचित्त के उदाहरण स्वरूप उनके नाम गिनाए हैं। चतुर्थ प्रतिमा तक प्रत्येक (जिस वनस्पति में एक शरीर का एक ही एकेन्द्रिय स्वामी है) वनस्पति रूप फलादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व पत्रादि का अथवा सचित्त (कच्चे) जलादि का ग्रहण चतुर्थ प्रतिमा तक यदा कदाचित् हो जाता था। यद्यपि पर्वादि दिनों में अथवा भोगोपभोगत्याग में सचित्त द्रव्य के भक्षण का त्याग चतुर्थ प्रतिमा तक भी था तथापि इस प्रतिमा में उस सचित्त द्रव्य का सर्वथा त्याग व्रती कर देता है। इसलिए इस प्रतिमा का नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है।

ये सचित्तद्रव्य अग्नि से पकाने पर, नमक आदि क्षार द्रव्य से संयुक्त होने पर अथवा चाकू आदि के द्वारा छोटे-छोटे टुकड़े करने पर या सिल लोढ़ा आदि से कुचल जाने पर अचित्त हो जाते हैं। इस प्रतिमा वाला ऐसे अचित्त द्रव्यों का ही उपयोग करता है। सचित्तपदार्थों का प्राणान्त होने पर भी भक्षण नहीं करता। इस व्रत के परिपालन करने से भोगोपभोग परिणाम व्रत में अभिवृद्धि होती है, परिणामों में विशेष दया उत्पन्न होती है, मन और इन्द्रियों के विषयों पर विजय होती है, प्राणी स्वात्मा के समीप आता है, पर पदार्थों में विरक्ति बढ़ती है और परिणाम निर्मल होते हैं। स्वयं आराधना किए गए अपने व्रत रूपी सम्पत्ति में वृद्धि होने से वह अपने को कृतकृत्य मानता है। इसलिए इस प्रतिमा को स्वीकार करता है। ऐसा पंचम प्रतिमा का स्वरूप है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि श्रावक एकदेश व्रती है, उसने त्रसघात का त्याग किया है। उसके स्थावर घात का नहीं। यद्यपि संकल्प से अनावश्यक स्थावर का भी घात नहीं करता तथापि गृहारम्भ में, भोजन के आरम्भ में और रसोई बनाने आदि में, स्थावर हिंसा का त्याग संभव नहीं है, अतः उनमें स्थावर का घात होता है, तब सचित्त द्रव्य का त्याग श्रावक के व्रतों में क्यों रखा गया है। उत्तर यह है कि यद्यपि प्रश्न में दिखाई गई सभी बातें सही हैं तथापि यह प्रतिमा भोगोपभोगों में न्यूनता करने के हेतु तथा अहिंसाणुव्रत को अहिंसा महाव्रत के रूप में परिणत करने हेतु प्रयास रूप है। आगे-आगे की सभी प्रतिमाओं का उद्देश्य अणुव्रतों में उत्तमता लाते-लाते उन्हें महाव्रत रूप परिणत कराने का है, इसलिए सचित्त त्याग भूषणस्वरूप ही है।

कोई सज्जन ऐसा विवेचन करते हैं कि इस प्रतिमा में सचित्त को अचित्त करने का कार्य भी नहीं करना चाहिए, केवल अचित्त द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। पर यह विवेचन प्रतिमाधारी की उत्कृष्टता का प्रतिपादक होने पर भी सामान्य नियम नहीं है। आगम में गृहारम्भ त्याग आठवीं प्रतिमा में निरूपित किया गया है। उसका नाम आरम्भ त्याग प्रतिमा है। अतः इस प्रकार का त्याग वहाँ ही सम्भव है। यदि यहाँ ही यह त्याग होता तो आठवीं प्रतिमा का निरूपण नहीं होता। उसका उपदेश व्यर्थ हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जायगा। हाँ, बिना प्रयोजन तो यह हरी घास आदि पर पैर भी नहीं रखता। यदि कार्यवश रखना ही पड़े तो उसे बहुत दुःख होता है।

अतः यह निर्णय होता है कि प्रतिमारोहण त्याग का क्रम है। यद्यपि आरम्भ का त्याग भी इष्ट है तथापि वह यहाँ नहीं है। पहिले सचित्त भोजन का त्याग कराया गया है। पीछे आठवीं प्रतिमा में उसके आरम्भ का भी त्याग कराया गया है। ऐसा विवेचन आगमानुसार सुसंगत होगा।२०५।

इस प्रकार पंचम प्रतिमा का स्वरूप हुआ। अब छठी प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायिकस्वकृतकारितसम्मतैश्च
यो रात्रिभोजनमथो दिनमैथुनञ्च।
सम्यग्विहाय सुखदे स्वपदे च यः स्यात्
त्यागोऽस्ति तस्य सुखदो निशि भोजनादेः।।२०६।।

वागित्यादिः— दिवामैथुनत्यागः रात्रिभुक्तिश्चेति नामद्वयं षष्ठप्रतिमायाः। वचसा कायेन च कृतकारितानुमतैश्च यः किल कामभोगान् दिवसे परित्यजति। रात्रावेव कदाचित् कामसेवनं करोति। दिवसे तु परिपूर्ण ब्रह्मचर्यं सेवते तत्स्यात् रात्रिभुक्तिव्रतम्। रात्रावेव कामभोगान् सेवयामः न दिवसे, एवं व्रतं येषामस्ति ते रात्रिभुक्तिव्रतिनः। अथवा दिवासमये पूर्णरूपेण कामभोगान् परित्यजामः न कदाचिदपि मनसा वचसा कायेन वा वाञ्छामः नान्यान् प्रेरयामः न तत्कारकाननुमोदयामः इत्येव व्रतधारकाणामेव स्यादेतत् व्रतम्। एवं अस्य व्रतस्योभयं नाम एकार्थप्रतिपादकं न त्वत्र भिन्नार्थकत्वमित्येका व्याख्या। द्वितीया तु व्याख्या, यः दिवस एव भोजनङ्करोति कारयति च। रात्रिभोजनं न करोति न चानुमोदते तस्य स्यात् षष्ठी प्रतिमा। स किल दिवसमये मैथुनमपि परित्यजति वचसा कायेनापि च न तत् कारयति न चानुमोदते इति। यद्यपि द्वाविंशत्यभक्ष्यपरित्यागसमय एव रात्रिभोजनस्य त्यागो जातः। तथापि कारितानुमोदनसंबंधिदोषाणां सम्भावना पञ्चमप्रतिमापर्यन्तं वर्तते षष्ठ्यां तस्या अपि परित्यागः। इत्येवंप्रकारेण वचसा कायेन कृतकारितानुमोदैश्च यः रात्रौ भोजनं दिवसे मैथुनञ्च परिहरति स षष्ठप्रतिमाधरी। स स्वजन्मार्थं ब्रह्मचर्येणोपवासेन च नयन् ज्ञानात्मके परमानन्दात्मके विलीनः प्रशस्यते।२०६।

इस प्रतिमा के नाम में द्वैविध्य है। इसके दो नाम हैं। १-दिवामैथुनत्याग और २-रात्रिभुक्तिव्रत। अर्थात् जो दिन में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। मन वचन कायादि व्यापार से स्वयं मैथुन सेवन नहीं करता, दूसरों को ऐसा करने की प्रेरणा नहीं करता, करनेवाले की प्रशंसा नहीं करता, वही दिवामैथुनत्यागी है। वही रात्रिभुक्तिव्रती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। रात्रिभुक्तित्याग ऐसा इस प्रतिमा का नाम नहीं है। किन्तु रात्रिभुक्तिव्रत ऐसा नाम है। जिसका अर्थ है रात्रि में ही भोगग्रहण, प्रकारान्तर से दिन में भोग त्याग ही है। दूसरी व्याख्या ऐसी भी की जाती है कि यह प्रतिमा रात्रिभोजनत्याग के लिये है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि क्या पंचम प्रतिमा तक रात्रि भोजन चालू था जो इस प्रतिमा में इसकी चर्चा आई। इसका उत्तर यह है कि अभी तक व्रती स्वयं चारों प्रकार का रात्रि भोजन नहीं करता था, पर गृहाश्रम में छोटे-छोटे बच्चे होते हैं उन्हें प्रसंगानुसार भोजन देना पड़ता था। जैनेतर अतिथियों को भी भोजन देना पड़ता था। अथवा ऐसा करनेवालों की प्रशंसा या अनुमोदना करनी पड़ती थी। इस प्रतिमा से इसका भी त्याग हो जाता है। दोनों व्याख्याएँ इष्टाधायक हैं। २२ अभक्ष्य के त्याग में रात्रि भोजन त्याग प्रथम प्रतिमा में ही हो गया तब छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन त्याग की बात कहना यद्यपि संगत नहीं है ऐसा कहा जा सकता है तथापि कारित और अनुमोदना से रात्रि भोजन त्याग इसके पूर्व न था। अतः यहाँ उसका बुद्धिपूर्वक त्याग किया गया है।

जो श्रावकोत्तम उक्त प्रकार उभय व्याख्याओं को स्वीकार कर षष्ठ प्रतिमा को पालता है वह व्रतियों में प्रशंसा के योग्य माना जाता है। इन बंधनों से मुक्त होनेवाले का ही स्वानन्दस्वरूप मुक्ति सुख में निवास होता है।२०६।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप–

(वसन्ततिलका)

स्त्रीणां कथापि किल मानवमात्रकस्य
चेतोविकारजननीति विचार्य तास्तत् ।
त्यक्त्वात्मसौख्यनिलये निवसेत् सदा यो
ब्रह्मव्रती स निपुणो भुवि भाग्यशाली।।२०७।।

स्त्रीणामित्यादिः– तात्पर्यमेतत् येन व्रतिना भावितद्वादशभावनाभिर्जगत्स्वरूपं परिज्ञातं पञ्चेन्द्रियभोगानां भुजङ्गता च निर्णीता। संसारपरिभ्रमणात् भीतेन तेन तन्मूलकारणं स्त्रीपरिग्रहं निश्चित्य स्त्रीशब्दश्रवणमात्रमपि व्यथाकारकमित्यनुभूयते। यस्याः स्मरणमात्रमपि सुखानुभूतिमुत्पादयति स्म सा अधुना स्मरणमात्रेणैव विरागकारणभूता प्रतिभाति। तद्विषयविरक्तस्तु सः विचारकः विचारयत्येवं यत् अस्मिन्नेव जन्मनि बाल्ये मया स्वातन्त्र्यसुखमनुभूतम् । विषयवाञ्छया सुखपरम्पराप्राप्त्यभिलाषेण स्वर्णवद्देदीप्यमानज्वलज्ज्वलने पतितपतङ्गवत् स्त्रीसौन्दर्यमोहितमतिः दुःखपरम्परामाप्तवान्। स्त्रीपुरुषसंयोगादेव द्रव्यसंसारस्य-पुत्रपौत्रादिरूपस्य, भावसंसारस्य रागद्वेषरूपस्य चोत्पत्तिर्भवति। पुत्रादीनामुत्पत्तौ इष्टसंयोगाभिमननाद् रागोत्पत्तिः। तेषामानुकूल्येन प्रवृत्तौ तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रागवृद्धिः। प्रातिकूल्येन प्रवृत्तौ च द्वेषः। इति रागद्वेषमूलौ किल इष्टसंयोगानिष्टसंयोगौ भावसंसारस्य कारणभूतौ। कामावेशात् मलमूत्रोत्पादकं मलमूत्रस्थानभूतमपि शरीराङ्गं अवाञ्छनीयमपि वांछति। तत्रैव मुह्यते। जन्मपूर्वकं हि मरणं। जन्ममरणयोर्जन्म एवानिष्टम्; तस्यैव बाल्ययुवाप्रौढजरावस्थाकीर्णदुःखहेतुत्वाङ्गीकारात्। मरणन्तु तद्वत् नानिष्टम्। तत्तु एतज्जन्मसंबंधिदुःखमोचनहेतुः मुक्तेरपि हेतुरित्यभ्युपगमात् कामाङ्गभूतैरेवाङ्गैर्जन्मसम्भवात्। अतः निश्चीयते यत्संसारदुःखकारणभूतजन्महेतुकामविकारेणैव दुःखानां परम्परा प्राप्यते। एतद्विचार्य यः स्वशक्तिमवलम्ब्य जन्ममरणभवभीतः न कदाचिदपि अधीरतां भजति न मैथुनमुपसेवते, स्वप्नेऽपि न स्त्रीं पुरुषं वा अभिवाञ्छति सः खलु ब्रह्मचारी। भोगोपभोगयोः कामभोगस्य प्रधानता वर्तते। तत्त्यागिनः भोगोपभोगपरिमाणव्रतं भवति। पुत्रार्थमेव परिग्रहस्यातिसञ्चयो भवति। स्त्रीमात्रत्यागात्तु न सन्तानस्य अभिवृद्धिर्भवति, तदनभिवृद्धेर्न परिग्रहातिसञ्चयः सञ्जायते। परिग्रह एव पापस्य मूलं इति तदभावे पापस्यापि क्षीणता जायते। तस्मादादेयं ब्रह्मव्रतम्। सप्तमप्रतिमाधारकस्य विशेषतः संसाराद् भीरुता संवेगश्च भवति। संवेगवैराग्याभ्यां कर्मनिर्जरा स्यात्। साधुपदारोहणाय ब्रह्मव्रतं किल बीजभूतमस्ति। बीजेन विना यथा नान्नमुत्पद्यते तथैव ब्रह्मचर्यं विना न मुनिपदयोग्यव्रताङ्कुरा उत्पद्यन्ते। तस्मात् सत्प्रयत्नतः अष्टादशसहस्रशीलसम्पादकं ब्रह्मव्रतमङ्गीकार्यम्।२०७।

सातवीं प्रतिमा ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा है। छठी प्रतिमा में ही श्रावक ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि स्त्री परिग्रह हेय है। तथापि सर्वथा त्याग में असमर्थ होने से क्रमशः त्याग का मार्ग अंगीकार किया था। जिस ब्रह्मचर्य का साङ्गोपांग पालन वह छठी प्रतिमा में मात्र दिन को करता था, उसी ब्रह्मचर्य को अब रात्रि दिन स्वीकार करता है।

विषय भोग भुजंग के समान हैं। जैसे भुजंग डस लेता है उसी तरह विषय भी प्राणी को डस लेते हैं और उसके धर्मरूप प्राण नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्ण के समान उज्ज्वल वर्ण अग्नि में आगत पतंग भस्म हो जाता है उसी तरह स्वर्णकाय स्त्री या पुरुष प्रतिमा को काम के वशीभूत होकर यह प्राणी अपना कर संसार के महान् ताप से संतप्त होता है। संयोग दुःख मूलक है। यद्यपि संयोग को लोग इष्ट मानते हैं, और वियोग को अनिष्ट, तथापि यह तो सुनिश्चित है कि संयोग पूर्वक ही वियोग होता है। पुत्र वियोग का दुःख उसे होगा जिसके पुत्र हो। धन चोरी चले जाने का दुःख उसे होगा जिसे धन का संयोग हुआ हो। स्त्री-पुरुष का संयोग ही सन्तान परम्परा का उत्पादक है जो द्रव्यरूप संसार है तथा उनके संयोग के मूलहेतुभूत रागादि परिणाम हैं जो भावसंसार के उत्पादक हैं। पुत्र पौत्रादि की अनुकूल प्रवृत्ति हो तो उनमें रागभाव बढ़ता है। यदि प्रतिकूल प्रवृत्ति हो तो द्वेष बढ़ता है। इस प्रकार इष्ट संयोग और अनिष्ट संयोग रागद्वेष के हेतु हैं और रागद्वेष ही हमें संसार परिभ्रमण के हेतुभूत हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम के वशीभूत जीव मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों से उत्पन्न और उन्हीं अपवित्र पदार्थों के उत्पादक, शरीर के अंगों की जो यथार्थ में उनके लिए वाञ्छनीय नहीं हैं, वाञ्छा करता है। उनमें ही मोहित होता है। और उनके लिए अनेक प्रकार के दुःख उठाने को कटिबद्ध होता है। मरण जन्म पूर्वक होता है। जन्म और मरण इनमें यदि विचार किया तो जिस जन्म का हम महोत्सव मनाते हैं वह उत्सव मनाने योग्य नहीं है। जन्म ही तो मरण को आमंत्रण देता है। जिसका जन्म नहीं उसका मरण भी नहीं। जन्म के बाद ही बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था और रोगितावस्था आदि अनेक अवस्थाओं के दुःख प्राप्त होते हैं। अतः जन्म दुःखपरम्परा का कारण होने से इष्ट रूप नहीं है। मरण इसलिए अनिष्ट और शोकोत्पादक नहीं है कि वह जन्म के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण दुःखों का अन्त स्वरूप है। उसके द्वारा जन्म का नाश हो जाने से उस जन्म सम्बन्धी दुःखों का भी नाश हो जाता है। मुक्ति प्राप्ति के लिए भी मरण ही हेतु है। जिस मरण से केवल एक जन्म नष्ट होता है वह एक जीवन के दुःखों से छुटकारा करा देता है और जिस मरण के बाद जन्ममात्र का अभाव हो जाता है फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता वह श्रेष्ठ मरण परम महोत्सव है। इसीलिए जैन परम्परा में उस परम श्रेष्ठ मरण को (मोक्ष दिवस को) कल्याणकारी मानकर उसे परम पवित्र दिन माना जाता है। इस दिन शोक न मानकर परम हर्ष मानते हैं।

श्री भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाणदिवस दीपावली महोत्सव के रूप में इसीलिए प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि भवधारण रूप जन्म ही जो काम वासना की पूर्ति से उत्पन्न होता है, दुःखपरम्परा का मूल हेतु है। इस प्रकार अपने विवेक से विचार करके जो धीर वीर प्राणी अपनी आत्मशक्ति का अवलम्बन कर कभी भी कामोप सेवन में तत्पर नहीं होता, स्वप्न में भी स्त्री या पुरुष संयोग की इच्छा नहीं करता वही ब्रह्मचारी है।

भोगोपभोगों में कामभोग प्रधान है। उसका त्याग करने से भोगोपभोग परिमाण व्रत में उन्नति होती है। विषयभोगों के लिए तथा पुत्र पौत्रादि के लिए लोग परिग्रह का सञ्चय करते हैं। कामभोग का त्याग करने पर न संतान की वृद्धि होती है और न वह व्यक्ति अधिक परिग्रह का ही संचय करता है। परिग्रह पाप मूल है। उसकी कमी से पाप को हीनता स्वयं हो जाती है। इसलिए ब्रह्मव्रत को स्वीकार करना ही चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम प्रतिमा धारण करनेवाले को संसार परिभ्रमण से भीरुता और वैराग्य हो जाता है। संवेग और वैराग्य ही कर्म निर्जरा के हेतु हैं। मुनिव्रत स्वीकार करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत मूलभूत है। बिना ब्रह्मचर्य के मुनि पद के योग्य व्रत रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता। अतः सर्व प्रकार के प्रयत्न से १८००० शीलव्रत के सम्पादक ब्रह्मचर्य व्रत का स्वीकार करना श्रेष्ठ है। यही सप्तम प्रतिमा का व्रत है।

ब्रह्मचारी पुरुष अपना रहन सहन सादा रखे, भोजन सादा करे, गरिष्ठ आहार जैसे बादाम पिश्ता आदि का सेवन तथा रसायन आदि औषधियों का सेवन न करे, मावा या उसके बने हुए विविध पक्वान्नादि उसके लिए त्याज्य हैं। वृष्येष्टरस त्याग ब्रह्मचर्य की भावना में परिगणित हैं। अर्थात् अपनी सदा भावना ऐसी रखे कि मैं सादा सात्त्विक भोजन करूँगा। पुष्टकर और कामोद्दीपक भोजन नहीं करूँगा। जो ऐसी भावना रखेगा वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन कर सकेगा। कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन से शरीर में काम का विकार जागृत होगा और ऐसी स्थिति में साक्षात् व्रत का कठोरता से पालन करते हुए भी स्वप्नादि दशा में व्रत भंग हो जाने की सम्भावना होती है। अतः ऐसे रसों का सेवन ब्रह्मचर्य व्रत का घातक होने से व्रती के लिए दोषास्पद है। भोगों में लम्पटता का सूचक होने से ऐसा भोजन ग्रहण करना भोगोपभोग व्रत का भी अतिचार है। अतः ऐसे पदार्थों का सेवन दूषित है, अतः सेवन न करें। ब्रह्मचारी सादे श्वेत वस्त्र धारण करे। कहीं-कहीं शास्त्रों में भगवा वस्त्र का भी वर्णन है पर भगवा वस्त्र अन्य साधुओं द्वारा भी परिगृहीत है, अतः जैन ब्रह्मचारी की पहिचान उनसे नहीं होती, अतः जहाँ तक हो श्वेत वस्त्र ग्रहण करना उपयुक्त है, तथापि यदि कोई भगवा वस्त्र ग्रहण करे तो वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है।

विविध फैशनों के वस्त्रादि पदार्थों का त्याग कर लँगोट, धोती, सादा कुरता या बिना सिला हुआ चादर आदि पास रखना चाहिये। सिर के केश या तो मुंडन कराना उचित है, या सादे बाल रखना उचित है। डाढ़ी, मूँछ रखने की आवश्यकता नहीं है। सुगंधित तेल इत्र तथा अन्य ऐसे सुगंधित पुष्पमाला आदि पदार्थों का ग्रहण भी वर्जित है। पशु, स्त्री तथा पुरुष आदि के कंधों पर चलने वाली सवारी का कदाचित् भी उपयोग न करे। सिनेमा, नाटक, खेल, तमाशे जिनमें ब्रह्मचर्य को दूषित करनेवाले चित्र हों या अभिनय हों न देखे। ऐसे चित्रपट भी अपने पास न रखे, न अपने आवास स्थान में लगावे। ऊनी, रेशमी वस्त्र तथा चमड़े की चीजों का उपयोग तो व्रत प्रतिमा से ही त्याज्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। रेशम यद्यपि स्वयं अशुद्ध नहीं है तथापि उसकी प्राप्ति में रेशम के कीड़ों का घात होता है, अतः हिंसामूलक होने से अहिंसाणुव्रती को ग्राह्य नहीं है। ऊन बालों से बनता है जो स्वयं देह का अपवित्र अंग है तथा अनेक त्रसों की उत्पत्ति के लिए योनिभूत है अतः ग्राह्य नहीं है। जिस मृत पशु को स्पर्श करने पर स्नान किए बिना शुद्धि नहीं उसके मृत चर्म को स्पर्श करने पर भी वही दोष प्राप्त होता है। अतः उसके जूता पहिनना या उन जूतों को पहिनकर लाई गई भोजनादि सामग्री का उपयोग करना वर्जित है।

नियमित परिसंख्यात वस्त्र और अन्य अल्प परिग्रह का ग्रहण ही ब्रह्मचारी के लिए श्रेयस्कर है। यह प्रतिमा वर्तमान युग के लिए अत्यन्त उपयोगी और जनकल्याणकारी है यदि प्रतिमा-पालक इसका सदुपयोग करें। यह ब्रह्मचारी अहिंसक व्यापार कर सकता है और अपनी आजीविका स्वयं चला सकता है। शिक्षकीय कार्य, लेखन कार्य, (क्लर्क मुनीमी; पुस्तक लेखन, ग्रन्थ सम्पादन आदि), बैंकिंग का काम, अहिंसक मजदूरी तथा वाणिज्य आदि कार्य कर सकता है। यदि कुछ रुपया अपने पास हो तो अल्प ब्याज पर (जिससे कर्जदार को आन्तरिक कष्ट का अनुभव न हो) दिया जा सकता है।

जुआ-सट्टा-लाटरी आदि कार्य प्रत्यक्ष से हिंसाकारक प्रतीत न होने पर भी अनेक अनर्थों व पापों के उत्पादक हैं अतः ये व्रतीमात्र को प्रारंभ से ही ग्राह्य नहीं है।

इस प्रतिमा का धारी यदि गृहत्यागी नहीं है तो उद्योग से अर्थात् सेवा-कृषि-वाणिज्य-लेखन आदि से द्रव्योपार्जन कर अपनी आय से आजीविका चलाकर पराश्रित न हो, भिक्षाटन न करे, दानस्वरूप द्रव्य न लेवे, यदि उसे प्रीति और पद के योग्य सम्मानपूर्वक कोई दे तो मात्र आहार ले सकता है। जिसने गृह का त्याग कर दिया है वह गाँव-गाँव जाकर जनता को धर्मोपदेश सरलता से दे सकता है। गृहत्याग के कारण यदि अपने कुटुम्बवर्ग से सहायता लेनी व देनी छोड़ दी है तब वह केवल धर्मसाधन करने और धर्म प्रचार करने का कर्म करे। ऐसी अवस्था में जो उसका साधारण व्यय है उसे यदि गृहस्थ वहन करे तो उसे स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।

आरंभत्याग आठवीं प्रतिमा में होती है। सातवीं प्रतिमावाला गृहविरक्त श्रावक रसोई बनाना आदि आरम्भ का त्यागी नहीं है। उसे चाहिए कि अपने पास योग्य अन्नादि सामग्री रखे व भोजन बना सकने योग्य वर्तन रखे। किसी भी स्थान पर धर्मोपदेश देने जाय, तो उस ग्राम के बन्धुओं से निमंत्रण की न प्रेरणा करे और न अपेक्षा करे। कोई अत्यन्त धर्म प्रीति से आमंत्रण दे तो उसे स्वीकार कर ले। उसे विभिन्न प्रकार के भोजनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को तैयार करने के लिए बाध्य न करे। जिह्वा इन्द्रिय को वश में रखकर उदर पूरणमात्र के लिए सदा अल्पमूल्य का आहार ग्रहण करे। यदि कोई प्रीति पूर्वक आमंत्रण न करे तो स्वयं भोजन बनाकर करे और धर्मस्नेह पूर्वक अपना कल्याण समझकर धर्मोपदेश तथा धर्म प्रभावना के कार्य करे।

ब्रह्मचारी यह अनुभव कभी न करे कि हम धर्मोपदेश देकर जनता का उपकार करते हैं, अतः हमारे प्रति इनको कृतज्ञ होना चाहिए। बिना किसी लौकिक वांछा के दिया गया धर्मोपदेश कल्पवृक्ष के समान उन्नति के पद पर पहुँचा देता है। इसके विपरीत धनलाभ, वस्तुलाभ, भोजनलाभ, वस्त्रलाभ, कीर्तिलाभ आदि किसी प्रयोजन के निमित्त किया गया उपदेश उपदेश नहीं मात्र आजीविका है।

इस प्रकार के परमार्थसेवी ब्रह्मचारियों की सेवा ही समाज को उन्नत बनाने में समर्थ है। पूर्वकाल में यह कार्य तपस्वी साधुओं द्वारा होता था। काल की हीनता से दि० जैन मुनियों का प्रायः अभाव सा हो गया। श्रावको का स्वयं खान पान शुद्ध न होने से साधुओं की चर्या कठिन हो गयी। यदि कदाचित् साधुओं का क्वचित् विहार होता है तो चर्याहेतु शुद्ध आहार खास तौर पर बनाना पड़ता है जिससे उद्दिष्टाहार का दोष साधुओं को प्राप्त होता है। यह दोष श्रावकाश्रित है अतः श्रावक के निमित्त से आज कल मुनिधर्म को दोष प्राप्त होता है। निरारंभी साधु के विहार में कठिनता होने से अल्पारंभी ब्रह्मचारी श्रावक ही यदि यत्र तत्र भ्रमण करें और धर्म प्रभावना करें तथा स्वाध्याय द्वारा स्वयं को भी धर्म से प्रभावित करें और अन्य को भी उपदेश दें तो धर्म की बहुत बड़ी अभिवृद्धि तथा स्थिरता रह सकती है।

ब्रह्मचारी का पद उदासीन का पद है। उदासीन का अर्थ संसार व विषय भोगों से विरक्त होना है, धर्म और धर्मसेवा से उदासीन होने का नहीं। उससे 'उदासीन' तो मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि तो धर्म में धर्म के हेतु जुटाने में उसके कार्यों में तथा धर्मात्माओं में सदा सोत्साह रहता है। अतः प्रीतिपूर्वक पालन करना चाहिये।

अपने व्रत को अक्षुण्ण रखने के लिए कुछ और भी विचार आवश्यक है। १ -स्त्रियों के निवासस्थल पर निवास न करे। २—उनसे प्रेमालाप न करे। ३—उनका बार-बार निरीक्षण न करे। ४—संगीतादि का श्रवण न करे। ५—धार्मिक उत्सवों को छोड़कर बाजार व मेले-ठेले में न घूमे। ६—किसी के शृंगारादि का अवलोकन राग भाव से न करे। ७—स्वयं किसी प्रकार का शृंगारादि न करे। ८—स्त्री-पुरुषों के द्वारा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग में लाए जाने वाले वस्त्र, आसन और शय्या आदि को स्वयं उपयोग में न लावे। ९—भूलकर भी कभी कामकथा न करे। १०—भोगे हुए भोगों का न चिन्तवन करे और न कथन करे। ११—साबुन और उबटन आदि का उपयोग न करे। १२—अत्यन्त कोमल शय्या तथा पलंग आदि पर शयनासन न करे। १३—नेत्रों में शौक से अंजन लगाना आदि कार्य न करे। १४—अपने वस्त्र अपने आप धोवे। १५—अपने काम आप करे अन्य से न करावे। १६—किसी पुरुष के साथ भी एक शय्या पर न सोवे। १७—हास्य के वचन, शृंगार के वचन तथा व्यंग्य कथानक आदि न करे। इत्यादि अनेक प्रकार के काम के विकार को बढ़ानेवाले या विकारजन्य कार्य या चेष्टाएँ व्रत को भंग करनेवाली हैं अतः उनका सदा परिहार करे।

सामान्यतः ब्रह्मचारी के पाँच भेद हैं १—ब्रह्मचर्य सहित विद्याभ्यासी उपनय ब्रह्मचारी। २—अदीक्षा ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचारी का भेष धरे बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है। ३—क्षुल्लक वेष में ब्रह्मचर्य धर विद्या पढ़े वह अवलंब ब्रह्मचारी है। ४—मुनि वेष धर ब्रह्मचर्य से रहे और विद्या पढ़े वह गूढ़ ब्रह्मचारी है। ये चारों ब्रह्मचारी बाल्यावस्था में विद्याभ्यासमात्र के लिये व्रती हैं। विद्याभ्यास समाप्त होने पर ये सब विवाह भी करते हैं पर पांचवाँ भेद नैष्ठिक ब्रह्मचारी का है। जो सप्तम प्रतिमा धारण करता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। इस प्रसंग में इसी की चर्चा है अन्य चार प्रकार के ब्रह्मचारियों की नहीं।

ब्रह्मचारी के आत्मशक्ति का विकास होता है और विकार दूर हो जाते हैं। परीषह विजय करने के लिये बल प्राप्त होता है। उपसर्ग विजयी होता है। जो परीषह, उपसर्ग या अन्य कष्टों से डिग जाय वह लौकिक दशा में भी काम को करने के अयोग्य होता है। मोक्षमार्ग में चलनेवाले को कष्ट सहिष्णु होना ही चाहिए। अतः सर्वशक्ति की मूलभूत इस ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा को, जो मुनिव्रत की जड़ है, अंगीकार करनी चाहिये। २०७।

प्रश्न :— आरम्भत्यागचिह्नं मे विद्यते किं गुरो वद।

हे गुरुदेव! कृपाकर आरम्भत्याग प्रतिमा का स्वरूप मुझे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

वाणिज्यसेवासिमषीकृषिभ्वा—
रम्भं व्यथादं प्रविहाय सर्वम्।
शुद्धस्वभावे रमते सदा य
आरम्भत्यागीति स एव शुद्धः।।२०८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाणिज्येत्यादिः— पूर्वं तु दिग्व्रतदेशव्रतयोः व्यापारादिजनितलोभापकर्षात्तज्जनितस्यारम्भस्य न्यूनता यतः स्यादेवं विचार्य यमरूपेण तदन्तर्गतक्षेत्र एव नियमरूपेण दशस्वपि दिशासु गमनागमनयोर्नियमः कृतः। अधुना अस्यां प्रतिमायां वाणिज्यं व्यापारः सेवा शिल्पादिना अन्येन वा प्रकारेण जनसेवया जीविकानिष्पादनं, असिरिति क्षात्रवृत्तिः, मषिरिति लेखनादिकार्यं, कृषिरन्नाद्युत्पादनं, इत्येवंप्रकारेण षड्वृत्तिरूपव्यापारजनितारम्भादिकं हिंसामृषावादपरधनापहरणभोगादिसेवनार्थार्थसञ्चयरूपं अत एव व्यथाकारकं सर्वमप्यारम्भं कुट्टनं पेषणं चुल्लीगृहस्वच्छता मृदादिना गृहलेपः अग्निज्वालनं तत्सन्धापवनं वाटिकारोपणं जलादिसेचनं वायुसञ्चालनं भूमिखननं वनस्पतिच्छेदनं इत्यादिगृहभोजनादिसहायकरूपमप्यारम्भं सर्वं प्रविहाय परित्यज्य यः निजशुद्धस्वभावप्राप्त्यर्थमेव सदा चिन्तनशीलः स्वगृहीतपञ्चाणुव्रतेषु महाव्रतत्वापादनाय प्रयत्नशीलः विशुद्धपरिणामी साहसिकः धर्मनिष्ठः अष्टमीं आरम्भत्यागप्रतिमामाराधयति स एव शुद्धः आरम्भत्यागीति निश्चीयते। अस्यामेव प्रतिमायां पञ्चाणुव्रतविशुद्धिपूर्वकं दिग्व्रतदेशव्रतानां पूर्णता भवति।२०८।

आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा में उस उद्देश्य की पूर्ति की जाती है जिसे सामने रखकर दिग्व्रत और देशव्रत धारण किए गए थे। दशों दिशाओं में आवागमन की मर्यादा करने का प्रयोजन यही था कि हम अपने लोभादि कषायों का संवरण कर व्यापार और तज्जनित आरंभ को नियमित क्षेत्र में करके तद्बहिः क्षेत्र में आरंभादिक का त्याग करें।

आरंभ और परिग्रह में बहुत कुछ न्यूनता सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा में आ चुकी है; क्योंकि ब्रह्मचारी के लौकिक कुटुम्ब से भी मोह छूट जाता है, अतः उसके पास अब केवल स्वजीविका निर्वाहार्थ आरंभ व्यापारादि शेष रह गए थे। इस प्रतिमा में उस वीर ब्रह्मचारी ने बहुत बड़े साहस की बात विचारी है। इसलिए उसने सर्वथा व्यापार आदि आरम्भ कार्यों का यहाँ त्याग किया है और दिग्व्रत देशव्रती की पूर्णता की है। आरंभ त्याग आठवीं, नौवीं और दशमी इन तीन प्रतिमाओं में पूर्ण होता है। आठवीं में स्वयं आरंभ नहीं करता, तथापि अभी परिग्रह शेष है अतः कारित और अनुमोदन संबंधी दोष प्राप्त हो जाते हैं। यदि उसे आजीवन भूखा रहना पड़े, भोजन के न प्राप्त होने पर समाधि भी लेनी पड़े तो भी अष्टम प्रतिमावान् स्वयं आरम्भ के द्वारा भोजन का प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे प्रासुक जलमात्र प्राप्त हो जाय तो केवल उसी से निर्वाह कर लेगा अथवा कच्ची दाल पानी में फुलाकर खायेगा या सूखे मेवादि मोल लेकर जल प्राप्ति की अवस्था में खाकर निर्वाह करेगा। ऐसा करना उसकी प्रतिमा में त्याज्य नहीं है। कदाचित् प्रासुक जल की प्राप्ति न हो सके तब वह उक्त प्रकार के भोजन पान से भी वञ्चित रहेगा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर स्वयं जल निकालने या प्रासुक करने का आरंभ नहीं करेगा। कारित अनुमोदन का यह त्यागी नहीं है—अतः अपने हाथ से किसी को प्रेरणा कर आहार की अपनी व्यवस्था को बना सकता है अथवा निमंत्रण दे तो उसे स्वीकार कर लेता है।

इस प्रतिमा की आराधना में उसे विशेष कष्ट का अनुभव होगा तथापि वह साहसी पुरुष स्वपौरुष से ही उस पर विजयी होगा। उसने अपनी पूर्व प्रतिमाओं में भोगोपभोगों को कृश करके, पर्व में सर्वारम्भ का त्यागकर क्षुधा, तृषा तथा लोभादि पर विजय प्राप्त करके, नित्य समता भाव का अभ्यास करके, ब्रह्मचर्य को स्वीकार कर तथा कुटुंबादि संबंधी मोह और उनके सहारे का त्याग करके अपने को इस योग्य बना लिया है कि वह शरीर में भी इस प्रकार निस्पृह बना रहता है।

इस प्रतिमा का पालन सरल नहीं है। अपने पास धन के रहते हुए, सर्वसाधनों के रहते हुए स्वयं पाकादि करने की सामर्थ्य रहते हुए भी वह स्वयं कोई भोजनादि की व्यवस्था नहीं करता है। भोजन न करके क्षुधादि पर विजय प्राप्त करना, चित्त को म्लान न करना, समता-परिणामों की वृद्धि करना व लौकिक कार्यों पर विजय प्राप्ति का महोत्सव मानना इस प्रतिमा वाले महापुरुष की विशेषता है।

अष्टम प्रतिमावाला या तो गृहत्याग कर देता है और यदि घर में रहता भी है तो पर-घर की तरह। वह उसे अपना घर और अपने कुटुंब को अपना कुटुंब मानकर वहाँ नहीं रहता। हाँ, कुटुंब के प्रति किंचिन्मोह के कारण वहाँ ठहरा है। वह भी अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु नहीं, किन्तु अन्तरंग में जो परिग्रह और कुटुबंजनों के प्रति रागांश है उसके कारण रह रहा है।

अपने घर में भी अपने लिए एकान्त स्थल चुनकर और वहाँ ही रहकर स्वाध्याय और सामायिक में अपना समय व्यतीत करता है। अथवा उक्त उद्देश्य को सामने रखकर चैत्यालय या धर्मशाला आदि निरुपद्रव स्थान का ग्रहण करता है। प्रासुक जल प्राप्त होने पर यद्वा तद्वा शुद्धि मात्र के लिए स्नान करता है। नित्य देववन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय पूर्वक धर्मध्यान से समय व्यतीत करता है। आरंभ के अभाव में प्रासुक द्रव्य द्वारा द्रव्य पूजन और प्रासुक द्रव्य के अभाव में केवल भाव पूजन करता है। भोजन के समय यदि कोई बुलाने आवे अथवा प्रभात काल के समय आमंत्रित करे तो स्वीकार कर लेता है। पर स्वयं किसी से भोजन हेतु प्रार्थना नहीं करता। इस प्रतिमा से भोजनादि की व्यवस्था बहुत कुछ अंशों में श्रावकों के आधीन हो जाती है। स्वाधीन व्यवस्था भंग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसी पराधीनता स्वीकार करने से तो स्वाधीन रहना अच्छा है। यथार्थ में भोजन की आधीनता ही पराधीनता है। रागादि की प्रबलता के कारण ही हम आरंभ का त्याग नहीं कर पाते। पर को पर और स्व को स्व जानकर भी हम स्वेच्छा से मोह के कारण व अपनी कायरता के कारण पर पदार्थ का आश्रय पकड़ते थे। अब मोह का बहुत अंशों में त्याग हुआ, जिसकी यह परीक्षा है कि वह स्वेच्छया अपने लिए आरंभ नहीं करता। स्वेच्छया आरंभ करने वाले पुरुष अपनी रसनादि इन्द्रियों के भी दास हैं। वे अपनी इच्छाओं को रोकने में समर्थ नहीं, अतः मनमाने व्यञ्जनादि भी बनाकर कभी खा लेते हैं। इस प्रतिमावाला पर घर या स्वगृह पर जब कोई आमंत्रित कर ले जाय और जो कुछ आहार दे दे उसे ही सन्तोष पूर्वक उदरपूर्त्यर्थ ग्रहण कर लेता है। चाहे वह नीरस हो, बेस्वाद हो, प्रकृति के अनुकूल हो या न हो, उसके निमित्त से चित्त में कोई संकल्प विकल्प नहीं लाता। इस तरह से शरीर तथा भोगेच्छा से ममत्व का त्याग इस प्रतिमा में प्राप्त हो जाता है जो कि मुनिपद के लिए अत्यावश्यक है। सप्तम प्रतिमा से ही मुनिपद योग्य व्रतों का प्रारंभिक अभ्यास प्रारम्भ हो गया है जो क्रमशः वृद्धि के हेतु अष्टमी प्रतिमा में इस रूप में आया है।

यह व्रती प्राप्त अर्थ में न्यूनता करने व कौटुम्बिक मोह के छोड़ने के अर्थ अपना गृहाश्रम का भार अपने पुत्रादिकों को सौंप देता है। स्वयं व्यापार, खेती और शिल्प आदि क्षत्रियवृत्ति तथा अन्य सभी प्रकार की लेखनादि कार्य द्वारा आजीविका का त्याग कर देता है। अर्थलिप्सा का यहाँ अभाव हुआ। साथ ही अन्नादिका कूटना, पीसना, पानी भरना, आग जलाना, हवा करना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना, घर बनाना, उसकी स्वच्छता करना, रंग करना, सफेदी करना, झारना-बुहारना, वस्त्रादिकों में साबुन आदि लगाना, शरीर पर साबुन आदि द्रव्यों का प्रयोग करना, बाग बगीचा लगवाना, गर्मी लगने पर स्वयं पंखा चलाना और बिजली के पंखों का प्रयोग करना आदि आरंभों का त्याग कर देता है।

यह अल्प सादे स्वच्छ वस्त्रों का उपयोग करता है। प्रासुक जल से अपने वस्त्र स्वयं निचोड़ लेता है। अपने भोजन के वर्तन यत्नाचार पूर्वक स्वयं स्वच्छ कर प्रासुक जल से धो लेता है। यदि दूसरा व्यक्ति भी उसकी उक्त सेवाओं को करना चाहे तो निषेध नहीं। तथापि यह ध्यान रखता है कि असंयमी पुरुष मेरे लिए उक्त कार्य अप्रासुक जलादि से व सोड़ा साबुन आदि अन्य द्रव्यों के उपयोग से तो नहीं करते। यदि करते हों तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह ऐसी सेवा उनसे न करायगा, स्वयं वस्त्र धो लेगा। वस्त्र मलीन हो जानेपर अन्य वस्त्र स्वीकार करेगा।

ग्रामान्तर में जाने हेतु जहाँ तक संभव होगा निर्जीव सवारियों का भी कम उपयोग करेगा। सवारी पर चलना आरंभ ही है। उसके उपयोग से आरंभ जनित दोष लगता है। अतः इस प्रतिमा से ही सवारी के उपयोग का त्याग आरंभ हो जाता है। जहाँ घोर जंगल है, जन निवास नहीं है अथवा बड़ा भारी जलाशय लांघने की जरूरत आ पड़े वहाँ पर निर्जीव सवारी का उपयोग यदि करना ही पड़े तो जो सवारी खास अपने लिए ही किसी को न चलाना पड़े ऐसे रेल, वायुयान, मोटर सर्विस आदि से ही गमनागमन करना अल्पदोषाधायक होगा, ऐसी टीकाकार की समझ है। सामान्यतः सदा ऐसी भी सवारी का उपयोग नहीं करना चाहिए। पूर्व में तृतीय प्रतिमावाले को भी अपने सामायिक की क्रिया को साधने के निमित्त उस काल में सवारी के उपयोग का निषेध किया था, यहाँ आरंभत्याग के अभिप्राय से सामायिक के बाहर के काल में भी यथासम्भव सवारी के उपयोग न करने की बात कही गई है।

उक्त प्रकार से अपना निर्वाह करता हुआ सर्वारम्भ का त्यागी पुरुष शरीर से भी निर्ममत्व परिणाम होकर अष्टमी प्रतिमा का आराधन करता है।२०८।

परिग्रहपरित्यागधिक्रं मे शान्तये वद।

गुरुदेव! परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमा का स्वरूप शान्ति प्राप्ति के हेतु मुझे बताइए—

(वसन्ततिलका)

अन्यत्र पात्रवसनादिकतः समस्तं
द्रव्यं विहाय भवदं विषमं व्यथादम् ।
शुद्धेऽचले निजपदे निवसेत् सदा यो
ज्ञेयः परिग्रहविवर्जितधीः कृती सः।।२०९।।

अन्यत्रेत्यादिः— परिग्रहत्यागप्रतिमायां पात्रवसनाभ्यां विना अन्यः सर्वः धनधान्यादिकः दशप्रकारको बहिरङ्गो मिथ्यात्वकषायवेदादिकश्च चतुर्दशप्रकारको ऽन्तरङ्गपरिग्रहः परित्यजनीयः यतः परिग्रह एव सदैव भवभ्रमणकारणम्भवति। मिथ्यात्वपरिग्रहेण योऽनादित एव संसारचक्रे बम्भ्रमीति। कषायादिनैव धनधान्यादिसञ्चयं करोति। वेदादिनैव मैथुनसंज्ञामवाप्य नानानर्थानुत्पादयति अतो यो नानादुःखप्रदं पारस्परिकविषमताहेतुभूतं परिग्रहं विहायनिष्परिग्रहत्वमालम्बते सः परिग्रहत्यागव्रती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथ्यते। एषोऽपि स्त्रीपुत्रादिममत्वमुत्सृज्य निर्ममतामापन्नः गृहे तिष्ठन्नपि वैराग्यमालम्बते। कौपीनं अधोवस्त्रं उत्तरीयं शिरश्छादनं अन्यदपि संस्तरादिकं अल्पपरिमाणेन वस्त्रं तथा भोजनाद्यर्थं शौचार्थञ्च द्वित्रिपात्रमात्रञ्च स्वीकरोति। अन्यत् सर्वं धनं धान्यं सुवर्णरूप्यं नानाभरणं शृंगारादिकञ्च परिहरति। अष्टमीप्रतिमायान्तु आरंभत्यागे कृतेऽपि धनादीनामपरित्यागः, अत्र तु तत्त्यागः क्रियते। अयमपि प्रासुकजलेन शुद्धिमात्रं विधाय केवलभावपूजां करोति। न द्रव्यपूजात्र विहिता, द्रव्यस्य परित्यागात्। केनाप्यर्थितः सदाशयेनामंत्रितश्च भुञ्जीत। स्वगृहभारं पूर्णतया पुत्रादिषु निक्षिप्य स्वयं तद्भारं भारवत्समुत्सृज्य निर्भारभरः परावलम्बनेन मुक्तः स्वेऽचले शुद्धे स्वभावे वसति स एव बुद्धिमान् नवमप्रतिमापालने समर्थः।२०९।

परिग्रह त्याग प्रतिमावान् अब अपने द्वारा परिग्रहीत परिग्रह को मुर्दे के शृंगार की तरह व्यर्थ समझता है अतः उसके त्याग की ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, स्त्री पुत्रादि कुटुम्बी अपने-अपने आत्मा के व अपने-अपने पुण्य पाप के स्वयं स्वामी हैं। मुझे पहिनने के दो चार वस्त्र और शौचादि निमित्त अथवा भोजनादि निमित्त १-२ वर्तनों के सिवाय अन्य परिग्रह का कोई उपयोग अपने लिये नहीं ज्ञात होता। तब इस भार को कब तक सिर पर रखे रहूँ। वह ऐसा विचार करता है। वह यह भी देखता है कि पुत्रादि जन उस परिग्रह के आकांक्षी हैं। उन्हें उसकी आवश्यकता है। मुझे वह भाररूप है। उपयोग में आता नहीं, रक्षा की चिन्ता और साथ में लगी है। तब वह अपने पुत्रादि को अन्य कुटुम्बवर्ग या अन्य साधर्मीजन पुरजन या परिजन के समक्ष बुलाकर विधिवत् उन्हें गृह भार सौंप देता है और स्वयं अपने को उस परिग्रह से मुक्त कर लेता है।

व्यापार के लेन देन में, गृह कार्यों में, पुत्रादि के विवाह आदि में, संबंधियों के व्यवहार आदि में, तथा अन्य सांसारिक कार्यों में, वह भाग नहीं लेता। न उनके अधिकारियों को उसके लिए कोई प्रेरणा करता है। यदि कोई उत्तराधिकारी इस प्रतिमाधारी से इन कार्यों में सम्मति माँगे और अपना अभिप्राय और उद्देश्य प्रकट करे तो उसकी उचितता और अनुचितता को प्रतिपादन करनेवाली अनुमति देता है। इतना मोह उसे शेष है। प्रेरणा फिर भी नहीं करता। अपनी सम्मत्यनुसार यदि पुत्रादि कार्य न करें तो अपने चित्त में दुखी नहीं होता। उन्हें आर्थिक हानि-लाभ होने पर शोक या हर्ष नहीं मानता।

मोह के परित्याग के लिये यह अत्यावश्यक है। बिना मोह त्याग के यदि कोई उक्त पद का अवलंबन करे या आगे की प्रतिमाओं पर अथवा मुनिपद पर आरोहण करे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो नियम से उसे मार्गभ्रष्ट होना पड़ेगा। त्याग का यह क्रम उसे उस पवित्र स्थिति में पहुँचा देता है, जिसकी आकांक्षा से वह इस मार्ग पर आया था।

वह खेत, जमीन, मकान, बाग, कुआँ, बावड़ी, सोना, चाँदी, मोती, माणिक, रुपया, पैसा, नोट, चेक, हुंडी, कंपनियों के शेयर, वस्त्र, अन्य अनेक प्रकार की व्यापारिक वस्तुएँ, शस्त्रास्त्र, गाड़ी, मोटर, साइकिल, तांगा, घोड़ा, गाय, भैस, बकरी, पक्षी, नौकर-चाकर, सेविकाएँ, अनेक धातुओं के वर्तन,आभूषण, तथा काष्ठ के धातु के अथवा अन्य पदार्थों के बने हुये सामान को परिग्रह मान कर परित्याग करता है।

वह इन बाह्य परिग्रहों की तरह इनके मूल कारणभूत मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और नव नोकषाय ऐसे १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों को भी जो अनादिकाल से ही जीव के स्वभ्रमण के लिए तथा नाना प्रकार के पर पदार्थों के सञ्चय के लिए अथवा कामादि विकार के उत्पादक होने से तन्निमित्त स्त्री आदि के ग्रहणरूप कायरता के लिए हेतुभूत हैं, त्याग देता है। इन आन्तरिक परिग्रहों के त्याग किए बिना बाह्य परिग्रहण का त्याग संभव नहीं है। इनकी विद्यमानता से बाह्य परिग्रह का सञ्चय स्वयं हो जाता है। इसलिए अन्तरंग परिग्रह का त्याग का क्रम ही प्रतिमा धारण है। प्रथम मिथ्यात्व का वमन कर सम्यग्दर्शन को स्वीकार किया था। तदनन्तर अभक्ष्य अन्याय रूप पदार्थों और कार्यों से राग घटाया था। तदनन्तर क्रोधादि कषायों पर विजय पर विजय प्राप्त करने के लिए अणुव्रत दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत आदि का तथा सामायिक आदि साम्यभाव पूर्वक व्रतों का आश्रय किया था। वेद की वेदना को दूर करने हेतु ब्रह्मचर्य धारण किया था। परिग्रह की प्रीति घटाने और अपनी कायरता दूर करने के लिए आरंभ त्याग किया था। अब वह समय आ गया है जिसने आन्तरिक कषाय भावों की न्यूनता होने से परिगृहीत परिग्रह के त्याग के लिए साहस उत्पन्न कर दिया।

नवम प्रतिमावाला अत्यन्त वैराग्यभावनासंपन्न होता है। परिग्रह को भारवत् समझता है। वह अपने को उस भार से मुक्त होने के लिए आकुलित है। अपने शरीराच्छादन मात्र के हेतु सामान्यतः लंगोटी, धोती, ओढ़ने के एक दो वस्त्र और चटाई आदि पदार्थ ही अपने पास रखता है। शौच के लिए एक तथा भोजनादि के लिए १-२ वर्तन लोटा थाली गिलास आदि रखकर अन्य सब का त्याग कर देता है। अत्यल्प परिग्रही होने से इसका नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह निष्परिग्रही प्रासुक जल से शुद्धिमात्र के लिए यद्वा तद्वा स्नान करता है। नित्य देव वन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय द्वारा ही अपने जीवन के क्षणों का सदुपयोग करता है। द्रव्य का त्याग होने के कारण द्रव्यपूजा नहीं करके मात्र भावपूजा करता है। जो परिग्रह में आसक्त व रागी है उसे देव पूजनादि कार्यों में द्रव्य का उपयोग कर शुभराग की ओर प्रवृत्ति करने का उपदेश था। अब जब बाह्य द्रव्यों में ही राग घट गया तब द्रव्य के आधार पर शुभराग करने का भी उपदेश नहीं रहा। अब जीवन में वीतराग धर्म की ही प्रधानता रहती है।

उक्त प्रकार का वीतरागी आमंत्रित होने पर स्वयं के या किसी दूसरे साधर्मी के यहाँ शुद्ध प्रासुक भोजन ग्रहण करता है। पर किसी को स्वयं प्रेरणा नहीं करता तथा आगामी प्रतिमारोहण की प्राप्ति की अभिलाषा करता हुआ अपने गृहीत व्रतों का परिपालन करता है। वह नवम प्रतिमा का धारी है।।२०९।।

वदानुमतित्यागस्य किं चिह्नं वर्तते गुरो।

गुरुदेव! अनुमतित्याग नामक दशमी प्रतिमा का क्या स्वरूप है, कहिए—

(वसन्ततिलका)

संसारभोगविषये विषमे व्यथादे
लग्नादिकार्यकरणेऽनुमतिर्न यस्य।
वन्द्यः सतामनुमतेर्विरतः स धीरः
वासं तनोतु सततं निजमन्दिरे सः।।२१०।।

संसारेत्यादिः— दशमप्रतिमाराधकः परिग्रहविषये आरंभविषये विवाहादिके वा कदाचिदपि स्वानुमतिं न ददाति। मनोवचःकायैः कृतकारितानुमोदनैरपि सर्वारम्भपरिग्रहत्यागः सञ्जायतेऽत्र। केवलमल्पवस्त्रमात्रपरिग्रहोऽस्य। नवमप्रतिमावत् शुद्धिमात्रस्नानं विधाय देववन्दनास्वाध्यायाध्ययनेषु समयं यापयति। जिनचैत्यालयप्रदेशे स्वाध्यायरतं तं भोजनसमये यः कश्चित् श्रावकः समागत्य भोजनाय प्रार्थयति तस्यैव गृहे आहारग्रहणं करोति स्वगृहे परगृहे वा। न स्वपरगृहयोरस्य कश्चिद्भेदः। न च कस्यापि पक्षमोहः। सर्वत्र समतापूर्णभावेनैव व्यवहारोऽस्य। स्वस्य पुत्रपौत्रादिकेभ्यः कस्मिंश्चिद् विषये याचितसम्मतिं कदाचिदपि न ददाति। तत्र हानिः स्यात् लाभो वा, उभयत्र समभावस्तस्य। स्थानग्रहणे, शयने, आसने, वस्तुग्रहणे निक्षेपे च मृदुवस्त्रादिना प्रतिलेखनङ्करोति। गृहमोहत्यागात् स्वगोत्रजजन्ममरणसंबन्ध्यशौचं न तस्य भवति। न च भोजनात्प्राग्भोजनस्यामंत्रणं स्वीकरोति। तत्स्वीकरणे तस्यैव भोजनाद्यारंभाय अनुमतिदानस्य स्याद्दोषः। तस्मात् भिक्षावृत्तेरस्वीकारेऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षुवदेव तस्य वृत्तिः। अनाहूते केनचित्स्यादुपवासः। इत्येव कठिनव्रताराधनात् तस्य वैराग्यपरिणामभिवृद्धेः मुनिपदाधिष्ठानाय योग्यता संपद्यते।।२१०।।

दशमी प्रतिमाधारी श्रावक परिग्रह के सञ्चयादि में, गृहारम्भ के कार्यों में व विवाहादि कार्यों में अपने कुटुम्बी जनों के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर भी अपनी सम्मति नहीं देता। यही विशेष त्याग इस प्रतिमा में होता है। मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से इसे आरम्भ परिग्रह का त्याग है। मात्र दो तीन वस्त्रों के व भोजन और शौच हेतु एक दो वर्तनों के तथा शयनासन के हेतु चटाई आदि के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह इसके पास नहीं है। इस प्रतिमा में नवम प्रतिमा के परिग्रह की अपेक्षा और भी न्यूनता आ जाती है।

यह गृह कुटुम्ब तथा धनादि से विरक्त हो देव वन्दना, स्वाध्याय, सामायिक और जप आदि कार्यों में अपना समय लगाता है। किसी के द्वारा यदि भोजन के लिये आमंत्रण दिया जाय तो उसे अपने लिए भोजन सम्बन्धी आरम्भ की अनुमति का दोष मान कर स्वीकार नहीं करता तथापि भोजन के समय यदि कोई सज्जन, चाहे वे उसके अपने पूर्व गृह के हों, या किसी अन्य घर के श्रावक हों, बुलाने के लिये आकर भोजन की प्रार्थना करें तो बिना किसी स्वपर भेद के समता बुद्धिपूर्वक भोजन के हेतु चला जाता है। स्वगृह का कोई पक्ष मोह उन्हें नहीं है। सब ही लोगों के साथ उसका समान व्यवहार है। न किसी से राग विशेष है और न किसी से बैर। शरीर से भी मोह नहीं है तब अन्य वस्तु से मोह होने की बात दूर ही है।

यह अपने पास नरम वस्त्र आदि की एक प्रतिलेखनी रखता है। मयूर पिच्छ तो ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है तथापि कोई भी मृदु उपकरण से प्रतिलेखन करके ही स्थान, शयन, आसन अथवा किसी पदार्थ के उठाने रखने आदि का वह अभ्यास करता है। जीव दया की उठी हुई भावना उसे ऐसा करने को बाध्य करती है।

भिक्षु संज्ञा प्राप्त न होने पर भी इसकी रुचि भिक्षुवत् ही है। इससे आगे का पद भिक्षुक का है। प्रकारान्तर से यह पद भोजन प्राप्ति की अपेक्षा भिक्षु के पद से भी कठिन है। भिक्षु तो भिक्षार्थ श्रावक गृह तक स्वयं जाता है, पर यह धीर वीर स्वेच्छा से श्रावक घर नहीं जाता, बुलाने पर ही जाता है और यदि कोई उसे भोजन के समय न बुलावे तो संतोष रख कर उपवास ही करता है। इस प्रकार के कठोर व्रत का धारक अनुमतित्यागी दशम प्रतिमाधारी होता है।२१०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उद्दिष्टाहारत्यागस्य किं चिह्नं क्षुल्लकस्य हि।

गुरुश्रेष्ठ ! ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा में क्षुल्लक का क्या स्वरूप है? कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वीयेषु मातृपितृबन्धुजनेषु मोह-
मन्येषु क्लेशमथवा मनसा विहाय।
कौपीनखण्डवसनो गुरुपार्श्ववर्ती
स्यात् क्षुल्लकः शुचिमनाः समताभिलाषी।।२११।।

स्वीयेष्वित्यादिः— **स्वीयेषु** मातृपितृभ्रातृस्वसृमित्रकलत्रपुत्रपौत्रादिषु जनेषु **मनसा मोहं विहाय** ममतां परित्यज्य, अथवान्येषु स्वविरुद्धाचाराचारकेषु अमित्रनिन्दकवृथालोचकाकीर्ति-कारकमिथ्याप्रवादप्रचारकेषु **क्लेशं** ईर्ष्याद्विषसंक्लेशादिकञ्च परित्यज्य, गुरुपार्श्ववर्ती-नानासंक्लेशरहितत्वेन स्वयं शान्तिरूपं अन्येषामपि भवभीतित्रस्तानां शान्तिदायकं विषयेच्छाविरहितत्वात् निरारम्भपरिग्रहत्वाच्च ज्ञानाराधनतपोनुष्ठानतत्परं दिगम्बरं परमगुरुं संप्राप्य **तत्पार्श्ववर्ती** तत्सन्निधावेव तिष्ठन्, **कौपीनखण्डवसनः**-कौपीनमात्रं खण्डवसनञ्च धारयन् **शुचिमनाः समताभिलाषी क्षुल्लको भवति।** एकादशप्रतिमायाः उद्दिष्टाहारत्यागरूपायाः द्वौ भेदौ-क्षुल्लकः ऐलकश्च। तयोः प्रथमस्य क्षुल्लकस्येदं स्वरूपमुक्तम् । अस्यामेव प्रतिमायां श्रावकस्य द्वादशव्रतानां परिपूर्णता भवति। सः क्षुल्लकः कर्त्तर्या क्षुरेण वा निजमस्तकश्मश्रादीनां केशान् दूरीकरोति। मासद्वये मासत्रये मासचतुष्टये वा यदाकदाचित्लोचमपि कुर्यात् अभ्यासार्थम् । शौचोपकरणं कमण्डलुं प्रतिलेखनाय मयूरपिच्छिकां, मृदूपकरणमन्यद्वा गृह्णाति। भोजनपात्रं चैकं दधाति। भिक्षुकवत् श्रावकगृहमागत्य भक्तिपूर्वकं तद्दत्तमाहारं भुंक्ते। रात्रौ एकान्ते सर्वाण्यपि वस्त्राणि परित्यज्य दिगम्बरसाधुवत् आत्मध्यानं करोति। चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु नियमतः उपवासं करोति। ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये स्पर्शशूद्रेष्वपि च भवत्येतद् व्रतम् । क्षुल्लकः खलु एकभिक्षानियमः अनेकभिक्षानियमश्चेति भेदद्वयमापन्नः। यत्स्वेकभिक्षानियमः स तु दिगम्बरमुनिश्चाहाराय प्रस्थितेषु तदनन्तरं भिक्षार्थमटति। क्वचिदपि एकस्मिन्नेव श्रावकगृहे यल्लाप्तमन्नं तदेव भुंक्ते। वर्णत्रयक्षुल्लकानामेष एव विधिरिति कोषाश्चिद् ग्रन्थकाराणां मतम् । शूद्रवर्णक्षुल्लकास्त्व-नेकभिक्षानियमाः। तेऽपि अनुमुनि आहाराय गच्छन्ति। अनेकगृहेभ्यः स्वभाजने अन्नं यत्किञ्चिल्लब्धं तत्सर्वमेकत्रीकृत्य यत्रापि प्रासुकमम्भो लभेत तत्रैव भुञ्जन्ति। कैश्चिद्ग्रंथकारैस्तु न कृत एष भेदः। ते सामान्यतया चतुर्वर्णेष्वपि क्षुल्लकेषु उभौ भेदौ वर्णयन्ति। क्षुल्लको मौनपूर्वकमेव श्रावकगृहमागच्छति। मौनेनैव किञ्चित्कालं क्षणमात्रं वा तत्र बहिरेव स्थित्वा निर्गच्छति। एतदन्तरे यदि केनचित् श्रावकेण आहाराय प्रतिगृहीतस्तर्हि तत्रैव तिष्ठति। अन्यथान्यद्गृहं गच्छति। धर्मलाभो भवतु इत्येवमाशीर्वचनमुच्चार्य अहमत्रागत इति संकेतं प्रदाय अन्यत्र गच्छेत् इत्यपि केषांचिदाचार्याणमभिमतम्। प्रतिग्रहानन्तरं श्रावकस्तं उच्चासने विनिवेशयेत् अङ्घ्रिप्रक्षालनञ्च कुर्यात् । यथायोग्यं सम्मानादिकं प्रदाय विनयेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनःशुद्धिपूर्वकं कायशुद्धिपूर्वकञ्च आहारादिकमपि निर्दोषमस्ति इति सूचयेत् । एकादशमप्रतिमाराधकाय नवधाभक्तिअर्घ्यदानम् न करणीयमेतदपि आचार्याणाम् केषाञ्चिन्मतम् । अर्घ्यप्रदेयमिति वर्तमानसमये केषाञ्चिदाचार्याणां पद्धतिर्वर्तते। परमश्रद्धया सन्तुष्टेन भक्तिवता ज्ञानवता च श्रावकेण धैर्यमालम्ब्य उदारचित्तेन स्वशक्त्यनुसारं यद्दानं नवधाभक्तिपूर्वकं दीयते तदेव ग्राह्यम्भवति क्षुल्लकस्य नान्यथा। दत्तमेवंविधमन्नं स्थित्वा स्वभाजने श्रावकप्रदत्तभाजने वा अत्ति। स्वाध्यायध्यानतत्परः सः गुरुकुलेष्वेव वनेषु वसेत् । न तु क्षुल्लकः स्वातंत्र्यमर्हति। गुरोरभावे जिनमंदिरे तीर्थंकरप्रतिमासन्निधावेव व्रतं व्रतिसाक्षिकं धारयेत् तथा चैत्यालये वने वा समानाचारधारकैः श्रावकैः सह वसेत् । स्वगुरुणां अन्यसधर्मणाञ्च यथायोग्यं सेवाञ्च कुर्यात् । तेषां हस्तपादादिमर्दनं रुग्णावस्थायां असहायावस्थायां वा यत्र तत्र मलमूत्रश्लेष्मादिविसर्जने कृते तदपाकरणं आर्षवाक्यश्रावणेन तेषां मनःसंक्लेशदूरीकरणं समाधिसमये स्वस्वार्थहानावपि तेषां समाधिसाधनं एवमनेकविधं वैयावृत्यं कुर्यात् । क्षुल्लकस्य एतदेव स्वरूपं संक्षेपतः।।२११।।

ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम है उद्दिष्टत्याग प्रतिमा। इसके दो भेद हैं—प्रथम का नाम क्षुल्लक और दूसरे भेद का नाम है ऐलक। क्षुल्लक का अर्थ है छोटा और ऐलक का अर्थ है बड़ा। इनमें से पहिले भेद क्षुल्लक के स्वरूप का वर्णन इस श्लोक में आचार्य ने किया है।

दशम प्रतिमा के बाद श्रावक इसे स्वीकार करता है तथा जो अन्य प्रतिमाधारी इस प्रतिमा को स्वीकार करना चाहता है वह अपने माता पिता भाई बहन स्त्री पुत्र आदि बंधु बांधवों से मोह ममता का त्याग करता है। अपने प्रतिकूल चलनेवाले, अपनी निन्दा करनेवाले, अकीर्ति मिथ्यापवाद करनेवाले, आलोचना करनेवाले अथवा बिना कारण ही अपनी दुष्टता से वैर करनेवाले शत्रुओं में द्वेष ईर्ष्या असूया आदि नहीं करता। सबको समान दृष्टि से देखता है। वह विचार करता है कि अपने शुभाशुभ कर्म का फल ही जीव इस संसार में भोगता है। यथार्थ में न कोई बंधु है न कोई शत्रु है। राग-द्वेष कषायों के वशीभूत होकर ही यह जीव स्वानुकूल वर्तन करने वालों पर राग और प्रतिकूल चलने वालों पर द्वेष करता हैं।

इस संसारिक व्यवहार में पंचेन्द्रियों के विषय में साधक या सहायक व्यक्ति या पदार्थ ही इष्ट मान लिए जाते हैं। जो भोगोपभोग में बाधक है ऐसे व्यक्ति या पदार्थ अनिष्ट माने जाते हैं। संसारिक स्वार्थ केवल पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायें हैं। परमार्थ से विचार किया जाय तो आत्मा के हित के ये दोनों विरोधी हैं। श्री दौलतरामजी कवि ने अपनी भाषा स्तुति में बहुत सुन्दर शब्दों में लिखा है और भगवान् से प्रार्थना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की है कि शत्रुओं से हम बच सकें यही आपसे हमारी इष्ट प्रार्थना है। जैसे—

आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परणति न जाय।
मैं रहूँ आपमें आप लीन, सो करहु होंहु ज्यों निजाधीन।

इस प्रतिमाधारी ने इसका पूर्ण रहस्य समझ लिया है, अतः न केवल प्रार्थना करता है बल्कि निजाधीन होने के प्रयत्न में सफलता की कोटि के समीप पहुँच जाता है। वह पर पदार्थ मात्र में इष्ट या अनिष्ट कल्पना छोड़ चुका है। वह सतत प्रयत्नशील है कि किसी भी समय पंचेन्द्रिय विषयों में अथवा मान आदि कषाय में चित्त न जाय। मैं सदा अपने आप में स्थिर रहूँ। अपने निर्विकार स्वरूप स्वभाव से कभी विचलित न हो जाऊँ। इसी महान् प्रयत्न में अपना समय व्यतीत करता है। यह उसका महा पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ से वह संसार के दुःखरूप बंधनों से मुक्ति पायगा, यह उसका निश्चल दृढ़ विश्वास है।

यथार्थ में पांचों ही इन्द्रियाँ ज्ञान के लिए साधनभूत हैं। यदि उनका उपयोग पदार्थ के स्वरूपमात्र जानने के लिए किया जाय तो कोई अनिष्ट नहीं है। यदि आप मिष्ठान्न खाते हैं तो उसे मीठा समझिए और कड़वा पदार्थ खाते हैं तो आपकी जिह्वा उसे कड़वा कहे, इसमें कोई पाप नहीं है, यह तो पदार्थ के स्वरूप का निरूपण है। इतने ज्ञानमात्र से कर्मबन्ध नहीं होता। बन्ध तब होता है जब हम कड़वे के प्रति घृणा या द्वेष तथा मिष्ठान्न के ग्रहण के प्रति रागी हो उठते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए स्वयं भी अनेक कष्ट सहते हैं और दूसरों को भी कष्ट पहुँचाते हैं। उस मिष्ठान्न के राग के कारण जो हमने कष्ट उठाए अथवा दूसरों से विरोध होने के कारण जो कष्ट होंगे उन सब ही कष्टों का हेतु मिष्ठान्न का राग है। यदि वह न होता तो हम इन आपत्तियों को अपने पास न बुलाते, अतः यह सिद्ध हुआ कि राग दुःख परम्परा का मूल कारण है। उससे जो सुख की कल्पना है वह तो क्षणमात्र है-पर उसकी प्राप्ति में, उसके संरक्षण में, उसके भोग में, उसके परिपाक में और उसकी प्राप्ति में बाधा देनेवाले व्यक्तियों के साथ संघर्ष करने में जो महान् कष्ट उठाने पड़ते हैं उनसे न केवल इसी जन्म के लिए किन्तु जन्मान्तर के लिए भी दुःखी हो जाते हैं।

कुछ भाइयों को यह प्रश्न होता है कि संसार दुःखमय ही है ऐसा एकान्त कथन उचित नहीं है। जैनाचार्यों द्वारा जहाँ अनेकान्त सिद्धान्त को अंगीकार करने का उपदेश दिया गया है, वहीं पर संसार को एकान्त दुःखमय बताया जाय यह कथन अपने ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्त के विरुद्ध होने से उचित और न्यायसंगत मालूम नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ हम मिष्ठान्न खाते हैं, नाटक देखते हैं, सुगंधित पुष्पों को सूंघते हैं, सुन्दर गान सुनते हैं तथा कामभोग करते हैं। इन सब कार्यों में सुख का अनुभव होता है। ऐसा होते हुए भी हमें वे सुखरूप नहीं किन्तु दुःखरूप ही हैं, ऐसा कथन मिथ्या है। जो बात प्रत्येक संसारी प्राणी के प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है उसे मिथ्या कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से स्वयं मिथ्या है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही होता है कि जैनाचार्यों ने इतने महान् सुखदायक विषयों को मिथ्या समझ कर किसलिए कठोर तपस्या को अंगीकार किया और क्यों अन्य व्यक्तियों कों भ्रम में डाला है। ऐसा करने से उन्हें क्या लाभ है और किस सिद्धि की प्राप्ति होती है।

प्रश्न अवश्य विचारणीय है। कोई भी उपदेश कितना ही सुन्दर हो और लाभदायक हो पर जब तक वह अपने अनुभव से लाभदायक प्रतीत न हो तब तक उसे कोई ग्रहण नहीं करना चाहता। यहाँ पर हमें अपने ज्ञान और सुख की कोटि का विवेक पूर्वक विचार करना है। यह बात हम संक्षेप में लिख चुके हैं कि इन्द्रियों द्वारा हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये केवल ज्ञानसाधक हैं, सुख दुःख साधक नहीं। सुख और दुःख तो हम मानसिक कल्पना द्वारा करते हैं। मन विचारक है, वह स्वयं पदार्थ के इस रूपादि का ज्ञान नहीं करता। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सामग्री का वह चर्वण करता है। दूसरों की कमाई ही खाता है। स्वयं कुछ नहीं कमाता। स्वयं वह केवल कल्पना के आकाश में उड़ा करता है। भ्रम उसे ही होता है और सम्यग्ज्ञान भी उसे ही। वह जितना बाधक है उतना ही साधक भी है।

जब हम स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा पदार्थ का स्पर्श करके शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि आठ स्पर्शों का ज्ञान प्राप्त करते हैं वहाँ मात्र ज्ञान तो हमारा है। अन्य पदार्थ का संबंध केवल शरीर के साथ ही है। जब हम काम भोग करते हैं तब भी स्त्री या पुरुष को शरीर स्पर्श का ज्ञान स्पर्शन इंद्रिय से होता है इतना मात्र तो इंद्रिय का कार्य होने से वह तज्जन्य ज्ञान आत्मा भोगता है, बाकी शारीरिक संबंध तो शरीर से ही होता है। स्पर्श गुण आत्मा तक नहीं पहुँचता है। रसना द्वारा किया गया मिष्ठान्न भोजन उदर तक पहुँचता है, वह अनेक रसादि रूप परिणत होकर शरीर का अंगभूत हो जाता है, अथवा मल मूत्र कफ पसेव आदि रूप होकर बाहर निकल जाता है, आत्मा के पास उसके एक भी परमाणु की पहुँच नहीं है। आत्मा उसे भोग नहीं सकता, वह केवल उस मिष्ठान्न में होनेवाले रसज्ञान को भोगता है, रस को नहीं भोगता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा सुगंधि, संगीत तथा विविध दृश्यों के ज्ञानमात्र को आत्मा भोगता है। गंध, गान और दृश्य या तो शरीर से संबंध करते हैं या जहाँ के तहाँ उन्हीं पदार्थों में सीमित रहते हैं। आत्मा अमूर्त होने से उसमें इन मूर्तिमान् पदार्थों का संयोग नहीं होता और न हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वास्तव में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दरूप विषय के ज्ञान मात्र का भोक्ता आत्मा है। इन पदार्थों का भोक्ता त्रिकाल में भी नहीं है। यदि ये भोगे जायँ तो पुद्गल द्रव्य उक्त गुणों से रहित हो जाय। यह बात केवल आत्मा के सम्बन्ध में ही नहीं, प्रत्येक द्रव्य के लिए है। यह जैनधर्म का अकाट्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप में है अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता।

यहाँ एक उपप्रश्न हो सकता है कि जीव पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्य अपने रूप का त्याग नहीं करते यह मानना ठीक है, पर इन दो द्रव्यों का तो परस्पर ऐसा सम्बन्ध अनादि से है जिससे आत्मा अपने स्वभाव का परित्याग कर विकृत हो रहा है। तब यह कहना कैसे सुसंगत है कि वह अपने रूप का परित्याग नहीं करता।

इसका उत्तर यह है कि आत्मा में विकार परणति भी होती है, परंतु वह पुद्गल कर्म के निमित्त से होती है। तथापि वह परणति पुद्गल निमित्तजन्य होने पर भी पुद्गल रूप नहीं है। अपने गुणों का विकार अपनी आत्मा में होगा और पुद्गलमय विकार पुद्गल में होंगे। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति अथवा क्षमा, विनय आदि गुण यदि कर्म के निमित्त से बिगड़ेंगे तो उनका उन्हीं में परिवर्तन होगा। मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा, सुख दुःखरूप परिणत होगा, शक्ति स्वात्महित रूप न होकर अहित रूप में परिणमन करेगी, क्षमा क्रोधरूप बन जायगी, विनय अहंकार का रूप धारण कर लेगा। यह सब गुणों के विकार अवगुण बन जायँगे, पर पुद्गल के गुणों के रूप में न बनेंगे। गुणों की अवगुण रूप परणति पर निमित्तजन्य होने से विकृति है। यथार्थ में वह अपनी मर्यादा को छोड़कर नहीं है। पुद्गल कभी क्रोध या अहंकार रूप नहीं हो सकता; क्योंकि क्षमादि शक्तियाँ उसमें नहीं है। अतः इन गुणों के विकार भी उनमें नहीं हो सकते। रूप रसादिरूप अथवा कर्म नोकर्मरूप या परमाणु स्कन्धरूप, वर्ग वर्गणारूप परणति पुद्गल की ही होगी, क्योंकि वह उसके स्वभाव की विकृति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव को प्राप्त होकर भी अपने स्वरूप का परित्याग करके परिणमन नहीं करते किन्तु अपने लक्षण को अपने में रखते हुए ही विकृत होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी स्थिति में आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप का त्यागकर विषय ग्रहण के समय विषय रूप नहीं हो सकता, अतः वह विषयों का भोग नहीं कर सकता। वह केवल विषय जनित ज्ञान का ही भोक्ता है। सुख-दुःख कर्मफल का भोक्ता मात्र व्यवहार से कहा जाता है। परमार्थ में ऐसा है नहीं। श्री नेमिचंद्राचार्य ने द्रव्यसंग्रह नामक छोटे निबंध में जो लिखा है वह इस पूर्वोक्त कथन को प्रमाणित करता है। जैसे—

ववहारा सुहदुःखं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।

अर्थात् आत्मा सुख दुःख रूप कर्म फल का भोक्ता है यह केवल व्यवहार कथन है। निश्चयनय से तो वह अपने चैतन्य भाव का ही भोक्ता है।

उक्त कथन से यह सिद्ध है कि आत्मा प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा केवल पदार्थ का ज्ञानमात्र करता है। उन पदार्थों में जिन पर मनकी इष्ट कल्पना है उन्हें सुखदायक मानता है और जो उसे अच्छे नहीं लगते उन्हें अनिष्ट समझ दुःखदायक मानता है। अर्थात् सुख दुःख की कल्पना मन के द्वारा हुई। वास्तव में तो जीव ने केवल पदार्थ के ज्ञान का भोग किया है। वह उसका लक्षण या स्वरूप है, अतः उसी के भोगने में वह समर्थ है, अन्य पदार्थ को भोगने में उसका सामर्थ्य नहीं है, तथापि पदार्थ को सुखदायक मानकर उसमें भ्रमवश इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। जो पदार्थ एक के लिए इष्ट है वही दूसरे के लिए अनिष्ट है। जो एक प्राणी के लिए अनिष्ट है, वही दूसरे के लिए इष्ट है। जैसे किसी व्यक्ति को मिर्च खाने की आदत पड़ गई है, यद्यपि मिर्च का स्वाद चरपरा है फिर भी वह उसे इष्ट है। वही अन्य अनभ्यस्त पुरुष के लिए या बालक के लिए अनिष्ट है। इसी तरह जो पदार्थ किसी क्षेत्र में इष्ट है वही उस व्यक्ति के लिए दूसरे क्षेत्र में अनिष्ट रूप है। जैसे घर में साधारण धोती या बंडी पहिनना ही इष्ट है, पर सभा आदि में जाने पर वह वेष-भूषा अनिष्ट है। जो पदार्थ किसी काल में इष्ट है वही दूसरे काल में अनिष्ट है। जैसे ग्रीष्मकाल में महीन वस्त्र इष्टकारक थे वे ही शीत ऋतु में अनिष्टकारक हो जाते हैं। जो पदार्थ एक अवस्था में इष्ट हैं दूसरी अवस्था में अनिष्टकारक हो जाते हैं, जैसे जो दूध स्वस्थ अवस्था में मीठा और इष्टकारक लगता है, पित्त ज्वर की दशा में वही कड़वा लगता है और अनिष्ट हो जाता है।

इस तरह द्रव्य क्षेत्र काल भाव की परिवर्तित अवस्था में पदार्थ इष्ट और अनिष्ट रूप माने जाते हैं, जिन्हें एक बार सुखदायक माना जाता है उन्हें ही वह दूसरी बार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखदायक मानने लगता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थों में यदि सुखदायकत्व या दुःखदायकत्व होता तो वे सदा प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक प्राणी को सुखदायक ही रहते अथवा दुःखदायक ही रहते पर ऐसा नहीं देखा जाता। अतः पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना प्राणी स्वयं करता है। सुख दुःखदातृत्व उनका स्वरूप नहीं है। तब उन पदार्थों में मोह और ममता करने का क्या प्रयोजन है?

अब रही सुख प्राप्ति की बात सो हमें जो सुख संसार में प्राप्त होता है वह वास्तव में अपनी इच्छा की पूर्ति में होता है। अर्थात् जो इच्छा उत्पन्न हुई उससे ही हम दुःखी हुए। जबतक उस इच्छा की पूर्ति नहीं हुई तबतक दुःख रहेगा। ज्यों ही पूर्ति हुई कि सुखानुभव हुआ। यथार्थ में हमारी इच्छारूप दुःख के नाश से सुख का जन्म हुआ है। अर्थात् जब हमको यह संतोष हो गया कि हमें अब उक्त पदार्थ नहीं चाहिए तब हम सुख का अनुभव करते हैं। सारांश यह कि या तो हमें पदार्थ-ज्ञान के अनुभव में सुख का आभास मिला या सन्तोष उत्पन्न होने पर सुख मिला, पदार्थ से नहीं मिला। यह सुख क्षणस्थायी है, यह सन्तोष परपदार्थाधीन है, अतः इसे सुख रूप न कहकर दुःखरूप ही आचार्यों ने माना है। जो स्थायी है परनिमित्तजन्य नहीं है, स्वात्मोत्थ है, वह वास्तव में सुख है। संसार दुःख की न्यूनता मात्र है, अर्थात् कभी दुःखी प्राणी का दुःख कम हो जाय तो उसमें सुख मानता है। जैसे एक के सिर पर एक मन बोझ लदा हुआ है, यदि वह बीस सेर कर दिया जाय तो वह सुखी हो जाय। वह बीस सेर का बोझ ऐसे मनुष्य के सिर पर रखा जाय जिसके सिर पर अभी कोई बोझ नहीं था तो वह उस बोझ में दुःख का अनुभव करेगा। कारण इसका स्पष्ट है कि प्रथम का दुःख न्यून हुआ अतः सुखी हुआ दूसरे के दुःखमात्रा बढ़ी अतः दुःखी हुआ। बोझ दोनों पर बराबर है पर एक सुखी एक दुःखी हुआ। अतः दुःख की न्यूनता में सन्तोष उत्पन्न होने से, अथवा इच्छारूप महान् दुःख की न्यूनता से, या पदार्थ के ज्ञान का भोक्ता होने से सुख का अनुभव होता है, तथापि यह सुख अस्थायी है। मोह के कारण इच्छाओं की न्यूनता नहीं है, प्रति समय नवीन-नवीन इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्ति के हेतु अनेक पदार्थों की ओर यह दौड़ लगाता है, उनका संग्रह करता है, उनके संग्रह में कष्ट उठाता है और संग्रह हो जाने पर रक्षा की चिन्ता में दुःख उठाता है। उस संगृहीत पदार्थों में अनेकों की इष्ट कल्पना है, अतः उसे प्राप्त करने की इच्छा करनेवाले बहुत हैं। वे उसे ले न जाय अतः अन्य से सतर्क रहना पड़ता है। यदि वे लेने आवें, बाधा दें और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति का उपयोग करें तो उनके साथ संघर्ष करने में महान् दुःख उठाना पड़ता है। यदि उस संघर्ष में विजय नहीं हुई और वह संगृहीत परिग्रह छिन गया तो इष्टवियोगज महान् दुःख हो गया।

पर पदार्थ द्वारा इच्छापूर्ति कर सुख प्राप्ति की अभिलाषा स्वप्नवत् है। ऐसा वस्तु का स्वरूप समझ कर जो बुद्धिमान् उन पदार्थों से मोह ममता का त्याग कर उनके बिना भी अपने मन में सन्तोष उत्पन्न कर लेते हैं वे ही परम सुखी हैं। वह स्वात्मोत्थ संतोष सुख है। स्वजन्य ज्ञान का सुख है। पर निमित्तजन्य न होने से वह स्थायी है। उसी के प्रयत्न में यह एकादश प्रतिमाधारी प्रयत्नशील है। अतः जो थोड़ी सी कमजोरी शेष है उसके कारण मात्र एक लंगोटी, एक खण्ड वस्त्र और एक भोजनपात्र बस इतना परिग्रह रखता है, शेष सब प्रकार के पदार्थों से उसने मोह का त्याग कर दिया है। कितना भी कष्ट का अनुभव करना पड़े वह उसमें सुखी है। पीछी कमण्डलु भी उसके पास होते हैं पर वे परिग्रह नहीं है, जीव रक्षा व शुद्धि के उपकरण मात्र हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमा के प्रथम भेद क्षुल्लक पद प्राप्ति की जिन्हें इच्छा होती है वे ऐसे गुरु के पास जाते हैं जो स्वयं संसार परिभ्रमण से त्रस्त हैं और उससे उन्मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील हैं। स्वयं आरम्भ परिग्रह से विरक्त हो कर अशान्ति के बीजभूत मोह का त्याग कर चुके हैं। परम दिग्मबर मुद्रा को धारण कर जो अपनी मुद्रा ही से स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाते हैं। जो असंतोष, शोक, ईर्ष्या, बैर, माया, ममता और घृणा आदि का कभी अनुभव नहीं करते। ऐसे शान्ति-सुख के प्रदायक स्वगुरु की शरण में जाकर अपने कल्याण का मार्ग उनसे पूछते हैं। उनके बताए हुए सन्मार्ग को पूर्णरूप से ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण क्षुल्लक व्रत की दीक्षा लेते हैं।

इस व्रत का धारी कतरनी या छुरा द्वारा अपने केवल मस्तक तथा दाढ़ी मूंछों के बालों को दूर करता है। इन्हें दूर कर लेने का प्रमाण कम से कम दो माह, मध्यम तीन माह और अधिक से अधिक चार मास है, इससे अधिक काल तक केश रखने से जीवोत्पत्ति की संभावना रहती है। यदि वह चाहे तो केशों का लोच भी अपने हाथों से कर लेता है। लोच करने में भस्म की सहायता ले लेता है। भस्म लगाने पर बालों में रूक्षता होने से पकड़ने में ठीक आ जाते हैं, इतना मात्र प्रयोजन है। भस्म के सिवाय अन्य किसी ऐसी वस्तु का प्रयोग नहीं करता जो बालों के उत्पाटन में सहायक हो। लोचक्रिया का प्रयोग इसलिए करता है कि कतरनी या क्षुरा की आवश्यकता भी न्यून हो जाय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब तक केशोत्पाटन या उनकी दूरीकरणक्रिया नहीं होती तब तक जो केश मस्तकपर रहते हैं उनका तेल आदि से कोई संस्कार नहीं करता। दाढ़ी या मूंछों के बालों की कोई साज संभाल नहीं करता। वे अपने स्वाभाविकरूप में रहते हैं और उन्हें वैसे ही घास की तरह उखाड़ देते हैं। क्षुल्लक अपने पास लंगोट (कौपीन) तथा एक खण्ड वस्त्र रखता है। खण्ड वस्त्र से यह तात्पर्य है कि जो वस्त्र अधिक से अधिक तीन सवा तीन हाथ ही लम्बा हो और अधिक चौड़ा न हो। जिसे यदि ओढ़ कर सोया जाय तो साढ़े तीन हाथ के पुरुष शरीर को पूरा न ढक सके। यदि पैर ढके हैं तो सिर उघाड़ और सिर ढाका जाय तो पैर उघाड़े रह जाँय। यह इसलिए कि अपने अग्रिम प्रतिमाभेद में ही वह इस परिग्रह से भी अपने को मुक्त कर लेना चाहता है। इसके पास एक कमंडलु रहता है जो शौच क्रिया के लिये प्रासुक जल रखने के प्रयोग में आता है। मृदु वस्तु या अमारी की पिच्छिका अथवा मयूर पिच्छिका द्वारा प्रतिलेखन करता है। प्रतिलेखन का अर्थ है जीव जन्तु जो प्रत्यक्षगोचर नहीं होते हैं या नेत्र की कमजोरी के कारण नहीं दिखाई देते हैं उनकी रक्षा पूर्वक ही उठना बैठना, आसन ग्रहण करना, वस्तु का उठाना रखना, मल मूत्र त्याग करना, यह व्रती उस मृदु पिच्छिका से स्थान को स्वच्छ कर निर्जन्तु होने पर ही उपयोग में लेता है।

आहार ग्रहण की पद्धति में क्षुल्लक दो प्रकार के हैं। पहला एक भिक्षानियम और दूसरा अनेक भिक्षानियम। श्रावक के एक ही घर में जाकर वहाँ जो भिक्षान्न प्राप्त हो, उसे लेकर अपनी उदर पूर्ति करते हैं वे एकभिक्षानियम हैं। इनमें कोई एक भाजन (बर्तन) भोजनार्थ पास भी रखते हैं जो पीतल आदि साधारण धातु का हो और उसमें भोजन लेकर भोजन करते हैं। कोई बर्तन नहीं रखते श्रावक जिस बर्तन में भोजन परोस दे उस बर्तन में आहार कर लेते हैं।

अनेक भिक्षानियम वाले क्षुल्लक अपने पास के बर्तन में एक दो तीन आदि घरों में प्राप्त भिक्षान्न संग्रह कर लेते हैं। वे लेते उतना ही है जितने में उदर पूर्ति हो जाय, उससे अधिक नहीं। अपनी उदर पूर्ति के योग्य संग्रह होने पर किसी श्रावक के घर जहाँ भी प्रासुक जल प्राप्त हो जाय वहाँ बैठकर भोजन कर लेते हैं। सर्व प्रथम जो भिक्षान्न पात्र में संगृहीत है उसे ग्रहण कर लेते हैं, यदि उतने से उदरपूर्ति नहीं होती तब इस अन्तिम गृह से भिक्षान्न लेते हैं अथवा प्रासुक जल वहाँ लेते हैं। ऐसा नहीं होता कि ये प्राप्तान्न यदि सामान्य है तो उसे छोड़कर अन्य रसवान् अन्य दूसरी जगह प्राप्त होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर उसे ले लें। अथवा पूर्व संगृहीत अन्न में से स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर शेष फेंक दें। ऐसा करनेवाला व्रती अपने व्रत से च्युत है। रसना इंद्रिय पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही आरंभत्याग प्रतिमा में परगृह का भोजन स्वीकार किया गया था। इसलिए नहीं कि घर में द्रव्य की हीनता है, इससे गृहारंभ छोड़ कर पर घर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, अतः पर गृह भोजन किया जाय। ऐसा करनेवाला व्रती नहीं, पापी है। वह व्रती के भेष में अपनी आत्मा को और दूसरों को ठगता है। उसने व्रती वेष को आजीविका का साधन बना लिया है, यह इस वेष का उपयोग न केवल भोजन मात्र के लिए करता है अपितु येन केन प्रकारेण भोले भक्तों व महिलाओं से अन्य प्रकार भी द्रव्य ठगने लगता है। ऐसा व्यक्ति व्रती नहीं, मिथ्या ही व्रतवेषी है। इसकी आत्मा संसार परिभ्रमण करेगी। कुयोनियों में भ्रमण कर घर-घर उच्छिष्टान्न का भोजन करेगी। जो व्रत पूज्यपद मुनिव्रत के अभ्यास के हेतु है उसका उपयोग यदि भोजन प्राप्तिहेतु किसी अज्ञानी ने किया है तो यथार्थ में उसने रत्नहार प्राप्त कर उसकी कीमत नहीं समझी और वह केवल हार में मणियों को गूँथने वाले सूत पर मोहित हो गया है, इसलिए मणियों को तोड़ कर फेंक देता है और उस सूत से अपने फटे चिथड़े वस्त्रों को सीकर उपयोग में ला रहा है। ऐसा व्यक्ति दया का पात्र है। सुपात्र की गणना में गिनने योग्य नहीं। सुगुरु उसपर दया करें और उसे मार्ग पर लगावें।

ऐसे भेषी से यदि भेंट हो तो श्रावकों को भी उससे घृणा न कर उसपर दया करनी चाहिए और उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रावक भी विवेकी हो तभी वह यह कार्य कर सकेगा। अविवेकी श्रावक उच्छृङ्खल व्यवहार कर उससे द्वेष करेगा और मार्ग पर न ला सकेगा। यदि विवेकी श्रावकों के प्रयत्न द्वारा वह सन्मार्ग पर न आवे तो उसे किसी सुगुरु के पास ले जाना चाहिए। वे उसे मार्ग पर अवश्य ले आने में समर्थ हो सकेंगे। यदि श्रावक तथा सुगुरु भी उसे मार्ग पर न ला सकें, वह दोनों की उपेक्षा कर दे तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि गुरु का आदेश पाकर उसके वेष को समाप्त कर उसे व्रती मानना छोड़ दें। व्रत पद के अनुकूल उसकी पूजा प्रतिष्ठा सम्मान आदि न करें। ऐसा करने से उसका वेष ग्रहण उसे निरर्थक जान पड़ेगा और अपनी ठगी वृत्ति में सफलता न मिलने से या तो वह सन्मार्ग पर आवेगा या उस वेष का त्याग करेगा।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। निःशंकित अंग उसकी निर्भयता तथा जिनकथित तत्त्वों की अटल श्रद्धास्वरूप है। निःकांक्षित अंग-विषयों के प्रति विरागता का चिह्न है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्विचिकित्सा-घृणा और द्वेष के अभाव-सूचक हैं तथा अमूढ़दृष्टि अंग-मोह के अभाव का प्रकाशक है। ये चार उसकी श्रद्धा तथा राग द्वेष मोह के अभाव की सूचना देते हैं तथा उपगूहन, वात्सल्य स्थितीकरण और प्रभावना ये अन्तिम गुण हैं। व्रत से च्युत होनेवाले व्यक्ति के साथ इन चारों का क्रमशः उपयोग करना चाहिए। सर्व प्रथम तो उपगूहन अंग का पालन करे। यह विचार करे कि पापोदय से आत्मा व्रतादिकों में शिथिल हो जाता है, अथवा अज्ञान या शारीरिक व मानसिक कमजोरी से ऐसा होना संभव है, अतः व्रतियों का अपवाद न हो इसलिए इसकी निन्दा करने या मात्र अलोचना करने में लाभ नहीं है, इसके अवगुण प्रकाशित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उपगूहन अंग का पालन करनेमात्र से यदि कार्य सिद्धि न हो तो भी उस व्यक्ति से घृणा न कर उससे धर्मवात्सल्य कर वात्सल्य अंग का पालन करे तथा वह व्यक्ति धर्म में पुनः स्थिर हो जाय इसका प्रयत्न कर स्थितिकरण अंग का पालन करें। इस प्रकार से कार्य करनेवाला व्यक्ति ही धर्म की प्रभावना में समर्थ होता है और प्रभावनांग का पालक है। अवगुण छिपाने का अर्थ अवगुण और अवगुणी का पालना नहीं है और न वह उपगूहन अंग है। छिपाने का तात्पर्य मात्र इतना है कि यदि किसी अज्ञानता से या कर्मोदय से कभी किसी से पद विरुद्ध कार्य हो गया है तो निन्दात्मक पद्धति से वह दूर नहीं किया जा सकता। निन्दा, आलोचना और अपवाद, उसके सुधार के उपाय नहीं हैं। सुधार का सच्चा उपाय है उसे उसके पद की महत्ता बताकर गिरने से बचाना। अपने दोष के जाननेवाले से लज्जाशील व्यक्ति दबता है, उच्छृङ्खलता नहीं करता और इसीलिए उसकी इस वृत्ति का लाभ इस रूप में उठाया जा सकता है कि उसे पुनः उसके पद में प्रतिष्ठित कर दे। उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति बहुत सज्जन है और मेरा हितैषी है, क्योंकि मेरा दोष जानकर भी अपवाद न कर मुझे दोष दूर करने की सम्मति देता है और मेरी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। ऐसे विचार से वह सन्मार्ग पर पुनः आ जाता है। यह बहुत बड़ी सेवा है। जिस महापुरुष से वह बन सके वह पूज्य पुरुष है। प्रारम्भ के चार अंग उस सम्यग्दृष्टि की व्यक्तिगत महत्ता के प्रतिपादक है और अन्तिम चार धर्मात्माओं के प्रति उसके सद्व्यवहार को प्रकट करते हैं।

जो व्यक्ति प्रारम्भ से ही छद्मवेषी हैं व्रत की आकांक्षा से इस मार्गपर नहीं आए। लज्जाशीलता जिनमें नहीं है। यहाँ लज्जाशीलता का अर्थ पाप करने में लज्जा आने से हैं, वह भूषण हैं। जो प्रयत्न करने पर भी सन्मार्ग पर नहीं आते। अपने दुराचार से पद को लांक्षित करते हैं। जिन्हें मार्ग पर लाने के सब उपाय व्यर्थ चले गये हों उन्हें बलात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस पद से अलगकर देना श्रेयस्कर और प्रभावनांग का पोषक है। पर इसका प्रयोग करने का अधिकर या तो दिगम्बर गुरु को है या उनके अभाव में विवेकपूर्वक क्रिया करनेवाले अन्य व्रती श्रावक संघ को है।

जो संसार, देह और भोगों से विरक्त होकर पांचों पापों से उन्मुक्त होने के लिए लालायित हैं, किन्तु शारीरिक और मानसिक कमजोरी के कारण उनसे अबतक छूटे नहीं है, छोड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं वे ही इस पद पर आसीन होते हैं। इस तरह एकभिक्षानियम और अनेक भिक्षानियम दोनों ही श्रावक इन्द्रिय विजय के पवित्र उद्देश्य को विस्मरण न करते हुए आहार की वृत्ति को पूरा करते हैं। कुछ ग्रंथकार ऐसा लिखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और स्पर्शशूद्र ऐसे ४ वर्ण के लोग इस पद को धारण कर सकते हैं। उनमें तीन वर्ण तो एकभिक्षानियमवाले होते हैं। कमण्डलु या भोजन हेतु बर्तन रखते हैं। जो अनेक भिक्षानियम हैं उसे स्पर्श शूद्र वर्ण वाले धारण करते हैं। वे (लोहे का) कमंडलु और भोजन पात्र रखते हैं। कई ग्रन्थकार सभी वर्णों के लिए दोनों प्रकार के एक से नियम हैं ऐसा वर्णन करते हैं।

दोनों ही प्रकार के क्षुल्लक उद्दिष्टाहार के त्यागी हैं। इसलिए आहार के समय श्रावकों के घर स्वयं जाते हैं। वहाँ या तो मौन पूर्वक एक क्षण बाहर खड़े हो जाते हैं अथवा धर्मलाभ हो ऐसा आशीर्वचन कहकर निकल जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में एक क्षण वहाँ खड़े रहने से तात्पर्य इस बात का है कि जो श्रावक गृह के भीतर है अथवा अन्य कार्य में संलग्न है उसे उस भिक्षु के आने का ज्ञान हो जाय। उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर भिक्षु फिर वहाँ बिना बुलाए नहीं ठहरता। श्रावक उन्हें देखकर प्रतिग्रह करता है, अर्थात् अपने गृह आने की प्रार्थना करता है और आहार पानी भिक्षु के योग्य उसके घर है तथा उसकी इच्छा दान की है यह व्यक्त करता है, इस क्रिया का नाम प्रतिग्रह है।

गृहस्थ की प्रार्थना पर भिक्षु ठहर जाता है और उसकी पुनः प्रार्थना पर उसके गृह में प्रवेश करता है। गृहस्थ उसे उच्चस्थान पर बैठाता है, पैर धोता है, सम्मान करता है, नतमस्तक होता है और यह प्रतिज्ञा करता है कि आपको आहार देने में मेरे मन-वचन-काय से विशुद्धि है। यह नवधा भक्ति इस बात की सूचक है कि कोई कपट से या किसी दबाव से अथवा केवल लोक लाज से या लोकापवाद के भय से मैं बिना अपनी इच्छा के आहार देने को प्रस्तुत नहीं हुआ हूँ। मैं हर्ष और पवित्र वृत्ति से आहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देने को तैयार हुआ हूँ। मेरे घर पर आपकी भिक्षा के योग्य शुद्ध व शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार अभक्ष्यादि दोषरहित आहार व प्रासुक जल है। आप कृपाकर स्वीकार करें। इस प्रार्थना पर भिक्षु भोजनशाला में प्रवेश करता है और अपने नियमों के अनुसार आहार को ग्रहण करता है। भिक्षु इष्ट और अनिष्ट आहार में राग द्वेष या संकल्प विकल्प नहीं करता किन्तु अपने उदर की पूर्ति हेतु प्रेम से उसे ग्रहण कर शरीर की आवश्यकता पूरी करता है। अन्न और आहार के बिना शरीर नहीं टिकता, परिणाम संक्लिष्ट हो जाते हैं, धर्म साधन नहीं होता इसलिए भिक्षु आहार हेतु जाता है। शरीर धर्म साधन का कारण है, इसलिए उसे अन्न पानी देकर स्थिर रखना है और उसके द्वारा धर्म साधन करता है। इतना उद्देश्य लेकर भिक्षु इस वृत्ति को अंगीकार करता है। यदि बिना आहार के भी शरीर चलता है तो उस दिन उपवास करता है। अष्टमी चतुर्दशी को तो नियमतः उपवास करने का इन्हें व्रत है।[1] प्रौषधोपवास व्रत यहाँ उत्कृष्ट दरजे से पालन किया जाता है। इच्छा होने पर और श्रावक के घर तक जाने पर भी यदि विधिवत् आहार न प्राप्त हो या कोई प्रतिग्रह न करे अथवा आहार में अन्तराय आ जाय तो भिक्षु उस दिन भी उपवास अवश्य करता है। वह केवल उसी अवस्था में आहार ग्रहण करता है जब शरीर के लिए उसकी अत्यन्त आवश्यकता का अनुभव करता है। वह वहाँ ही आहार लेता है जहाँ पर उक्त नवधा भक्ति के द्वारा सप्तगुण सहित श्रावकजन अपनी हार्दिक श्रद्धा पूर्वक, संतोष रखते हुए उदारता से, विनयपूर्वक व धैर्यपूर्वक शक्त्यानुसार आहार देते हैं।[2] आहार करने के बाद अपने भोजन के पात्र वह स्वयं स्वच्छ करे ऐसी जिनाज्ञा है। ऐसा नियम इसलिए है कि इसे कोई अहंकार भाव जागृत न हो और श्रावक की कोई क्रिया असंयम रूप से इसके लिए न हो पाए। श्रावक भक्ति में अथवा अन्य कारणों से उस भाजन के स्वच्छ करने में देर करे और इतने में आहार के करने के लोभ से मक्खी आदि उसमें पतन कर प्राण रहित हो जाय तो यह महान् असंयम होगा ऐसा विचार कर भिक्षु स्वयं उसे माँजकर स्वच्छ करे। यदि श्रावक तत्काल ही संयम रक्षा करते हुए उसे स्वच्छ कर देना चाहे तो भी आपत्ति नहीं है। किन्तु यदि क्षुल्लक यह विचारे कि श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह मेरे जूठे वर्तन मांजे, यह तो उसका सौभाग्य है, मैं तो महत्त्वशाली पद पर हूँ, इसे मेरी सेवा करनी ही चाहिए, ऐसे अहंकार के वशीभूत होकर श्रावक से अपना बर्तन माँजने को कहे, तो व्रती को दोष है।

---

१. कुर्यादेव चतुष्पर्व्याभुपवासं चतुर्विधम् - सागारधर्मामृत ।

२. स्वयं यतेत चादर्यः परयाऽसंयमो महान् । – वहीं, ७/४४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार के बाद भिक्षु अपने संघ में वापिस आकर गुरु से सब निवेदन करता है। यदि कोई त्रुटि आहार क्रिया में जाने के समय से आने के समय तक के मध्य में हुई तो उसे स्पष्ट निवेदन करता है और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को स्वीकार करता है। भोजन वृत्ति दिन में एक बार ही करने का इसका नियम है।

क्षुल्लक गुरु से दीक्षा लेते हैं, उनके सन्निधान में रहते हैं। उनकी तथा अन्य संघ के साधुओं की हर प्रकार से वैयावृत्य करते हैं। साधु-सेवा ही इनका व्रत है। स्वाध्याय द्वारा सदा अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं, त्रिकाल आत्म-चिन्तन द्वारा अपने को सन्मार्ग पर स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। यदि दीक्षादायक साधुजन न हों, और इस व्रती ने भगवान् तीर्थंकर की प्रतिमा या आगमग्रंथ के सम्मुख स्वयं दीक्षा ली है तो भी उसे अन्य व्रती प्रतिमाधारियों के साथ ही रहना चाहिये। स्वतंत्र विचरण नहीं करना चाहिए। स्वतंत्रता से अकेले भ्रमण करने का तो साधु को भी निषेध है। अकेला विहार करने वाले की सत्संगति के अभाव में, और परीषह उपसर्ग के विजय न कर सकने की स्थिति में मार्ग से च्युत हो जाने की संभावना आचार्यों ने की है, अतः संघ में रहने का आदेश दिया है। संघ में रहते हुए अन्य व्रतियों की धर्म-सेवा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। रोगी अवस्था में, असहायावस्था में और पीड़ितावस्था में उनकी शारीरिक सेवा भी करता है। धर्मसाधन में सहायता करता है। समाधिमरणादि अवस्था में, अपने धर्म-साधन की क्रियाओं में हानि हो जानेपर भी समाधिगत साधु या श्रावक की सेवा कर उसे समाधि में स्थिर करता है। यह कर्त्तव्य वह उस काल में सर्वश्रेष्ठ मानता है। क्षुल्लक व्रती की यह प्रक्रिया है।२११।

किमैलकस्य चिह्नं मे वर्तते सिद्धये वद।

हे गुरुदेव! ऐलक का क्या लक्षण है, मेरी कल्याणसिद्धि के लिए कृपाकर कहे—

(वसन्ततिलका)

कौपीनमात्रवसनो करपात्रभोजी
स्थित्वासनेऽशनविधानपरः प्रकामम्।
स्वर्मोक्षमार्गनिरतो विरतोऽन्यकार्यात्
स्यादैलको निजरतः प्रतिमाप्रयोगी।।२१२।।

कोपीनेत्यादिः— यः किल एकादशप्रतिमाधारी प्रवृद्धवैराग्यः साहसिकः स्वदेहस्थितं खण्डवसनमपि परित्यजति, करपात्र एव भुंक्ते। भोजनपात्रमपि परित्यजति। श्रावकगृहे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्पात्राणामप्युपयोगः यस्य नोचितः स च ऐलकः स्यात् । एषोऽपि पद्मासनेन अर्धपद्मासनेन सुखासनेन वा स्थित्वा भुंक्ते। क्षुल्लकवदेव प्रतिग्रहादिकमपेक्ष्य आहाराय गच्छति। प्रतिमायोगं धारयति, न तु दिवसे। परीषहोपसर्गान् जयति। न तस्य भीतिस्तथापि स्वप्रयत्नतः परीषहान् प्राप्तुं न यतते। कटिसूत्रं कौपीनञ्च धारयति। शीतस्य दंशमशकस्य च समागतां बाधां ग्रीष्मे प्रस्वेदादि निमित्तेन संप्राप्तां बाधाञ्चामन्यमानोऽन्यानप्युपसर्गपरीषहान स्वयमेव समागतान् नावगणयति किन्तु तान् जयति। एष द्वित्रिचतुर्षु मासेषु लोचमेव करोति न कर्त्तर्यादिना केशानपनयति। न चास्मिन् पदे स्यादनेकभिक्षानियमः। एकभिक्षानियम एवात्र स्वीकृतः। वर्णत्रयेष्वेतत् पदं स्यान्न शूद्रेषु। मुनेर्लघुभ्रातुरस्य पञ्चाणुव्रतानि महाव्रतसमीपतां यान्ति। ईर्यासमित्यादीन् पालयति गुप्त्यादीनपि च भजते। प्रथमप्रतिमाग्रहणसमये यः संसारदेहभोगैर्तिरक्तायाः परिणामः सञ्जातः स एवात्र परिपूर्णतां याति। एवम्प्रकारेण क्रमशः प्रतिमारोहणेन अणुव्रतानां महाव्रतेष्वारोपणप्रक्रिया पूर्णतां याति। २१२।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।

क्षुल्लक व्रती वैराग्य परिणामों की वृद्धि के कारण साहसी होकर ऐलक वृत्ति को प्राप्त होता है। इनकी आर्यसंज्ञा है। ये अपने केशों का उत्पाटन दो, तीन, या चार मास में अपने हाथों से करते हैं। कैंची आदि का उपयोग न स्वयं करते हैं और न अन्य को करने देते हैं। खण्ड वस्त्र का भी त्याग कर मात्रकटिसूत्र और कौपीन (लंगोटी) धारण करते हैं। शीत डांस मच्छर वर्षा और ग्रीष्म की सम्पूर्ण बाधाएँ अपने खुले खरीर पर झेलते हैं। कोई भी परीषह और उपसर्ग आजाय तो उसके सहन करने में कायरता नहीं दिखाते, प्रीतिपूर्वक सहन करते हैं। तथापि परीषह उपसर्गों की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते। घोर तपश्चरण आदि को धारण करने की शक्ति को उत्पन्न कराने का प्रयत्न करते हैं, पर वर्तमान अवस्था में वैसी शक्ति के अभाव में घोर तपस्या नहीं करते। प्रतिग्रहादि नवधा भक्तिपूर्वक श्रावक आहार दे, तो बैठकर अपने करपात्र में ही लेते हैं। भोजन का पात्र ये अपने पास नहीं रखते, और न श्रावक के पात्रों में भोजन करते हैं। अपने हाथ पर जो आहार श्रावक दे दे मात्र उसे उदरस्थ करते हैं। आराम से स्वाद लेकर आहार ग्रहण नहीं करते। न अतिशीघ्र ही भोजन करते हैं। ये एषणा समितिपूर्वक देख शोधकर आहार को लेते हैं। आहार सरस है या नीरस है, स्वादिष्ट है या बेस्वाद इन बातों पर उनका ध्यान नहीं जाता। केवल इतना ध्यान रखते हैं कि आहार शुद्ध है, निर्जीव (प्रासुक) है, कोई अन्तराययोग्य वस्तु का उसमें समागम नहीं है।

स्वाध्याय, ध्यान, धर्मोपदेश और धर्मप्रभावना आदि कार्यों में अपने समय का सदुपयोग करनेवाले साधु संघ में ही रहते हैं, अकेले नहीं। रात्रि में मुनि की तरह नग्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होकर ध्यान करते हैं पर दिन में नहीं। प्रकारान्तर से रात्रि में इनकी मुनिवृत्ति और दिन में ऐलक वृत्ति रहती है। यह पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों में ही धारण किया जाता है। इनमें अनेक भिक्षा का नियम नहीं है। केवल एक घर में ही आहार लेकर आ जाते हैं। आहार के बाद गुरु को सब प्रक्रिया निवेदन करते हैं तथा दिया हुआ प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण ये नियमतः करते हैं। चातुर्मास में एक स्थान पर रहते हैं। साधारणतः चातुर्मास गृहत्यागी सभी करते हैं। गृहस्थ भी करें तो धर्मसाधननिमित्त ऐसा देशव्रत ले सकते हैं, पर गृहत्यागी को तो इसका यथायोग्य पालन करना ही चाहिये। वर्षाकाल में सर्वत्र मार्ग अप्रासुक हो जाता है, सर्वत्र वनस्पति छा जाती है, त्रसराशि भी विशेष उत्पन्न होने से मार्ग में चलना कठिन हो जाता है, अतः आरम्भत्यागी के लिए तो उस समय विहार करना सर्वथा अनर्थदण्ड है। इसके पूर्व तो गृह व्यापारादि का आरंभ संबंध होने से मार्गगमन का बंद करना संभव नहीं होता, पर आरंभ व्यापार का त्याग होने पर वह सहज ही बंद हो सकता है।

यह ऐलक पदस्थ व्यक्ति मुनि का लघुभ्राता कहा गया है। इनके पञ्चाणुव्रत यहाँ महाव्रत की मर्यादा में पैर रखने लगते हैं, समित्यादिका भी उपयोग ये करते हैं और गुप्तिआदि का पालन करते हैं। ये सब मात्र प्रतिज्ञारूप या व्रतरूप नहीं है तथापि मुनि की तरह ही इनकी पालना ऐलक करते हैं। मयूरपिच्छिका रखते हैं तथा प्रतिलेखन करते हैं। दिन में मार्ग गमन करते हैं, रात्रि में नहीं, मात्र शौच आदि बाधा निवृत्ति हेतु ही रात्रि में गमन करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। हित, मित और प्रियवचन बोलते हैं। कठोर, विषम और पीड़ा कारक वचनों का स्वप्न में भी उच्चारण नहीं करते।

इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप पूर्ण हुआ। इसके बाद कौपीन मात्र त्यागकर ये मुनिव्रत को अंगीकार करते हैं। श्रावक व्रत की समाप्ति ऐलक पद में हो जाती है।

प्रतिमारोहण की प्रथम शर्त थी कि जिसे संसार, देह व भोगों से वैराग्य हुआ हो वह इस मार्ग पर चले। ग्यारहवीं प्रतिमा के स्वरूप को प्राप्त करने पर वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। श्रावक के १२ व्रत जो द्वितीय प्रतिमा में धारण किए थे वे आगामी प्रतिमाओं में बढ़ते-बढ़ते इस प्रतिमा में अपनी मर्यादा समाप्त कर महाव्रतत्व को प्राप्त होने लगते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। कहाँ कौन प्रतिमा में कौन-कौन व्रत पूर्ण होते हैं इस संबंध में मूलग्रन्थकर्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराज ने कुछ गद्य वाक्यों में किया है। उनका यहाँ वर्णन किया जाता है। वे वाक्य ये हैं—

१- सामायिकप्रतिमायामेव सामायिकं निर्दोषतां याति।
२- प्रोषधोपवासव्रतपूर्णता प्रोषधोपवासप्रतिमायां भवति।
३- पञ्चमप्रतिमायां भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।
४- अथ षष्ठप्रतिमायां भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।
५- भोगोपभोगव्रतस्य संपूर्णतया पूर्णता सप्तमप्रतिमायां भवति।
६- अष्टमप्रतिमायामारम्भत्यागः पञ्चाणुव्रतस्य शुद्धता विशेषरूपेण स्यात् ।
७- नवमप्रतिमायां परिग्रहत्यागतोऽतिथिसंविभागव्रतस्य निरतिचारता स्यात् ।
८- अथ दशमप्रतिमायां अनुमतित्यागादनर्थदण्डव्रतं निरतिचारतां याति।
९- अथोद्दिष्टाहारत्यागात् सप्तशीलानां पूर्णता भवति तथाणुव्रतत्वमपि महाव्रतत्वं याति।

इनका तात्पर्य इस प्रकार है कि—

१—सामायिकव्रत यद्यपि द्वितीय प्रतिमा में ही धारण किया था पर उसकी पूर्णता तृतीय प्रतिमा में होती है। यहाँ सामायिक व्रतरूप हुआ। यद्यपि सामायिक ही एक मात्र चारित्र है, उससे ही सर्व कर्म निर्जरा होती है और इसलिए तृतीय प्रतिमा में उसकी पूर्णता नहीं होती। उसका आचरण तो मुनिजन भी करते हैं। उनके अन्य सब प्रयत्न इसे प्राप्त करने के लिए हैं, तथापि श्रावक पद के योग्य यथासमय नियमित सामायिक करना इतना व्रत मात्र इस प्रतिमा में पूर्ण होता है।

२—इसी तरह प्रोषधोपवास व्रत का प्रारम्भ भी द्वितीय प्रतिमा में था पर पूर्णरीति से गृहस्थ योग्य यह व्रत चतुर्थ प्रतिमा में पूर्ण होता है।

३,४,५—पाँचवीं में भोजन सम्बन्धी, छठी में उपभोग संबंधी तथा सातवीं में पूर्णतया भोगोपभोग संबंधी सामग्री का भोगोपभोग की दृष्टि से त्याग हो जाता है और यह भोगोपभोग परिमाणव्रत पूर्ण होता है।

६—आठवीं प्रतिमा में आरंभ व्यापार का त्याग होने से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण ये पाँचों ही अणुव्रत उज्ज्वलता धारण करते हैं। इन व्रतों में दोषोत्पन्न होने योग्य परिस्थिति ही समाप्त हो जाती है। दिग्व्रत देशव्रत सभी आरंभादि कार्य के अभाव से यहाँ पूर्णता प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७—नवमी प्रतिमा में धनधान्यादि परिग्रह जो अभी तक थे आरंभ त्याग करने पर उनकी निरर्थकता स्वयं अनुभव में आने लगती है। अतः उसका त्याग होने से त्यागवृत्ति के हेतु जिस अतिथिसंविभाग व्रत को धारण किया था वह परिग्रह त्याग से पूर्ण होता है, अतः अब यह आहार दान छोड़कर अतिथि की अन्य सेवायें ही करता है। अतः अतिथिसंविभागव्रत अपनी मर्यादा यहाँ पूर्णकर लेता है। अब यह स्वयं अतिथि बनने योग्य हो रहा है।

८—दशवीं प्रतिमा में आरंभादि संबंधी अनुमति भी नहीं देता, अतः बिना प्रयोजन के कार्य बन्द करने के लिये उनके पाप से बचने के लिए जो अनर्थदण्ड व्रत किया था वह यहाँ पर अपना अन्तिम रूप पा जाता है। अतः इस व्रत की पूर्णता के लिए यह प्रतिमा धारण की गई है।

इस प्रकार द्वितीय प्रतिमा के सम्पूर्ण १२ व्रत विभिन्न प्रतिमाओं में अपनी-अपनी वृद्धि करते-करते महाव्रत में प्रविष्ट होने योग्य बनते हैं।

९—ग्यारहवीं प्रतिमा में बारह व्रतों की विशेष शुद्धिपूर्वक मुनि पदारोहण की पूर्ण तयारी हो जाती है।

यहाँ श्रावकधर्म की मर्यादा समाप्त है।

श्रावक के बारह व्रतों में समाधिमरण भी एक व्रत किन्हीं आचार्यों ने गिनाया है। उनके मत से बारह व्रत इस प्रकार गिनाए गए हैं, पंचाणुव्रत के साथ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डत्याग, भोगपरिमाणव्रत, उपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण। किसी-किसी ग्रन्थकार ने १२ व्रतों के बाद समाधिकरण को अलग से व्रत न मानकर भी उसकी आवश्यकता प्रत्येक व्रती या अव्रती के लिए भी बतलाई है। वास्तव में समाधिकरण एक ऐसी क्रिया है जिसकी इच्छा अव्रती भी करता है। वह भी चाहता है कि मेरा मरण उत्तमप्रकार से धर्मपूर्वक हो। समाधिमरण करनेवाले को पाक्षिक और नैष्ठिक की तरह 'साधक' ऐसा तीसरा स्वतंत्र नाम दिया गया है। प्रत्येक प्रतिमारोही मरण के समय कषायों पर विजयकर व विषयों का त्यागकर अपने में शान्ति या समाधि उत्पन्न कर मरण को प्राप्त करता है। इस आत्मसाधना के कारण वह 'साधक' पद को प्राप्त करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मरणकाल किसी भयानक उपसर्ग या बीमारी आदि के कारण भी आ सकता है। उस समय पर सम्हाल करके समाधि का साधन कर लेना कठिनतर कार्य है। जिन्होंने इसकी जीवनकाल में भावना की है उन्हें कठिन नहीं है। वे प्रतिक्षण उसकी कामना रखते हैं, अतः उस समय को देखकर घबड़ाते नहीं हैं। तत्काल अन्नाहार का त्याग कर निष्कषायभावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं। आयु के पूर्ण होने का नाम मरण है। ऐसा मरण प्रतिसमय होता है, क्योंकि आयु का गलना प्रतिसमय हो रहा है। यह मात्र व्यवहार है कि आयु के क्रमशः जो निषेक गलते जाते हैं उसे हम जीवन ही कहते हैं, और अन्तिम निषेक की समाप्ति को मरण कहते हैं। यथार्थ में तो आयु के निषेक का खिरना ही मरण है। आयु के निषेक प्रति समय क्षय होते हैं, अतः प्रतिसमय ही मरण है। तब हम समाधि (समभाव) की प्रतिसमय वांछा और उसके प्रति प्रयत्न करने वाले को समाधिकरण का व्रत है, ऐसा कह सकते हैं। इसी अपेक्षा से इसकी गणना १२ व्रतों में की गई है। मरण के समय सबसे ममत्व त्यागकर द्वादश भावनाओं का विचार करना तथा आरंभ परिग्रह को सर्वथा त्याग धर्मध्यान में अपना उपयोग लगाना, सबके प्रति उत्तम क्षमा का भाव रखकर सबसे क्षमा याचना करना, किसी के प्रति राग, द्वेष न करना और किसी वस्तु की वांछा नहीं रखना यह कर्त्तव्य होता है। इस प्रकार जिनका मरण होता है उनकी कुगति नहीं होती। अव्रती श्रावक से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक मुनिपद में भी अपनी-अपनी योग्यता तथा प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुसार यह व्रत पाया जाता है।

इस व्रत के भी ५ अतिचार हैं जिनसे बचना चाहिए। वे ये हैं--(१) रोगादि से या उपसर्ग से या वेदना से घबड़ाकर शीघ्र मरण की इच्छा करना, (२) सेवा करनेवाले व्यक्तियों के मोह से, उनकी सेवा की प्रसन्नता से अथवा अन्य कोई विषय-वासना से ऐसा विचार करना कि मरण न आवे, जितने काल जीवित रह सकें उतना अच्छा, ऐसी वांछा करना, (३) अपने कुटुम्बीजन, स्त्री, पुत्रादि में, मित्रादि में प्रीतिभाव रखना, उनके मोह का त्याग न करना, (४) पहले जो विषय-भोग किए हैं उनकी बार-बार याद कर चित्त को विषयानुरागी बनाना, (५) व्रतों का फल आगे स्वर्गादि संपत्ति रूप हो व अनेक विषयों के उत्तमोत्तम साधन मिलें, ऐसी वांछा करना ये पाँच अथवा इसी प्रकार के अन्य दोष समाधि मरण के अतिचार हैं।

इनसे विरक्त हो अपने उद्देश्य को सामने रखकर, लक्ष्य भ्रष्ट न हो, प्रयत्नपूर्वक समाधि लेना समाधिमरण है। यह व्रतों का सार है। इसी समाधि के अर्थ ही व्रतों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिपालन है। जिसने जीवन भर व्रत किया और अन्त समय समाधिसाधन न किया उसने जीवन भर कमाई हुई संपत्ति को उपयोग के पूर्व कुएँ में डाल दिया। ऐसा समझकर इस व्रत का अवश्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार समाधिव्रत जो १२ व्रतों में भी गिना गया है उसका वर्णन प्रकरणसंगत होने से संक्षेप में किया गया है।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी उक्त प्रतिमाओं का पालन करती हैं। उनकी अवस्था के भेद से क्वचित् भेद हो जाता है। जैसे छठी प्रतिमा में कृतकारितानुमोदन से रात्रिभोजन त्याग होने पर भी जिस स्त्री की गोद में दूध पीता बच्चा है वह उसे अपना दूध पिलायगी, उसका त्याग उसे हो नहीं सकता। यदि करे तो बालक की अपमृत्यु का कारण होने से महान् दोष उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा में क्षुल्लिका के पास सोलह हाथ तक की धोती तथा एक ओढ़ने का वस्त्र और आर्यिका अवस्था में केवल एक धोती मात्र परिग्रह रहता है। इतने वस्त्र इनके लिये विधेय हैं। ये श्राविकाओं के संघ के साथ रहें। मासिक शरीरधर्म की कठिनाई के समय श्रावक के घर पर रहें। उस कठिनाई के दूर होने पर पुनः संघ में जाँय। अथवा संघ में भी योग्यता-द्रव्य क्षेत्र की अनुकूलता हो तो निर्वाह कर सकती हैं।

ये ग्यारहवीं प्रतिमाधारी शुद्धिनिमित्त तत्सम दूसरा वस्त्र लंगोटी आदि तथा धोती आदि भी रहने पर एक समय शरीर पर एक का ही उपयोग करें। आर्यिका केश लोच ही करे। इस तरह स्त्रीपर्यायगत योग्यता के अनुसार थोड़ा सा परिवर्तन होता है। ऐसा श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी का उपदेश है।

प्रतिमाधारी इच्छाकार या इच्छामि इस शब्द द्वारा परस्पर व्यवहार करें। इस शब्द का अर्थ है कि हमें मुनिपद की वांछा है, हम उसे चाहते हैं। साधारण श्रावक जुहारु आदि शब्दों द्वारा पारस्परिक व्यवहार करते हैं, ये इस प्रकार नहीं करते। इनका व्यवहार 'इच्छामि' शब्द द्वारा होता है। आर्यिका को 'वन्दामि' कह कर उनका सम्मान करना चाहिये। स्त्रियों के लिये यह पद सर्वोत्कृष्ट है। अतः उनका समुचित आदर करना चाहिये। स्त्रियों को ही उनकी सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन समाप्त हुआ तथा श्रावक धर्म की मर्यादा भी समाप्त हुई। इसके बाद पुरुष लंगोटी मात्र परिग्रह का भी त्याग कर मुनिपद को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धारण करता है। मुनिधर्म का वर्णन ग्रन्थ के पूर्व भाग मुनिधर्मप्रदीप में आचार्य श्री कुन्थुसागर जी ने किया है।२१२।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्या में पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारप्रशस्तिः

(अनुष्टुप्)

आचार्यशान्तिसिन्धोर्मे दीक्षागुरोर्दयानिधेः।
सूरेः सुधर्मसिन्धोर्हि विद्यागुरोः प्रसादतः ।।१।।
त्रिविधाः श्राद्धधर्माश्च यथावल्लिखिता मया ।।
तुष्टेन विश्वशान्त्यर्थं कुन्थुसागरसूरिणा ।।२।।युग्मम्।

इस काल में विद्यमान दया के सागर और मेरे दीक्षागुरु श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी तथा विद्यागुरु श्री १०८ आचार्य सुधर्मसागर जी के प्रसाद से विश्व में सुखशान्ति की वृद्धि हो ऐसे उद्देश्य को सामने रखकर श्रावक के तीनों प्रकार के भेदों को प्रतिपादित करने वाला यह 'श्रावकधर्मप्रदीप' ग्रन्थ मुझ कुन्थुसागरसूरि ने पूर्वाचार्य की परम्परा से आगत उपदेश के अनुसार लिखा है।१/२।

इस श्रावकाचार का प्रयोजन–

(अनुष्टुप्)

पूर्वाचार्यप्रणीताश्च श्राद्धाचारप्रदर्शकाः।
सन्त्यत्र बहवो ग्रन्था ग्रन्थस्यास्य प्रयोजनम् ।।३।।
किं वर्तते गुरो ब्रूहि ज्ञातुमिच्छामि चार्थतः।
प्रयोजनं विना ग्रन्थो नोपादेयो यतो भवेत् ।।४।।युग्मम्।।

सर्वज्ञोपदेश के अनुसार पूर्वाचार्यों द्वारा रचित श्रावक के आचार का वर्णन करनेवाले बहुत से ग्रन्थ विद्यमान हैं, ऐसी अवस्था में इस नवीन ग्रन्थ की रचना का क्या प्रयोजन है? हे गुरुदेव! मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि प्रयोजन के बिना ग्रन्थ उपादेय नहीं हो सकता, अतः इसका यथार्थ कारण बताइये, ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर ग्रन्थकार निम्न पद्यों में देते हैं।

(अनुष्टुप्)

जैनाहिंसातिरेकाद्धि हानिः स्याद् भारतस्य को ।।
ब्रुवन्त्यज्ञानतः केचिदिति तद्बोधहेतवे ।।५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनाहिंसातिरेकान्न तदबोधाद्धि किन्तु वै ।।
बभूवुश्चक्रवर्त्याद्याः तत्पालकाः स्वसिद्धये ।।६।।
ग्रन्थोऽयं लिखितो भव्यः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।।
नेच्छा मे ख्यातिलाभस्य न तु नामप्रसिद्धये ।।७।।
शुद्धचिद्रूपमूर्त्तेर्मे किन्नामादिप्रयोजनम् ।।
श्रीमतः स्वात्मतुष्टस्य कुन्थुसागरसूरिणः ।।८।।कलापकम्।।

इस ग्रन्थ के लिखने का यह प्रयोजन है कि वर्तमान युग में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जैनधर्म की अहिंसा ने भारतवर्ष की बहुत बड़ी हानि की है। अहिंसा के उपदेश से लोग कायर हो गए। आततायी से युद्ध करने में उन्हें हिंसा का पाप दृष्टिगोचर होता था, इस लिए विदेशी सत्ता के पैर भारत में जम गए। वास्तविक स्थिति तथा ऐतिहासिक स्थिति को न जानकर कुछ व्यक्तियोंके द्वारा किए गये इस मिथ्या आक्षेप का खण्डन करने के हेतु तथा सम्यग् बोध प्राप्त कराने के लिए इस ग्रन्थ की रचना आवश्यक प्रतीत हुई।

इस ग्रन्थ में यह बात ग्रन्थकार बता चुके हैं कि जैनों की हिंसा के अतिरेक से नहीं, किन्तु जैनी अहिंसा को न समझ सकने के कारण भारत का पतन हुआ है। ग्रन्थ में बताए गए हिंसा के स्वरूप और उसके भेदों पर विचार करके चलनेवाला गृहस्थ श्रावक उस हिंसा से बचता है। साथ ही अहिंसक धर्मात्माओं के ऊपर आनेवाले विघ्न को दूर करने के लिए उनकी रक्षा करता है। इस रक्षा के उद्देश्य को अविस्मरण करके जो संघर्ष उसे करना पड़ता है उस विरोधी हिंसा का कार्य उसकी हिंसा के त्याग की परिधि में नहीं आता। वह मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के प्रचार हेतु ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी है।

अनेक चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण अथवा साधारण राजा आदि पुरुष जैनधर्म के प्रतिपालक होते हुए भी कभी नैतिक युद्ध से विमुख नहीं हुए। इनकी कथा जैन पुराणों में अनेक स्थलों पर पाई जाती है। अतः उक्त निराधार आक्षेप को मिटाने का अभिप्राय इस ग्रन्थ के लिखने का है। लौकिक प्रशंसा आदि तथा कीर्ति आदि अभिलाषा से इस ग्रन्थ की रचना नहीं की गई।

मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ। शरीरादि पुद्गल द्रव्य हैं। नाम आदि शरीर के हैं, आत्मा के नहीं, तब नामादि का क्या प्रयोजन है? अपनी आत्मा के स्वरूप में ही मानी और अत्यन्त संतोषी मुझ कुन्थुसागर सूरि को नाम और तदाश्रय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कीर्ति से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। ग्रन्थ लेखन का उद्देश्य केवल लौकिक अपवाद जो धर्म पर निरर्थक आया है उसे दूर करना मात्र है।५।६।७।८।

लघुताप्रकाश–

(अनुष्टुप्)

प्रमादान्मे क्वचित्स्याद्वा ग्रन्थेऽस्मिन् स्खलनं यदि ।
शोधयन्तु मुदा सन्तो वस्तुतत्त्वविचारकाः ।।९।।

ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरे प्रमाद से इस ग्रन्थ के लेखन में यदि कहीं त्रुटी रह गई हो तो वस्तुतत्त्व का विचार करनेवाले सज्जन इसका शोधन कर लें।९।

(अनुष्टुप्)

शान्तिसिन्धुस्सुधर्मौ मामवतु ह्यवतु स्वयम् ।
कुरु-कुरु स्वतुल्यान् नो वृषभादिजिनेश्वराः।।१०।।

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी तथा सुधर्मसागर जी मेरी रक्षा करें तथा ऋषभादि जिनेश्वर, आप हम सबको अपने समान बना लें।१०।

।। समाप्तोऽयं ग्रन्थः।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान

के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/अनुवादक
१. मेरी जीवन गाथा, भाग-१	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
२. मेरी जीवन गाथा, भाग-२	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
३. वर्णी वाणी, भाग-२	डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी
४. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-१	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
५. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-२	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
६. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका)	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
७. जैन दर्शन (संशोधित संस्करण)	पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
८. तत्त्वार्थसूत्र (संशोधित संस्करण)	पं० फूलचन्द्र शास्त्री (पु०सं०)
" " " "	" " " वि०सं०
९. मंदिरवेदी प्रतिष्ठा एवं कलशारोहण विधि	डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
१०. अनेकान्त और स्याद्वाद	प्रो० उदयचन्द्र जैन
११. कल्पवृक्ष : एकांकी	श्रीमती रूपवती किरण
१२. आप्तमीमांसातत्त्वदीपिका	प्रो० उदयचन्द्र जैन
१३. तत्त्वार्थसार	डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
१४. वर्णी अध्यात्म-पत्रावली, भाग-१	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
१५. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत	डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
१६. सत्य की ओर प्रथम कदम	श्री दयासागर
१७. समयसार (प्रवचनसहित)	श्री गणेशप्रसाद वर्णी
१८. श्रावक धर्म-प्रदीप	पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री
१९. पंचाध्यायी (संशोधित संस्करण)	पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री
२०. लघुतत्त्वस्फोट	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
२१. भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त	प्रो० राजाराम जैन
२२. आत्मानुशासन	पं० फूलचन्द्र शास्त्री
२३. योगसार (भाषावचनिका)	डॉ० कमलेश कुमार जैन
२४. जैनन्याय, भाग-२	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री (प्र०सं०)
" " " "	" " " " वि०सं०
२५. स्वयम्भूस्तोत्र - तत्त्वदीपिका	प्रो० उदयचन्द्र जैन
२६. देवीदास विलास	श्रीमती डॉ० विद्यावती जैन
२७. अध्यात्म पद-पारिजात	डॉ० कन्छेदीलाल जैन
२८. सर्वज्ञ (संस्थान की [illegible])	
२९. धवल-जयधवल सार [illegible]	[illegible]लाल शास्त्री
३०. जैनधर्म दर्शन के सि[illegible]	लक्ष्मीचन्द्र जैन
३१. सिद्धान्ताचार्य पं० [illegible]	[illegible]थ
३२. सिद्धान्ताचार्य पं० [illegible]	[illegible]ग्रन्थ
३३. अकिंचित्कर : एक अनुशीलन	[illegible]चन्द्र शास्त्री
३४. प्राच्य भारतीय ज्ञान के महाभेरु आचार्य कुन्दकुन्द	प्रो० राजाराम जैन

Serving JinShasan
134621
gyanmandir@kobatirth.org

सभी प्रकार के पत्र व्यवहार करने एवं ड्राफ्ट भेजने का पता :-

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी - २२१००

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org